

आर्यसंस्कृति

बलदेव उपाध्याय

सच्चिद् ग्रन्थमाला—दशम पुष्प

आर्य संस्कृति

लेखक—

आचार्य बलदेव उपाध्याय

प्रकाशक

शारदा मन्दिर

बनारस

द्वितीय संस्करण १९५३
मूल्य ५)

मुद्रक—
श्रीनाथदास अग्रवाल
टाइम टेबुल प्रेस, बनारस।

सांस्कृतिक प्रार्थना

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्, दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान् आशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्, निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां, योगक्षेमो नः कल्पताम्।—शुक्ल यजुर्वेद २२।२२

हे भगवन्, हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्राह्मतेज से सम्पन्न हो—वेद के अध्ययनशील हो तथा यज्ञ के उपासक हो। क्षत्रिय शूर, बाण चलाने में कुशल, शत्रुओं का संहार करनेवाला तथा महारथी उत्पन्न हो। धेनु दूध देनेवाली हो। बैल बोझ ढोनेवाला हो; घोड़ा शीघ्रगामी हो। नारी सुन्दर गात्रवाली तथा रमणीय गुणवाली हो। रथ पर बैठकर समराङ्गण में उतरनेवाला योद्धा विजयी बने। युवक सभा में बैठने की योग्यतावाला हो—शिष्ट तथा सुशिक्षित, गुणी तथा विनयी हो। हमारे राष्ट्र में आवश्यकता के अनुसार मेघ वृष्टि दे। हमारी गेहूँ, धान, जव आदि औषधियाँ फलयुक्त हों और स्वयमेव पक्व हों। हमारा योगक्षेम सदा सम्पन्न हो—अलब्ध वस्तु का लाभ हो और लब्ध वस्तु का ठीक पालन हो।

वक्तव्य

आज अपनी उनचासवीं वर्षगाँठ के अवसर पर आर्यसंस्कृति के महत्त्व के द्योतक इस ग्रन्थ को भारतीय सभ्यता के जिज्ञासु पाठकों के साम ने प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से मेरी बहुत दिनों की लालसा आज सफल हो रही है।

जिसे हम आर्यसंस्कृति के नाम से पुकारते हैं उसकी सिद्धि के अनेक साधन हैं। वह एक गम्भीर विशिष्ट वस्तु है जिसके रहस्य का परिचय विश्लेषण से ही यथार्थतः मिल सकता है। इस ग्रन्थ में उन महत्त्वपूर्ण रचनाओं का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है जिनकी आधारशिला पर हमारी संस्कृति का यह प्रासाद खड़ा है। भारतवर्ष तीन सम्प्रदायों का लीलानिकेतन रहा है। ये सम्प्रदाय हैं—वैदिक, बौद्ध तथा जैन। जैन तथा बौद्ध धर्म और दर्शन का विकाश उपनिषदों से वस्तुतः होने पर भी उन सम्प्रदायों में वेद की प्रामाणिकता मान्य नहीं है। तथापि इन दोनों मतावलम्बियों की संस्कृति वैदिक धर्मानुयायियों की संस्कृति से भिन्न नहीं है। इसीलिए हमने समस्त भारतवर्ष में व्यापक होने से

इस संस्कृति का नाम 'आर्यसंस्कृति' रखा है। ग्रन्थ के आदिम तथा अन्तिम परिच्छेद में इस संस्कृति के स्वरूप, व्यक्तित्व, वैशिष्ट्य तथा माहात्म्य का वर्णन संक्षेप में किया गया है। आठ परिच्छेदों में वैदिकधर्म के मान्य ग्रन्थों—वेद और वेदाङ्ग, इतिहास और पुराण, दर्शन, धर्मशास्त्र तथा तन्त्रशास्त्र—का संक्षिप्त परन्तु प्रामाणिक और विश्वासार्ह विवरण हमने प्रस्तुत किया है। विषय के गौरव की दृष्टि से ऐसा करना ही उचित था। बौद्धधर्म के तीनों यानों—हीनयान, महायान और वज्रयान—का परिचय एक साथ देकर उनके परस्पर सम्बन्ध का दिग्दर्शन एक स्वतन्त्र परिच्छेद में किया गया है। इसी प्रकार जैनधर्म के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर आगमों का एक साथ विस्तृत विवेचन एक पृथक् परिच्छेद का विषय है। जहाँ तक मेरी जानकारी है हमारी राष्ट्रभाषा में यह ग्रन्थ अपने विषय का एकमात्र प्रतिपादक है।

इस ग्रन्थ की रचना में सहायता देनेवाले अपने सहायकों तथा मित्रों का मैं विशेष उपकार मानता हूँ। कटनी के जैनधर्मो-न्नायक सिंगई बाबू धन्यकुमार जैन को मैं अनेक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अनेक उपयोगी ग्रन्थों का दान देकर मेरे जैनधर्म-विषयक अनुशीलन तथा अभ्यास को विशेष प्रगति दी है। विविध प्रकार की सहायता के लिये मैं अपने अनुज कृष्णदेव उपाध्याय एम. ए. साहित्यशास्त्री तथा अपने चिरञ्जीवी पुत्र गौरीशङ्कर उपाध्याय

एम. ए., बी. टी. को अनेक आशीर्वाद देता हूँ। कागज की कमी के कारण ही ग्रन्थ के अन्त में आवश्यक होने पर भी अनुक्रमणिका नहीं दी गई है। पाठकों से इसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

अन्त में बाबा विश्वनाथ से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि उनकी अनुकम्पा तथा आशीर्वाद से यह ग्रन्थ अपने उद्देश्य की सिद्धि में सर्वथा सफल बने और आर्यसंस्कृति का सन्देश घर-घर नाता रहे। तथास्तु।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
आश्विन शुक्ल द्वितीया, सं० २००४ वि० } बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

आर्य-संस्कृति के मूलाधार

प्रथम परिच्छेद

संस्कृति का स्वरूप

भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र धर्म है। इस शब्द का अर्थ बहुत ही व्यापक है। हमारे जीवन की कौन ऐसी दिशा है ? जिसके ऊपर धर्म का प्रभाव साक्षात् या परम्परा रूप से नहीं पड़ा है। पशुओं से मानव को पृथक् करने वाला धर्म ही है। नहीं तो आहार, निद्रा, भय और मैथुन तो जिस रूप तथा मात्रा में पशुओं में पाये जाते हैं मनुष्यों में भी वे उसी तरह व्यापक रूप से पाये जाते हैं। मनुष्यों की विशिष्टता दिखलाने वाली यदि कोई वस्तु है तो वह धर्म ही है। हमारा धर्म शब्द नितान्त व्यापक, महनीय तथा सारगर्भित है। अँग्रेजी भाषा का 'रिलिजन' शब्द इसका वाचक कथमपि नहीं हो सकता। 'रिलिजन' शब्द तो केवल बाह्य आचारों के लिये प्रयुक्त होता है जो किसी देश के मानवों को एकता के सूत्र में बाँधने में समर्थ होते हैं। परन्तु धर्म शब्द बाह्याचार का ही केवल बोधक नहीं हैं, प्रत्युत अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का द्योतक है। पश्चिमी भाषा में जिसे कल्चर, सिविलाइजेशन कहते हैं उन सबका समावेश हमारे इस छोटे परन्तु महत्त्वपूर्ण शब्द के अन्तर्गत होता है। भारतीयों का तो धर्म ही प्राण है। हम धर्म ही के सहारे अपना जीवनयापन करते हैं। हममें जो कुछ बल है, जो कुछ आध्या-

त्मिकता है वह सब धर्म के ही मूलाधार पर अवस्थित है। धर्मरूपी कल्पवृक्ष की छाया के नीचे ही हम भारतीय अपना भौतिक सुख तथा आधिभौतिक कल्याण का सम्पादन कर सुख से जीवन-यापन करते हैं। इसीलिये पुरुषार्थत्रय—धर्म, अर्थ, काम,—के भीतर धर्म ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिये महाकवि कालिदास ने धर्म को त्रिवर्ग का सार बतलाया है[1]। महर्षि वेदव्यास ने भी महाभारत में धर्म को ही अर्थ और काम का मूल बतलाते हुए लिखा है कि "बाहों को ऊँचा उठाकर मैं ज़ोर से चिल्लाकर कह रहा हूँ परन्तु कोई मेरी बात नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ की प्राप्ति होती है, धर्म से ही काम की प्राप्ति होती है, अतएव ऐसे धर्म का पालन क्यों नहीं करते?"

"उर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते॥"

इससे स्पष्ट है कि भारतीय जीवन का मूल तत्त्व धर्म ही है।

धर्म की परिभाषा

धर्म शब्द देखने में जितना ही छोटा तथा सरल है उसकी परिभाषा उतनी ही कठिन तथा गम्भीर है। अनेक आचार्यों ने इसकी परिभाषा अनेक प्रकार से की है। धर्म शब्द 'धृ' धातु से निकला है जिसका अर्थ है धारण करना। प्रजा को, जनता को, एक सूत्र में धारण करने के कारण ही धर्म की धर्मता है—

"धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः"

---

१. अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे, त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि।
त्वया मनो निर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते॥
—कुमारसंभव ५।३८

महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र में जो धर्म का लक्षण दिया है वह उसके स्वरूप का संक्षेप में सच्चा परिचायक है। वह लक्षण यह है:— "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"। अर्थात् धर्म वह पदार्थ है जिससे भौतिक अभ्युदय तथा पारलौकिक मोक्ष प्राप्त होता है। भारतवर्ष में इहलोक तथा परलोक दोनों का संबंध बड़ा ही गहरा है। जो वस्तु परलोक की उपेक्षा कर इहलोक के कल्याण-साधन में समर्थ रहती है, वह हमारे आदर का भाजन नहीं बन सकती। इसी प्रकार जो शिक्षा इहलोक की उपेक्षा कर केवल परलोक की ही ओर अंगुली निर्देश किया करती है, वह भी हमारे सम्मान की पात्री नहीं बन सकती। हमें चाहिये इहलोक और परलोक का सामञ्जस्य, भौतिक तथा आध्यात्मिक मंगल का सामारस्य। और इसका प्रधान साधन है यही हमारा धर्म। धर्म के अनुष्ठान करने से मानव जीवन को सुखमय बनाने वाले जितने पदार्थ हैं उनकी उपलब्धि तो होती ही है; साथ ही साथ परम कल्याणरूप मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। मोक्ष क्या है? त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति। आधिदैविक, आधिभौतिक, तथा आध्यात्मिक—ये तीन प्रकार के दुःख प्राणियों को सदा अपने चंगुल में फँसाये रहते हैं। इनसे उद्धार पाने के लिये मनुष्य पाशबद्ध हरिण की तरह सदा छटपटाया करता है। उसके लिये सब भौतिक उपाय नश्वर हैं। धर्म ही उसका एकमात्र उपाय है। अतः धर्म का पालन ही मनुष्यों को उस सन्मार्ग पर ले चलता है जिस पर चलने से उनका लोक और परलोक दोनों बन जाता है।

हमारा धर्म ही संसार के सब धर्मों से श्रेष्ठ तथा उन्नत है, क्योंकि संसार के अन्य धर्म मनुष्य-निर्मित हैं अर्थात् उन धर्मों का प्रवर्तक कोई न कोई मनुष्य है। परन्तु वैदिक धर्म की विशेषता यह है कि यह किसी विशिष्ट काल में किसी विशिष्ट व्यक्ति के द्वारा प्रवर्तित नहीं किया

गया। बल्कि यह सनातन है जो अनादि काल से चला आता है और संसार के सभी मनुष्यों के लिये उपयोगी तथा लाभकारी है। इसीलिये इसका नाम है सनातन धर्म। अपौरुषेय वेद के द्वारा नियन्त्रित होने के कारण यह वैदिक धर्म कहलाता है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुयायी लोग हिन्दूधर्म को वैदिक तथा पौराणिक धर्म–इन दो विभागों–में बाँटते हैं तथा वैदिक धर्म को ब्राह्मण धर्म के नाम से अभिहित करते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। वेद में जो धार्मिक उपदेश दिये गये हैं उन्हीं का प्रतिपादन सरल भाषा में पुराणों में किया गया है। पुराणों के भी सिद्धान्त वे ही हैं जो वेदों के हैं। अतः हिन्दू धर्म का यह द्विविध रूप बतलाना पाठकों को दुबिधा में डालने वाला है। हमारा सनातनधर्म विश्वजनीन, सार्वभौम एवं सार्वकालिक हैं। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि जगत् के समस्त माननीय धर्मों का यह मूल भी है। इसी धर्म की उपासना ने इस भारतभूमि को कर्मभूमि बनाया है जिसमें जन्म लेने के लिये देवता लोग भी लालायित रहते हैं। निम्नांकित श्लोक के अनुसार देवता भी भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाले लोगों से इर्ष्या करते हैं—

वैदिक धर्म की विशेषता

अहो अमीषां किमकारि शोभनं,
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं भुवि भारताजिरे,
मुकुन्दसेवोपयिकं स्पृहा हि नः॥

वैदिक धर्म के सिद्धान्त

(१) *वर्ण*—वैदिक धर्म का विशाल प्रासाद वर्णाश्रमधर्म की दृढ़ नीवँ पर स्थित है। सच तो यह है कि वर्ण और आश्रम धर्म न रहे तो हिन्दू

धर्म की सत्ता ही नष्ट हो जाय। हिन्दूधर्म समस्त मानवों को चार श्रेणियों में विभक्त करता है। पहिली श्रेणी उन लोगों की है जो बुद्धि-जीवी हैं अर्थात् जो अपनी विद्या, ज्ञान, तथा विचार-शक्ति के द्वारा जनता या समाज का नेतृत्व करते हुए उनको सन्मार्ग पर चलने का आदेश देते हैं। ऐसे वर्ण को 'ब्राह्मण' कहते हैं। दूसरे वर्ण का नाम क्षत्रिय है जो अपनी भुजा-शक्ति के कारण द्वारा, अपने प्रबल पराक्रम के द्वारा समाज में व्यवस्था रखते हैं तथा उसको शासन के द्वारा उच्छृङ्खल होने से रोकते हैं। महाकवि कालिदास ने इस शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है कि जो नाश से रक्षा करता है उसको क्षत्रिय कहते हैं:—

क्षत्रात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः

क्षत्रिय राजा का कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना है उसको लूटना खसोटना नहीं। तीसरा वर्ण वैश्य हैं जिसका मुख्य कर्तव्य कृषि करना, गोपालन तथा वाणिज्य करना है। ये लोग व्यापार के द्वारा, कृषिकर्म के द्वारा समाज को सुखी और देश को धनधान्य से समृद्ध रखते हैं। वर्णव्यवस्था में इनको बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है क्योंकि इनके अभाव में समाज सुखी नहीं रह सकता। चौथा तथा अन्तिम वर्ण शूद्र के नाम से अभिहित है जो आजकल घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। प्राचीन काल में शूद्र का उतना ही महत्त्व समझा जाता था जितना अन्य किसी वर्ण का। मनु ने इनका कर्तव्य उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना लिखा है। वास्तव में यदि शूद्र वर्ण न हो तो अन्य तीनों वर्णों का जीवनयापन दूभर हो जाय। वेद में शूद्र की पैर से उपमा दी गई है। जिस प्रकार पैर के न रहने से शरीर बेकाम हो जाता है उसी प्रकार शूद्र वर्ण के अभाव में तीनों वर्णों की स्थिति कठिन है। इस प्रकार

हमारे प्राचीन ऋषियों ने समाज के कल्याण के लिये इस वर्णव्यवस्था का विधान किया है।

आजकल के आधुनिक-शिक्षा-दीक्षित लोग इस वर्णव्यवस्था की खिल्ली उड़ाते हैं और इसे भरपेट कोसने में कभी नहीं अघाते। ऐसे सज्जनों को यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि वर्णव्यवस्था का यह विधान हमारे ऋषियों के मस्तिष्क की ही उपज नहीं है बल्कि सुप्रसिद्ध ग्रीक तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने इस व्यवस्था को दूसरे रूप में स्वीकार किया हैं। उसने अपनी विख्यात पुस्तक 'रिपब्लिक' में यह स्पष्ट रूप से दिखलाया है कि समाज के कल्याण के लिये मानवों का चार भाग अत्यन्त आवश्यक है। पहिला विभाग ऐसे मनुष्यों का होना चाहिए जो विचारशील हों अर्थात् जो अपने बुद्धि-बल से समाज का नेतृत्व कर सकें। दूसरी श्रेणी ऐसे लोगों की होनी चाहिये जो शक्ति के द्वारा समाज का नियमन या नियन्त्रण कर सकें। तीसरी श्रेणी के वे लोग हों जो धनधान्य से समाज को सुखी बना सकें तथा चौथा दल ऐसे लोगों का हो जो अपने शरीर से इन श्रेणी के लोगों की सेवा कर सकें।

इस प्रकार से यदि हम विचार कर देखें तो यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि प्लेटो का श्रेणीविभाग हमारी वर्णव्यवस्था से बिल्कुल मिलता जुलता है। सच पूछा जाय तो दोनों एकही हैं परन्तु इनमें केवल नामका भेद है। तथ्य बात यह है कि हमारे यहाँ की वर्ण व्यवस्था मनोवैज्ञानिक भित्ति पर स्थित है। मनुष्य समाज में सदा से उपर्युक्त चार प्रकार की श्रेणियाँ होती आई हैं और सदा होती रहेंगी; भला कौन विचारशील पुरुष इस बात को अस्वीकार कर सकता है कि समाजवादी रूस में यह श्रेणीविभाजन नहीं है? अन्तर केवल इतना ही है कि हमारे यहाँ इसको जाति कास्ट (Caste) के नाम से पुकारते हैं

और वे लोग इसे क्लास (Class) कहते है। परन्तु दोनों की स्थिति एकही आधार पर है और दोनों का विभाजन एकही मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को लेकर हुआ है।

आजकल यूरोपीय देशों में जो महान् संघर्ष दिखाई पड़ता है उसका प्रधान कारण इस वर्णव्यवस्था का उचित रूपसे न पालन करना ही है। परन्तु हमारी वर्णव्यवस्था की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि इस व्यवस्था के विधान से इस देशमें कभी भी संघर्ष नहीं उत्पन्न हुआ। जो जिस कार्य के लिये नियुक्त था वह अपना काम बड़ी प्रसन्नता से करता था और वह दूसरे के पेशे को छीनने का कभी प्रयत्न नहीं करता था। इसी लिये इस देश में जनसंघर्ष होने का कभी अवसर ही नहीं उपस्थित हुआ। भगवान् का स्पष्ट उपदेश हैः—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"
"स्वस्वकर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः" ॥

अर्थात् अपने ही काम में लगे रहने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार हमारी वर्णव्यवस्था नितान्त मनोवैज्ञानिक और उपादेय है जिसके पालन करने से समस्त मानवका कल्याण आज भी हो सकता है।

(२) *आश्रमः*—हमारे प्राचीन महर्षियों ने मानव-जीवन को चार भागों में निभक्त किया है जो क्रम से ये हैंः—

(१) ब्रह्मचर्याश्रम (२) गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थाश्रम (४) संन्यासाश्रम। महर्षियों ने मनुष्यों का साधारणतया सौ वर्ष का जीवन बतलाया है जैसा कि 'शतायुर्वै पुरुषः' से पता चलता है। प्रत्येक आर्य प्रातः काल उठकर सौ वर्ष जीने की प्रतिदिन प्रार्थना करता है

और अपनी दैनिक सन्ध्या में 'जीवेम शरदः शतम्' की कामना करता है। इस सौ वर्ष की आयु को महर्षियों ने चार भागों में विभक्त किया है। प्रथम पचीस वर्ष का काल ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता है। इस कालमें विद्यार्थी ब्रह्मचर्यव्रतका पूर्णतया पालन करते हुए विद्या का अभ्यास करना है। मनु ने अपनी 'स्मृति' में ब्रह्मचारी के आचार तथा व्यवहार का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। इस काल में ब्रह्मचारी केवल पुस्तकी विद्या को ही नहीं पढ़ता था, बल्कि वह आगामी जीवन के लिये सब प्रकार से अपने को तैयार करता था। इस प्रकार यह काल बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। दूसरा आश्रम गृहस्थाश्रम है। जब विद्यार्थी अपनी विद्या को गुरुकुल में समाप्त कर घर लौटता था तब अपना विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। उस समय विवाह आजकल की भाँति इन्द्रियों की तृप्ति के लिये नहीं किया जाता था बल्कि उसका एकमात्र ध्येय सन्तान की उत्पत्ति ही होता था। कालिदास ने रघुवंशी राजाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे प्रजा की उत्पत्ति के लिये गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे—प्रजायै गृहमेधिनाम्—सच पूछा जाय तो चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनु ने लिखा है कि चारों आश्रमों की स्थिति इसी गृहस्थाश्रम के ऊपर अवलम्बित है। अगर गृहस्थ न रहें तो वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम की सत्ता ही नष्ट हो जाय, ब्रह्मचारी विद्यार्थियों के लिये भी भोजन की समस्या कठिन हो जाय। अतः गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमों का उपजीव्य है। इसके तृतीय आश्रम—वानप्रस्थाश्रम—में मनुष्यको उचित है कि वह घर-बार का समस्त कार्यभार अपने युवा पुत्रों को सौंप कर किसी निर्जन प्रदेश या जंगल में अपनी स्त्री के साथ निकल जाय और वहाँ व्रत, उपवास, अर्चा पूजा तथा तपस्या के द्वारा समय को बितावे। अपनी धर्मपत्नी के साथ भिन्न भिन्न स्थानों

की यात्रा करनी चाहिए। इसके बाद संन्यास ले लेना चाहिये। इस चौथी अवस्था में मनुष्य का यह कर्तव्य होता है कि वह अपने पूर्व तीन अवस्था में संचित विद्या और अनुभव के द्वारा समस्त समाज का उपकार करे। उसे स्वयं अपने लिये कुछ करना शेष नहीं रह जाता। वह समस्त काम्य कर्मों को छोड़कर परोपकार में तल्लीन हो जाता है। श्रीकृष्ण ने संन्यास की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है कि—काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। मनु ने संन्यासधर्म का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। उनका कहना है कि संन्यासी को अपरिग्रही होना चाहिए, काम्य कर्मों को छोड़ देना चाहिए तथा परोपकार में ही अपना समय लगाना चाहिए। प्राचीन काल में भगवान् शंकर ऐसे ही आदर्श संन्यासी थे। इस प्रकार मनुष्य जीवनको चार भागोंमें बाँटकर हमारे महर्षियों ने इस जीवन को सुखी तथा पूर्ण बनाने का महनीय प्रयत्न किया है।

(२) *कर्मवाद*—जगत् में जो सर्वत्र विषमता दीख पड़ती है इस की दार्शनिक समीक्षा के अवसर पर हमारे ऋषियों ने कर्म के सिद्धान्त को इसका एकमात्र कारण स्वीकार किया है। आत्मा अज, नित्य, पुरातन तथा सत्य वस्तु है। इसके लिये न तो जन्म है, न मृत्यु और न उत्पत्ति, न विनाश। फिरभी बार-बार देह से उसका संयोग और वियोग होता है। जीव के अनेक जन्म हो चुके हैं और आगे भी अनेक जन्म होगें। पूर्व में उसने जिस प्रकार के कर्म किये हैं उसी के फल से इसके इस जन्म की प्रकृति और भोग नियमित हुआ है। इस विषय में न तो ईश्वरका रत्तीभर पक्षपात है और न इसमें करुणा की कमी है। भगवान् ने कर्म के अनुसार फल की व्यवस्था कर रखी है। सुकृत कर्मों के फल से वह सुखी है और बुरे कर्मों के फल से वह दुःखी होता है। महर्षि बाद-रायण ने "वैषम्य नैघृ ण्ये सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति" (ब्र० सू०

२ । १ । ३४) सूत्र में तथा शंकराचार्य ने इसके भाष्य में स्पष्ट दिखलाया है कि भगवान् स्वयं करुणाशील, दयालु तथा पक्षपात-रहित हैं। जगत् में जो विषम सृष्टि दिखाई पड़ती है उसकी रचना में वे जीव के संचितकर्म की अपेक्षा रखते हैं। जीवगत कर्म का तारतम्य ही सृष्टि के वैषम्य का वास्तविक कारण है। ईश्वर तो निमित्तमात्र है। हमारे कर्मवाद की अटूट तथा अमिट नियामकता के संबंधमें स्पष्ट कहना है कि कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, वह कर्म चाहे पुण्य हो चाहे पाप हो। बिना भोगे उससे पिण्ड नहीं छूटता।

अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्।
शुभाशुभञ्च यत्कर्म, विना भोगान्न तत्क्षयः॥
(ब्रह्मवैवर्त, कृष्णजन्म खण्ड श्लो० ८४)

इसीलिये व्यास जी ने महाभारत में कहा है कि जिस पुकार हजारों गौओं के बीच बछड़ा अपनी माँ को ढूढ़ लेता है उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्ता का अनुसरण करता है।

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म, कर्तारमनुगच्छति॥
(शान्तिपर्व १८१ । १६)

यह कर्मवाद का सिद्धान्त वेदों में परिनिष्ठित रूप से दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदों का कथन इस विषय में नितान्त स्पष्ट है—पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनैवेति (बृहदारण्यक ३।२।१३) पुण्य कर्म के सम्पादन से मनुष्य पुण्यभागी होता है और पापकर्म करने से पाप भागी। भारत में जितने धर्म उत्पन्न हुए उन सभी ने इस कर्म के गम्भीरतत्त्व को अपनाया। जगत् में प्रतिक्षण अनुभूयमान विषमता की मीमांसा के लिए

कर्मवाद से अधिक वैज्ञानिक तथा युक्ति-युक्त दूसरा सिद्धान्त नहीं हो सकता। इस तथ्य के प्रतिपादन का समस्त श्रेय हमारे वैदिक ऋषियों को है।

(४) *जन्मान्तरवाद*—हिन्दू शास्त्रों का दृढ़ विश्वास है कि वर्त्तमान जीवन ही हमारा प्रथम और अन्तिम जीवन नहीं है। जीवन-मरण की अनादि और अनन्त श्रृङ्खला में वर्तमान जीवन एक साधारण कड़ी है। हमारे शास्त्रों का वचन है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेता है और वर्तमान जीवन का अन्त हो जाने पर वह पुनर्जन्म ग्रहण करता है। गीता में श्रीकृष्ण ने इस सिद्धान्त को समझाते हुए स्पष्ट ही लिखा है कि जो मनुष्य पैदा हुआ है उसकी मृत्यु निश्चय है और जो मर चुका है उसका जन्म लेना भी आवश्यक है तथा ध्रुव सत्य है:—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

इस विषय में जन्मान्तरवाद को सिद्ध करने के लिए शास्त्रीय प्रमाण के साथ युक्ति प्रमाण तथा प्रत्यक्ष प्रमाण का अत्यधिक सामञ्जस्य है। यह सिद्धान्त कर्मवाद के सिद्धान्त का पोषक तथा सहायक है।

गीता स्पष्ट शब्दों में कहती है कि पुण्यात्मा लोग पुण्य के फल से स्वर्गलोक में जन्म लेकर देवताओं के समान भोग भोगते हैं। और विशाल स्वर्गलोक का भोग करके पुण्यक्षीण होने पर वे मृत्युलोक में आ जाते हैं। इस प्रकार वासना रखनेवाले व्यक्तियों का आवागमन होता रहता है। ऐसे लोग आज भी देखे जाते हैं जो अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को पूर्ण रूप से स्मरण रखते हैं। इन्हें *जाति-स्मर* कहते हैं। ऐसे स्पष्ट प्रमाणों के रहते हुए जन्मान्तरवाद में कौन व्यक्ति विश्वास नहीं करता?

(५) *अवतारवाद*—हिन्दू धर्म का यह मान्य सिद्धान्त है कि

धर्म की रक्षा करने के लिए तथा अधर्म के विनाश के लिए, भक्तों के त्राण तथा दुष्टों के दलन के लिए वह सच्चिदानन्द परम दयालु भगवान् इस भूतल पर अवतार लिया करते हैं। अवतार का अर्थ है अवतरण अर्थात् ऊपर से नीचे को उतरना। भगवान् सर्वशक्ति सम्पन्न हैं। वे सर्वव्यापक हैं। यह जगत् उनका एक पाद है। इसके ऊपर उनका त्रिपाद विराजता है। जब जगत् वैषम्य से विचलित हो उठता है, जब प्रजाओं को एक सूत्र में धारण करने वाला धर्म क्षुब्ध हो उठता है, तब संसार में सामञ्जस्य उत्पन्न करने के लिये भगवान् इस भूतल पर साकार रूप में अवतीर्ण होते हैं। वे साकार भी हैं और निराकार भी हैं। साकार रूप में उत्पन्न होने से न तो उनकी किसी शक्ति का क्षय होता है और न उनके पूर्णत्व में किसी प्रकार का ह्रास होता है। अन्य धर्म वाले भी किसी न किसी रूप में इस सिद्धान्त को मानते हैं परन्तु वैदिक धर्म का तो यह सर्वस्व ही ठहरा। जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि साधुओं की रक्षा के लिये और दुष्टों के दलन के लिये मैं प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ तब कौन सचेता इस तथ्य में विश्वास नहीं करेगा? गीता में भगवान् की यह प्रतिज्ञा है:—

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे॥

(६) *मुक्ति की कल्पना*—वैदिक धर्म में मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है। दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही मोक्ष है। अत्यन्त का अर्थ है सदा, सर्वदा के लिये निवृत्ति। अर्थात् एक बार निवृत्ति हो जाने के बाद फिर उसकी आवृत्ति नहीं होती। आवागमन का यह चक्र समाप्त हो जाता है। मुक्ति का यह सिद्धान्त अन्य धर्मों से हमारे वैदिक धर्म को

स्पष्ट ही अलग कर रहा है। अन्य धर्मों में जीवन का परम पुरुषार्थ है स्वर्ग की प्राप्ति। यह स्वर्ग है क्या? यह है परम सुख का निधान। अन्य धर्म वालों की यह कल्पना है कि इस जीवन में उस धर्म के यथावत् पालन करने से मनुष्य मरण के उपरान्त परलोक में सौख्य के अक्षय भाण्डार को प्राप्त कर लेता है। परन्तु सनातनधर्म के अनुसार स्वर्ग का भी कभी न कभी क्षय होता ही है। स्वर्ग केवल सौख्य की अचिरस्थायिनी अवस्था मात्र है। इस संसार के प्रपञ्च से दूर होने के लिए मोक्ष ही परम आवश्यक वस्तु है। वैदिक धर्म केवल एक ही साधन-मार्ग का उपदेश नहीं करता। परन्तु साधकों की क्षमता, योग्यता, प्रवृत्ति तथा स्वभाव के अनुसार वह ज्ञान, कर्म, एवं उपासना का उपदेश देता है। यह हिन्दू धर्म के विश्वजननीनता का प्रधान परिचायक है। हमारे शास्त्रों ने भी इसी बात का समर्थन किया है। इसी प्रकार गीता में ज्ञान, कर्म तथा भक्ति इन तीनों मार्गों का सांगोपांग निरूपण किया गया है। मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार उपासना की विधानयोजना हमारे धर्म की विशिष्टता है। वह सबके लिये एक ही मार्ग का उपदेश नहीं देता।

श्रुति की महिमा

इस आर्य या वैदिक संस्कृति का मूलाधार श्रुति है। श्रुति क्या है? ऋषियों के प्रातिभ चक्षु के द्वारा स्वतः अनुभूत ज्ञानराशि का नाम श्रुति है। ऋषि लोग मन्त्र के द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं।—ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः। सायणाचार्य ने वेद के वैशिष्ट्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि जिस तत्त्व का ज्ञान न तो हमें प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा होता है और न अनुमान

के द्वारा होता है, उसका ज्ञान हमें वेदों के द्वारा ही होता है। यही तो वेद का वेदत्त्व है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा, यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन, तस्मात् वेदस्य वेदता॥

वेद हमारे ऋषियों के द्वारा अनुभव किये गये आध्यात्मिक तथ्यों के भण्डार है—वह स्वानुभूति के ऊपर अवलम्बित है। परमतत्त्व का सबसे बड़ा प्रमाण स्वानुभूति ही है—स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे। वेद में कथित तत्त्वों का खण्डन तर्क के द्वारा नहीं किया जा सकता। श्रुति में हमारी इसीलिए समधिक आदर-बुद्धि है कि उसके तथ्य अनुभव की सच्ची नींव पर खड़े किये गये हैं। शुष्क तर्क से क्या किसी अर्थ का निर्णय किया जा सकता है? वह तो स्वयं अप्रतिष्ठित है। तर्क से निश्चित सिद्धान्तों का खण्डन अन्य प्रबलतर तर्क के सहारे किया जा सकता है। श्रुति के लिए यह नियम नहीं। उसके सिद्धान्त इतने उदात्त तथा अखण्डनीय है कि उनके सामने परममेधावी आचार्य शंकर तथा रामानुज आदि आचार्यों को सिर झुकाना पड़ता है। इसीलिए वाक्यपदीय के कर्ता भर्तृहरि का कहना है कि विभिन्न आगमदर्शनों की सहायता से ही प्रज्ञा विवेक को (सत्-असत्, सार-असार के विवेचन की शक्ति को) प्राप्त करती है। अपने ही तर्क के अनुसार किन तत्त्वों का अन्वेषण किया जा सकता है?

प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद् वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥
तत्तद् उत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति॥

वेद की सत्यता तथा प्रामाणिकता में विश्वास ही हमारे लिये आस्तिकता का सूचक है। वेद का जो निन्दक है, वही नास्तिक है। मनु ने वेद के निन्दक को नास्तिक कहा है—नास्तिको वेदनिन्दकः। अनीश्वरवादी को हिन्दू धर्म अपने अन्दर रख सकता है लेकिन वेद के निन्दक के लिये इस धर्म में कोई स्थान ही नहीं है। धर्म का परम प्रमाण श्रुति है। श्रुति के ऊपर आश्रित होने के कारण से स्मृति भी हमारे लिये मान्य है। परन्तु जहाँ श्रुति और स्मृति का विरोध उपस्थित होता है वहाँ स्मृति का हम कथमपि आदर नहीं कर सकते।

इतिहास और पुराण में श्रुति के अर्थ का उपबृंहण (युक्तियों के द्वारा समर्थन तथा पल्लवीकरण) किया गया है। अतएव श्रुत्यनुकूल होने से इतिहास एवं पुराण भी हमारे मान्य धर्म-ग्रन्थ हैं। भारतीय दर्शन—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त—वह नींव तैयार करते हैं जिसके ऊपर धर्म का महान् प्रासाद खड़ा है। इस कारण दर्शनों में भी हमारी श्रद्धा है। क्योंकि श्रुतिवाक्यों से जिन तत्त्वों का श्रवण किया जाता है, उन्हीं का मनन दर्शनों के द्वारा होता है। आत्म-साक्षात्कार के जो त्रिविध उपाय—श्रवण, मनन, निदिध्यासन—हैं उनमें मनन की सिद्धि दर्शनों के अध्ययन से होती है। इस तरह धर्म के रूप को समझने के लिये उनकी महती उपयोगिता है।

हमारी संस्कृति निगमागममूलक है। जिस प्रकार वह निगम अर्थात् वेद के ऊपर अवलम्बित है उसी प्रकार वह आगम अर्थात् तन्त्र के ऊपर भी आश्रित है। तन्त्रों की साधना के विषय में जन-साधारण में इतनी विचित्र तथा बीभत्स बातें फैली हैं कि उनका नाम सुनते ही विद्वान् लोग भी नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। परन्तु तथ्य बात ऐसी नहीं है। तन्त्रों की साधना उस बैटरी के समान है जिसके

संयोग में आते ही तामसिक प्रकृति भी सात्विक बनकर जल उठती है। उपासना के दो प्रकार सदा से रहे हैं (१) बाह्य और (२) गुह्य। बाह्य उपासना-पद्धति का प्रचार वेदों में हैं और गुह्य उपासना-पद्धति का साम्राज्य तन्त्रों में हैं। वेदों और तन्त्रों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। एक ही परम तत्त्व के दर्शन हमें दोनों में होते हैं।

इस प्रकार इस प्रस्तुत ग्रन्थ में हिन्दू संस्कृति के मूल-भूत ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जायेगा। वर्णन का क्रम इस प्रकार है—

१ *वेद*—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद।

२ *उपवेद*—ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीत, अर्थवेद।

३ *वेदाङ्ग*—शिक्षा, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त तथा कल्प।

४ *इतिहास*—रामायण और महाभारत।

५ *पुराण*—अष्टादश पुराण।

६ *स्मृति*—मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि।

७ *दर्शन*—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा वेदान्त।

८ *तन्त्र*—(क) वैष्णव तन्त्र,
(ख) शैव तन्त्र
(ग) शाक्त तन्त्र
(घ) जैन तथा बौद्ध तन्त्र

परिशिष्ट—(अ) बौद्ध धर्म ग्रन्थ
(ब) जैन धर्म ग्रन्थ

द्वितीय परिच्छेद

वैदिक साहित्य

वेद हिन्दू धर्म के सर्वस्व हैं। वे हमारे सबसे प्राचीन धर्म-ग्रन्थ हैं। भारत की धार्मिकता में जो कुछ निष्ठा देखी जाती है उसका मूल स्रोत वेद ही हैं। वेद महर्षियों के द्वारा अनुभव किये गये तत्त्वों के साक्षात् प्रतिपादक हैं। स्मृति तथा पुराण भी हमारे लिये मान्य हैं परन्तु वेद के अनुकूल होने के कारण से ही उनका इतना गौरव है। श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर श्रुति को ही हम अधिक गौरव देते हैं। हमारे धर्म की परिभाषा भी यही है कि जो वस्तु वेद में विहित, इष्ट पदार्थों के उत्पन्न करने में साधक है वही धर्म है। अन्य दृष्टियों से भी वेदों की विशेष महत्ता है। ये संसार भर में सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। आर्यों की सभ्यता और संस्कृति, समाज तथा धर्म के जानने का एकमात्र साधन यहीं उपलब्ध होता है। धर्म का विकास किस प्रकार हुआ? इसका निरूपण वेदों के अध्ययन से ही किया जा सकता है। वेद की भाषा सर्वथा प्राचीनतम है। आर्यभाषा के मूल स्वरूप जानने में वैदिक भाषा ही हमारी सहायता करती है।

महत्त्व

इस भूमण्डल पर हमारे वेद ही सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेदों से बढ़कर पुराना ग्रन्थ न तो अभी तक उपलब्ध हुआ है और न भविष्य में

ही उपलब्ध होगा। वेद भगवान् को हम हिन्दू लोग नित्य तथा अपौरुषेय मानते हैं। आर्य-संस्कृति के मूल वेद ही हैं। "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"— समग्र धर्मों का मूल वेद ही है। इस संसार में, समय-समय पर, जिन धर्मों का प्रवाह बहा है, उन सबका उद्गमस्थान हमारे वेद भगवान् हैं। वेद इस प्रकार हम हिन्दुओं के लिये तो गौरव रखते ही हैं, साथ ही यह संसार के अन्यान्य धर्मावलम्बियों के लिये भी उसी प्रकार महत्त्व धारण किये हुए हैं। जो कोई धर्म के रहस्य को जानना चाहता है, धार्मिक उलझनों को सुलझाना चाहता है, उसे वेद अवश्य पढ़ने चाहिये— वेदों से अवश्य परिचय प्राप्त करना चाहिये।

वेद के प्रधानतया दो विभाग हैं—संहिता और ब्राह्मण। मन्त्रों के समुदाय का नाम 'संहिता' है। 'ब्राह्मण' ग्रन्थ में इन्हीं मन्त्रों की एक प्रकार से विस्तृत व्याख्या है। परन्तु विशेषतः यज्ञयाग का सविस्तर वर्णन ही इसका मुख्य उद्देश्य है। ब्राह्मण के

विभाग

तीन खण्ड हैं—(१) ब्राह्मण (२) आरण्यक (३) उपनिषद्। आरण्यक ग्रन्थ वे हैं जो जन-साधारण से दूर जंगल में पढ़े जाते थे। इनमें यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का विवेचन है। ब्राह्मण गृहस्थों के लिये उपादेय हैं, तो आरण्यक वानप्रस्थ आश्रम में जीवन बिताने वाले मनुष्यों के लिये हितकर हैं। उपनिषदों से तात्पर्य ब्रह्मविद्या से है जिसके अनुशीलन करने से प्राणी संसार के प्रपञ्चों से छुटकारा पाकर अनन्त सुख का अधिकारी बनता है। उपनिषद् वैदिक साहित्य का अन्तभाग है। इसलिये उसे 'वेदान्त' के नाम से भी पुकारते हैं। उपनिषदों का सारांश भगवद्गीता है। ब्रह्मसूत्र में बादरायण व्यास ने उपनिषदों के सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से दिखलाया है। ये ही तीन ग्रन्थ—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता—

प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। विषय की दृष्टि से वेद में दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक में प्रधानतया कर्म की विवेचना है। अतः ये 'कर्मकाण्ड' के अन्तर्गत माने जाते हैं। उपनिषदों का प्रधान विषय ज्ञान का विवेचन करना है। अतः वे 'ज्ञानकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

किसी देवता-विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले अर्थ को स्मरण कराने वाले वाक्य 'मन्त्र' कहलाते हैं। ऐसे मन्त्रों के समुदाय 'संहिता' कहलाते हैं। संहिताएँ चार हैं—(१) ऋक् संहिता (२) यजुः संहिता (३) सामसंहिता (४) तथा अथर्व-संहिता। इन संहिताओं का संकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर किया। यज्ञ के लिये चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—(१) होता, (२) अध्वर्यु, (३) उद्गाता, (४) ब्रह्मा। 'होता' शब्द का अर्थ है पुकारने वाला। होता यज्ञ के अवसर पर विशिष्ट देवता के प्रशंसात्मक मन्त्रों का उच्चारण कर उस देवता का आह्वान करता है। उसके लिये आवश्यक मन्त्रों का संकलन जिस संहिता में किया गया है उसका नाम ऋक् संहिता या ऋग्वेद है। अध्वर्यु का काम यज्ञों का विधिवत् संपादन है। उसके लिये आवश्यक मन्त्रों का समुदाय यजुःसंहिता कहलाता है। उद्गाता शब्द का अर्थ है उच्च स्वर से गानेवाला। उसका कार्य ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर उन्हें मधुर स्वर में गाना होता है। इस कार्य के लिये सामवेद का संकलन किया गया है। ब्रह्मा नामक ऋत्विग् का काम यज्ञ का पूर्ण रूप से निरीक्षण करना है जिससे अनुष्ठान में किसी प्रकार की त्रुटि न हो। ब्रह्मा को समग्र वेदों का ज्ञाता होना चाहिये पर उसका विशिष्ट वेद अथर्ववेद है।

चार संहितायें

वेद को 'त्रयी' के नाम से भी पुकारते हैं। इसका कारण यह है कि उसमें तीन वस्तुएँ प्रधानतया पाई जाती हैं—ऋक्, साम और यजुः। पाद से युक्त छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं। इन ऋचाओं के गायन को साम कहते हैं। इन दोनों से पृथक् गद्यात्मक वाक्यों को यजुः कहते हैं। वेद ऋक्, यजुः और साम के रूप में विभक्त है। इसीलिए वह 'त्रयी' के नाम से भी अभिहित होता है।

त्रयी

वैदिक संहितायें

इन चारों संहिताओं में ऋग्वेद संहिता सब से प्राचीन है। अन्य संहिताओं में ऋग्वेद के अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। सामवेद तो पूरा का पूरा ऋग्वेद के मन्त्रों से ही बना हुआ है। ऋग्वेद एक ग्रन्थ न होकर एक विशालकाय ग्रन्थसमूह है। भाषा तथा अर्थ की दृष्टि से वैदिक साहित्य में भी यह अनुपम ग्रन्थ माना जाता है। इसके दो प्रकार के विभाग उपलब्ध होते हैं—(१) अष्टक, अध्याय और सूक्त (२) मण्डल, अनुवाक और सूक्त। पूरा ऋग्वेद आठ भागों में विभक्त है जिन्हें 'अष्टक' कहते हैं। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रकार पूरे ऋग्वेद में आठ अष्टक अथवा चौसठ अध्याय हैं। यह विभाग पाठक्रम के सुभीते के लिए किया गया प्रतीत होता है। दूसरा विभाग इससे कहीं अधिक ऐतिहासिक तथा महत्त्वशाली है। इस विभाग में समग्र ऋग्वेद दस खण्डों में विभक्त है जिन्हें 'मण्डल' कहते हैं। मण्डल में संगृहीत मन्त्रसमूह को 'सूक्त' कहते हैं। इन सूक्तों के खण्डों को ऋचाएँ कहते हैं। ऋग्वेद में सूक्तों की संख्या सब मिलकर १०२८ हैं तथा मन्त्रों की संख्या ११ हजार के लगभग है।

ऋग्वेद

वेदों को हम लोग ऋषियों के द्वारा 'दृष्ट' मानते हैं। ऋषि शब्द का अर्थ ही देखनेवाला है। यास्क ने ऋषियों को इसीलिये मन्त्र का द्रष्टा माना है। ऋग्वेद के ऋषिगण भिन्न-भिन्न कुटुम्बों से सम्बद्ध हैं। एक कुल के ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संग्रह एक मण्डल में किया गया है। प्रथम मण्डल और दशम मण्डल में तो नाना कुटुम्बों के ऋषियों के मन्त्र हैं, परन्तु द्वितीय से लेकर सप्तम तक प्रत्येक में एक ही कुटुम्ब के ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संकलन है। इन ऋषियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) गृत्समद (२) विश्वामित्र (३) वामदेव (४) अत्रि (५) भारद्वाज (६) वसिष्ठ—जो क्रमशः द्वितीय से लेकर सप्तम मण्डल तक से सम्बद्ध हैं। अष्टम मण्डल में कण्व वंश और अङ्गिरा गोत्र के ऋषियों के मन्त्र हैं। नवम मण्डल में सोम-विषयक मन्त्रों का ही संकलन है। सोम का नाम है पवमान अर्थात् पवित्र करने वाला। सोम-विषयक होने से ही इस मण्डल का नाम 'पवमान मण्डल' है। दशम मण्डल के मन्त्र नाना ऋषिकुलों से सम्बद्ध हैं, इसमें केवल देवताओं की स्तुति नहीं है अपितु अन्य विषयों का भी सन्निवेश है। दूसरे से लेकर सातवें मण्डल तक ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। दशम मण्डल पूरे ऋग्वेद में अर्वाचीन समझा जाता है।

कहा गया है कि सामवेद का संकलन उद्‌गाता ऋत्विक् के निमित्त किया गया है। यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिये होम किया जाता है, उसे बुलाने के लिये उद्‌गाता उचित स्वर में उस देवता का स्तुति-मन्त्र गाता है। गायन को 'साम' कहते हैं। ये ऋचाओं के ऊपर ही आश्रित होते हैं। ऋचायें ही गाई जाती हैं। इसलिये समग्र सामवेद में ऋचायें ही हैं। इनकी संख्या १५४९ है जिनमें केवल ७५ ऋचायें ही स्वतन्त्र हैं जो ऋक्संहिता में उपलब्ध नहीं

सामवेद

होतीं। इसलिये सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती। साम संहिता के दो भाग हैं—(१) पूर्वार्चिक, (२) उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक को छन्दः, छन्दसी अथवा छन्दसिका कहते हैं। विषयानुसार इस खण्ड की ऋचायें ४ भागों में विभक्त की गई हैं—(क) आग्नेय पर्व (अग्नि के विषय में ऋचायें) (ख) ऐन्द्र, (ग) पवमान (सोम-विषयक मन्त्र), (घ) आरण्यक पर्व। दूसरा खण्ड उत्तरार्चिक के नाम से प्रख्यात है। इसमें विषय के अनुसार कई उपखण्ड हैं जिसमें इन अनुष्ठानों का निर्देश किया गया है—(१) दशरात्र, (२) संवत्सर, (३) ऐकाह, (४) अहीन, (५) सत्र, (६) प्रायश्चित्त और (७) क्षुद्र। साम के गायनों में सात स्वरों का प्रयोग किया जाता है। संगीत का मूल यहीं उपलब्ध होता है। उस प्राचीन काल में संगीत की इतनी उन्नति भारतीय सभ्यता के उदात्त विकास की सूचना देती है।

गद्य को 'यजुः' कहते है। इस वेद में उन गद्य-वाक्यों का समूह है जिनका उपयोग अध्वर्यु यज्ञ के अवसर पर किया करता है। यज्ञ का वास्तविक क्रियात्मक अनुष्ठान 'अध्वर्यु' ही करता है। अतः इस वेद का सम्बन्ध यज्ञानुष्ठान के साथ सबसे अधिक है। इसके दो भेद हैं—कृष्ण यजुः और शुक्लयजुः। इस नामकरण के विषय में एक साम्प्रदायिक कथा पुराणों में दी गई है। वेदव्यास ने यजुर्वेद अपने शिष्य वैशम्पायन को सिखलाया जिन्होंने इसे याज्ञवल्क्य ऋषि को पढ़ाया। किसी कारण से गुरु अपने शिष्य से रुष्ट हो गये और पठित विद्या को उससे माँगने लगे। याज्ञवल्क्य ने पठित यजुषों को वमन कर दिया। तब अन्य शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण कर उन्हें चुँग लिया। यही कृष्णयजुः हुआ। उधर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की आराधना कर नवीन यजुषों को उत्पन्न किया। यही हुआ शुक्ल यजुर्वेद। इन

यजुर्वेद

दोनों के रूप में महान् अन्तर है। शुक्लयजुः में केवल मन्त्रों का ही संग्रह है। उसमें विनियोग-वाक्य नहीं हैं। अतः ब्राह्मण से अमिश्रित होने के कारण यह 'शुक्ल' कहा जाता है। परन्तु कृष्णयजुर्वेद में छन्दोबद्ध मन्त्र तथा गद्यात्मक विनियोगों का मिश्रण है। इसी मिलावट के कारण इसे कृष्णयजुर्वेद कहते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की संहिता *वाजसनेयी संहिता* कहलाती है क्योंकि सूर्य ने वाजी (घोड़े) का रूप धारण कर इसका उपदेश दिया था। इसमें ४० अध्याय हैं जिनकी रचना विशिष्ट यज्ञों को ध्यान में रखकर की गई है। इस वेद की दो प्रधान शाखायें हैं—माध्यन्दिन और काण्व। पहली शाखा उत्तरीय भारत में उपलब्ध है और दूसरी शाखा महाराष्ट्र में मिलती है। इन शाखाओं की संहितायें भिन्न हैं। पर भिन्नता अधिक नहीं है।

कृष्ण यजुर्वेद की भी अनेक शाखायें थी। आजकल केवल चार शाखायें प्राप्त हैं जिनके अनुसार इस वेद की संहितायें निम्नरूप से हैं—

(१) *तैत्तिरीय संहिता*—यही प्रधान तथा प्रसिद्ध शाखा है। इसमें सात खण्ड हैं जिन्हें अष्टक या काण्ड कहते हैं। प्रत्येक काण्ड में कतिपय अध्याय हैं जिन्हें प्रश्न या प्रपाठक कहते हैं। ये प्रश्न अनेक अनुवाकों में विभक्त हैं।

(२) *मैत्रायणी संहिता*
(३) *काठक संहिता* } ये दोनों संहितायें तैत्तिरीय से मिलती हैं। क्रम में यत्र तत्र अन्तर है।

(४) *कठकापिष्ठल संहिता*—अभी तक यह केवल आधी ही उपलब्ध हुई है।

कृष्ण यजुर्वेद में भी यज्ञों का ही वर्णन है। शुक्ल यजुः से अन्तर यही है कि इन यज्ञों का क्रम दोनों स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप से है।

अथर्व वेद में यज्ञभागों का सम्बन्ध बहुत ही कम है। इसमें मारण मोहन, उच्चाटन आदि क्रियाओं का विशेष वर्णन है। अथर्व ऋषि के द्वारा दृष्ट होने के कारण इसे अथर्व संहिता कहते हैं। यह संहिता बीस खण्डों में विभक्त है जिन्हें 'काण्ड' कहते है। काण्डों के भीतर प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त तथा मन्त्र का सन्निवेश क्रमशः किया गया है। इस प्रकार अथर्व वेद में २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक, ७३१ सूक्त तथा ५८४९ मन्त्र हैं। इनमें लगभग बारह सौ ऋचायें ऋग्वेद से ली गई हैं। इस वेद का लगभग छठाँ भाग गद्य में है आदि के १३ काण्डों से मारण मोहनादि क्रियाओं का सम्बन्ध है। १४ वें कान्ड में विवाह-विषयक मन्त्र हैं। १८ वाँ काण्ड श्राद्ध विषयक है तथा २० वें काण्ड में सोमयाग का वर्णन है। इन काण्डों के प्रायः समस्त मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं।

अथर्ववेद

वेदों की रचना कब हुई? यह बड़ी विकट समस्या है। हम लोग तो वेदों को अपौरुषेय (किसी पुरुष के द्वारा न बनाया हुआ) मानते हैं। अतः नित्य होने से समय निर्धारण की आवश्यकता ही नहीं रहती। परन्तु पश्चिमी लोग इस बात को नही मानते। ऋषियों को वे मन्त्रों का द्रष्टा न मान कर कर्ता मानते हैं। तब ऋग्वेद जो वेदों में सबसे पुराना है कब बनाया गया? प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य को चार काल-विभागों में बाँटा है—छन्दःकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल तथा सूत्रकाल तथा प्रत्येक के विकास के लिये दो-दो सौ वर्ष का समय माना है। बुद्धधर्म में सूत्रकाल में लिखे गये ग्रन्थों का तथा उनमें वर्णित यज्ञों का निर्देश मिलता है। अतः इनकी रचना बुद्ध से पहले अवश्य हुई होगी। बुद्ध की मृत्यु ईस्वी पूर्व ४८३ में हुई थी। अतः यदि सूत्र ग्रन्थ को इससे दो सौ वर्ष पहले मानें तो उनका

वेद का काल

काल ६०० ई० पू० पहुँचता है। इसी प्रकार हर एक काल के लिये २०० वर्ष मानकर मैक्समूलर ने ऋग्वेद का समय १२०० ई० पू० माना है। यह मत बहुत प्रसिद्ध है। ऋग्वेद में जो नक्षत्र-विषयक सूचनायें दी गई हैं उनके आधार पर लोकमान्य तिलक ने ऋग्वेद का रचना-काल ईसा से ६ हजार पूर्व माना है। ये युक्तियाँ गणित और ज्यौतिष के आधार पर आश्रित होने से अकाट्य हैं। ६ हजार से लेकर ४ हजार वर्ष ईस्वी पूर्व तक ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना हुई। अन्य वेदों की रचना ४ हजार वर्ष से लेकर ३ हजार वर्ष तक हुई। शतपथ ब्राह्मण जो सब ब्राह्मणों में प्राचीन माना जाता है, ढाई हजार वर्ष ईस्वी पूर्व में लिखा गया माना जाता है। वेद में भूगर्भ-शास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों की भी खोज की गई है जिसके आधार पर एक विद्वान (डा० अविनाशचन्द्र दास) का तो यह कहना है कि वेदों की रचना लाखों वर्ष पूर्व हुई। ऐसी परिस्थिति में रचना काल का ठीक निश्चय करना नितान्त कठिन है।

वेद की शाखायें

पुराणों में वेदों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक विषयों का वर्णन मिलता है। वेदों के शाखा-विभाग का निरूपण भी साधारणतया पुराणों में—विशेष करके श्रीमद्भागवत पुराण में—बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इस विषय का संक्षिप्त वर्णन भागवत, प्रथम स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में मिलता है; परन्तु भागवत के द्वादश स्कन्ध के छठे अध्याय में इससे विस्तृत वर्णन की उपलब्धि होती है। लिखा है कि, मुनि वेदव्यास ने याज्ञिक कृत्य को ध्यान में रखकर—यज्ञ सन्तान के लिये वेद भगवान् की चार संहिताओं का निर्माण किया। कृत्य-विशेष के लिये जितने मन्त्रों की आवश्यकता थी, उन सब मन्त्रों का संग्रह एक विशेष

संहिता में किया। यज्ञ में चार प्रधान कृत्य हुआ करते हैं, जिनके लिये चार भिन्न-भिन्न ब्राह्मणों की आवश्यकता पड़ा करती है। मन्त्रों को पढ़-कर यज्ञीय देवताओं को बुलाने के कार्य को 'हौत्र' कहते हैं। जिस ब्राह्मण के हाथ में यह कार्य सौंपा जाता है उसे 'होता' के नाम से पुकारते हैं। होता के लिये ऋग्वेद-संहिता का संकलन वेदव्यास जी ने किया। यज्ञों में होम आदि आवश्यक कृत्यों का संचालन करने वाले ब्राह्मण को 'अध्वर्यु' कहते हैं और उनके कार्य-विशेष को वैदिक लोग 'आध्वर्यव' के नाम से पुकारते हैं। यजुर्वेद-संहिता का सम्बन्ध 'अध्वर्यु' से है। यज्ञ में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये गान, साम-गान वाले पुरोहित-विशेष को 'उद्‌गाता' कहते हैं और उसके कार्य को 'औद्‌गात्र'। 'उद्‌गाता' के लिये गीतिमय सामवेद-संहिता का संग्रह वेदव्यास भगवान् ने किया। यज्ञ में एक अन्य विशिष्ट ब्राह्मण की आवश्यकता हुआ करती है, जो पूर्वोक्त प्रत्येक व्यक्ति के कार्य का निरीक्षण किया करे और उनकी त्रुटियों को उन्हें सूचित कर दूर कराया करे। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करने वाले ब्राह्मण को 'ब्रह्मा' कहते हैं। ब्रह्मा को तो चारों वेदों का ज्ञान आवश्यक है; क्योंकि बिना इसके वे अपना कार्य, सुचारू रूप से, सम्पन्न नहीं कर सकते। 'अथर्ववेद' का सम्बन्ध 'ब्रह्मा' से है। इस प्रकार यज्ञ के विस्तार के लिये परम कृपालु मुनिवर कृष्णद्वैपायन ने वेद भगवान् की ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व नामक चार संहिताओं को तैयार किया—

> "चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्
> व्यदधाद्यज्ञसंतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्।"

(भा०, १ स्क; ४ अ०)

वेदों की संहिताओं के निर्माता होने के कारण से ही कृष्णमुनि को 'वेदव्यास' कहते हैं—'वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इतीरितः' 'तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः' (महाभारत)। इस प्रकार वेदव्यास ने संहिताओं का संकलन कर अपने चार शिष्यों को उन्हें पढ़ाया। 'पैल' ऋग्वेद-संहिता के ज्ञाता हुये, कवि 'जैमिनि' सामके, 'वैशम्पायन' यजुः के तथा दारुण 'सुमन्तु' मुनि अथर्व के—

"तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ॥"
(भा०, १ स्क०, ४ अ०)

इन मुनियों ने अपनी संहिताओं का खूब अध्ययन किया—इनमें पारङ्गत हो गये। तब उन्होंने अपने शिष्यों को ये संहिताएँ पढ़ायीं। ऋषियों की शिष्य-परम्परा बड़ी चढ़ी-बढ़ी थी। इन सब शिष्यों के नाम भागवत, (द्वादश स्कन्ध, छठे अध्याय) में विस्तार के साथ दिये गये हैं। शिष्यों ने अपने-अपने शिष्य तैयार किये तथा संहिताओं का अध्यापन-क्रम अक्षुण्ण रखा। इस प्रकार वेदव्यास की बृहती शिष्य-परम्परा होने से कालान्तर में वेदों की अनेक शाखएँ हो गयीं। यदि ये सब शाखाएँ इस समय मिलतीं, तो हम इनकी पृथक्-पृथक् विशेषताओं का सूक्ष्म परिचय पा सकते। परन्तु आज-कल कतिपय शाखाएँ ही उपलब्ध हैं, जिससे इनकी विशिष्टताओं का पूरा ज्ञान हमें नहीं हो सकता। उपलब्ध शाखाओं की परीक्षा से हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि इन शाखाओं में कहीं-कहीं उच्चारण के विषय में भेद था, तो कहीं-कहीं किन्हीं मन्त्रों को संहिता में ग्रहण करने के विषय में। पहले यह शाखा-विभाग संख्या

में अल्प ही होगा। परन्तु ज्यों-ज्यों इनका अध्ययन-अध्यापन बढ़ता गया, त्यों-त्यों शाखाओं की संख्या में वृद्धि होती गयी।

शाखा-शब्द का अर्थ अवयव या हिस्सा नहीं है, जैसे रामायण के छ काण्ड हैं या महाभारत के अठारह पर्व। ये काण्ड और पर्व उनके अवयव हैं। एक-एक काण्ड या एक-एक पर्व एक-स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह एक-से-एक सापेक्ष और अनुबद्ध है। परन्तु वेदों की शाखाएँ परस्पर सापेक्ष और अनुबद्ध नहीं हैं। अठारह पर्वों के या सात काण्डों के समुदायका नाम महाभारत और रामायण है; परन्तु इक्कीस शाखाओं के समुदायका नाम ऋग्वेद नहीं है; प्रत्युत प्रत्येक शाखा स्वतन्त्र रूप से ऋग्वेद है; क्योंकि एक शाखा दूसरी शाखा की अपेक्षा नहीं रखती। इसीलिये किसी भी वेद की एक शाखा का अध्ययन करने से ही समग्र वेद का अध्ययन माना गया है। मीमांसा-शास्त्र के प्रणेता महर्षि जैमिनिने "स्वध्यायोऽध्येतव्यः" —इस वैदिक आज्ञा का अर्थ करते हुए लिखा है कि अपनी परम्परागत एक किसी भी शाखा का अध्ययन करना चाहिये।

शाखाओं की संख्या

वैदिक शाखाओं की संख्या के विषय में मतभेद दिखाई पड़ता है। महामुनि शौनक-कथित 'चरण-व्यूह' नामक परिशिष्ट-ग्रन्थ में ऋग्वेद की ५ शाखाओं का उल्लेख मिलता है, यजुर्वेद की ८६ शाखाओं का, साम की १००० शाखाओं का तथा अथर्व की ९ शाखाओं का। परन्तु महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में ऋग् की २१ शाखाओं का, यजुर्वेद की १०० शाखाओं का, साम की १००० शाखाओं का तथा अथर्ववेद की ९ शाखाओं का उल्लेख, शब्द-प्रयोग का विस्तार दिखाने के लिये, किया है—"उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोग-विषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो

लोकाः, चत्वारो वेदाः, साङ्गाः, सरहस्या, बहुधा भिन्नाः, एकशतमध्वर्यु-शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधार्थवणो वेदः।"—(पस्पशाह्निक, महाभाष्य)। इस प्रकार पतञ्जलि के कथनानुसार वैदिक शाखाओं की संख्या एक हजार एक सौ तीस (२१ + १०० + १००० + ९ = ११३०) है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी शाखाओं की संख्या का उल्लेख है, जो अधिकतर महाभाष्य के वर्णन से मिलता है। पहले कहा जा चुका है, कि, धीरे-धीरे शाखाओं की वृद्धि हुई होगी, एक समय में ही तो इतनी शाखाओं की उत्पत्ति नहीं हो गयी होगी! संख्याओं की भिन्नता का यही कारण हो सकता है।

पूर्वोक्त वर्णन से पाठक समझ सकते हैं कि वेदों का विस्तार कितना था, इनका अध्ययन और अध्यापन कितना होता था, इनके पढ़ने वालों की संख्या कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, परन्तु आजकल उपलब्ध शाखाओं की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब अपनी दयनीय दशा का विचित्र चित्र सामने खड़ा हो जाता है। भगवन्! जिन वेदों की इतनी शाखाएँ थीं—जिनका इतना सुचारु विस्तार था, उनकी वह गरिमा कहाँ लुप्त हो गयी, इतनी शाखाओं का विस्तार कहाँ चला गया, ये क्योंकर उच्छिन्न हो गयीं! समय के प्रवाह ने बहुतों को बहा डाला! आजकल बहुत ही कम शाखाएँ उपलब्ध होती हैं।

उपलब्ध शाखायें

ऋग्वेद की शाखाएँ

चरणव्यूह में ऋग्वेद की केवल ५ ही शाखाओं का नाम निर्देश है—

(१) शाकल, (२) वाष्कल, (३) आश्वलायन, (४) शाङ्खायन, (५) माण्डूकायन,। एक प्राचीन श्लोक में, इन पाँचों का नाम कुछ दूसरे ही प्रकार से मिलता है—

"शिशिरो वाष्कलः सांख्यो वात्स्यश्चैवाश्वलायनः
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः ॥"

इस पद्य में शिशिर, बाष्कल, सांख्य, वात्स्य तथा आश्वलायन शाकल के शिष्य बतलाये गये हैं परन्तु चरणव्यूह में यह बात नहीं मिलती। जो कुछ भी हो, आजकल तो ऋग्वेदियों की केवल एक ही शाखा उपलब्ध होती है; वह है आश्वलायन शाखा। इस शाखा के मानने वालों में महाराष्ट्र ब्राह्मणों की प्रधानता है। काशी में अधिकांश महाराष्ट्र ब्राह्मण आश्वलायन शाखा के पाये जाते हैं। केवल उन लोगों में इस शाखा का अध्ययन-अध्यापन है। उत्तरीय भारत के अन्य प्रान्तों में, इस शाखा के ब्राह्मण, नहीं के बराबर है।

सिद्धान्त तो यह है कि, जितनी शाखाएँ, उतने होंगे ब्राह्मण, उतने ही आरण्यक और उतनी ही होंगी उपनिषदें। श्रौत-सूत्र तथा गृह्य-सूत्र भी उतने ही होंगे। शाखा के अध्येतृगण अपने सब वैदिक ग्रन्थ पृथक्-पृथक् रखते थे; प्रत्येक शाखा के ब्राह्मण अपने विशिष्ट श्रौत्र-सूत्र से अपना श्रौतकार्य सम्पादन किया करते थे तथा इस ससय भी करते हैं। वे अपने गृह्यसंस्कार, अपने विशिष्ट गृह्यसूत्रों के अनुसार, किया करते थे तथा आज भी करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक शाखा में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत-सूत्र तथा गृह्यसूत्र अपने खास-खास होने चाहिये; परन्तु आज बहुत सी शाखायें ऐसी हैं, जिनमें पूर्वोक्त वैदिक साहित्य के कतिपय ही अंश उपलब्ध होते हैं। किसी शाखा की अपनी संहिता है, तो दूसरे का ब्राह्मण; किसी का अपना ब्राह्मण है तो दूसरे का श्रौत। इस प्रकार आज-कल शाखाओं के उच्छिन्न हो जाने से तथा वैदिक साहित्य के लुप्त हो जाने से ऐसी विषमावस्था दीख पड़ रही है।

इसी कारण आश्वलायनों की अपनी संहिता नहीं है। ऋगवेद की केवल एक ही संहिता उपलब्ध होती है और वह है शाकल-शाखा की शाकल-संहिता। उसी संहिता को आश्वलायन शाखा वाले अपनी संहिता मानकर पढ़ते हैं।

उनके अपने ब्राह्मण नहीं हैं। ऐतरेय-शाखियों के ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ही आजकल आश्वलायन शाखियों को मान्य हैं। उनके पास है केवल अपने श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र।

आश्वलायन शाखा से सम्बद्ध वैदिक ग्रन्थ नीचे दिये जाते हैं—

शाकल-संहिता (शाकल—शाखा)

ऐतरेय-ब्राह्मण ऐतरेय-आरण्यक ऐतरेय-उपनिषद्	} ऐतरेयशाखा
आश्वलायन-श्रौतसूत्र आश्वलायन-गृह्यसूत्र	} आश्वलायन-शाखा

प्राचीन काल में शाङ्खायन-शाखा थी। परन्तु आजकल यह शाखा बिल्कुल ही नहीं मिलती। इस शाखा से सम्बद्ध ग्रन्थों की सूची यों है—

शाकल-संहिता, कौषीतकि-ब्राह्मण, कौषितकि-आरण्यक, कौषीतकि उपनिषद्, शाङ्खायन-श्रतसूत्र, शाङ्खायन-गृह्यसूत्र।

यजुर्वेद की शाखाएँ

यजुर्वेद की शाखाओं की संख्या महाभाष्य में पूरी एक सौ है। शौनक के चरणव्यूह में केवल ८६ शाखायें है। शौनक ने समग्र शाखाओं

का नामोल्लेख नहीं किया है, केवल प्रधान-प्रधान शाखाओं के नाम भर दे दिये हैं। 'चरक' नामक शाखा सबसे विशिष्ट बतायी गयी है। पतञ्जलि ने लिखा है कि, गाँव-गाँव में चरकशाखा पढ़ी जाती है, जिससे उनके समय में—विक्रम से २०० वर्ष पूर्व—इस शाखा की उत्तर भारत में प्रधानता जानी जा सकती है, परन्तु इस समय में तो, इस शाखा का नाम भी कहीं नहीं सुना जाता, शाखाध्यायी ब्राह्मणों की कथा क्या कही जाय ! इस समय यजुर्वेद की ही सबसे अधिक शाखाएँ मिलती हैं, जिनका विवरण तत्सम्बद्ध ग्रन्थों के साथ यहाँ दिया जायेगा।

यजुर्वेद के दो प्रधान भेद हैं—कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद। इन दोनों में अलग-अलग शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। कृष्ण यजुर्वेद में शाखाओं की संख्या सबसे अधिक है।

(क) कृष्ण यजुर्वेद की शाखाएँ।

(१) *कठशाखा*—प्राचीन काल में इसका बड़ा प्रचलन था। पतञ्जलि ने महाभाष्य में इसका नामोल्लेख किया है—"अध्यगात् कठकालापम्।" परन्तु आजकल इस शाखा वाले ब्राह्मण तो अभी तक सुनने में नहीं आये। इस शाखा से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ मिलते हैं तथा प्रकाशित भी हो गये हैं। इस शाखा की अपनी संहिता—काठक-संहिता—है, जिसे जर्मन वैदिक विद्वान् डाक्टर श्रोदर ने जर्मनी में छपाया है। सर्व-प्रसिद्ध कठोपनिषत् इसी शाखा की है। इसका अपना गृह्य—काठकगृह्यसूत्र भी है, जो पंजाब संस्कृत सीरीज में इधर छापा गया है। इसके ग्रन्थ हैं—काठकसंहिता, कठोपनिषद्, काठक-गृह्यसूत्र।

(२) *कठ-कापिष्ठल-शाखा*—चरणव्यूह में कापिष्ठल-कठशाखा का

नाम दिया है, जिसे चरक-शाखा के अन्तर्गत बताया गया है। आजकल इस शाखा की केवल संहिता ही मिलती है। 'कापिष्ठलसंहिता' अब पंजाब से प्रकाशित हुई है।

(३) *मैत्रायणीशाखा*—इसे कलापशाखा भी कहते हैं। चरण-व्यूह में यह एक प्रधान शाखा मानी गयी है। पतञ्जलि के समय में इसका प्रचुर प्रचार था—यह बात उनके "अध्यगात् कठकालापम्" आदि उदाहरणों से स्पष्ट जान पड़ती है। इस शाखावाले ब्राह्मण संख्या में बहुत ही कम हैं। वे प्रायः गुजरात तथा दक्षिण प्रदेश में, कहीं-कहीं, पाये जाते हैं।

इस शाखा के ग्रन्थ ये हैं—मैत्रायणी संहिता (जर्मनी में डाक्टर श्रोदर ने इसे छपाया है) मैत्रायणी उपनिषद्, मानव श्रौतसूत्र, मानव-गृहसूत्र (जो अष्टावक्र मुनि के भाष्य के साथ बड़ोदे की गायकवाड ओरियन्टल सीरीज में इधर छपा है)। चरणव्यूह में मैत्रायणी शाखा के छ भेद दिये गये हैं। इन्हीं में मानवशाखा भी एक थी। मनुस्मृति का आधारभूत मानवधर्मसूत्र इसी शाखा का था। "वाराहशाखा" भी इसी के अन्तर्गत थी, जिसका "वाराह-गृह्यसूत्र" बड़ोदे की उक्त सीरीज में प्रकाशित किया गया है।

(४) *तैत्तिरीयशाखा*—चरणव्यूह में इस शाखा के प्रधानतया ५ भेद दिये गये हैं, जिसमें आजकल "आपस्तम्बशाखा" मिलती है। इस शाखा का भारत के बिल्कुल दक्षिण में खूब प्रचार है। तैलङ्ग तथा द्रविड़ ब्राह्मणों की यही शाखा है। इसका अध्ययन—अध्यापन दक्षिण में खूब होता है। इस शाखा से सम्बद्ध ग्रन्थ भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। "हिरण्यकेशी" शाखा इसी शाखा के अन्तर्गत है। इसकी संख्या आपस्तम्बों से बहुत ही कम है। दाक्षिणात्यों में भी आपस्तम्ब तथा

हिरण्यकेशी—शाखाध्यायी ब्राह्मण हैं। काशी में आपस्तम्ब ब्राह्मणों की अच्छी मण्डली है। इस शाखा के ग्रन्थ ये हैं—तैत्तिरीय-संहिता, तैत्तिरीय-ब्राह्मण, तैत्तिरीय-आरण्यक, तैत्तिरीय उपनिषद्, आपस्तम्ब कल्पसूत्र (जिनके आरम्भ के २४ अध्यायों में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र हैं, शेष ६ अध्यायों में गृह्यसूत्र आदि हैं), बौधायन-श्रौतसूत्र, हिरण्यकेशी कल्पसूत्र (सत्याषाढ़-कल्पसूत्र) भारद्वाज-श्रौतसूत्र। ऊपर के वर्णन से पता चलता है कि कृष्णयजुर्वेद की सबसे परिपूर्ण तथा प्राचीन शाखा तैत्तिरीय है। जितने इस शाखा के अध्येता मिलेंगे, उतने कृष्णयजुः की किसी भी अन्य शाखा के नहीं। सच तो यह है कि, कृष्णयजुः की यही सबसे प्रधान शाखा है। इस शाखावालों का उच्चारण माध्यन्दिनों से कहीं-कहीं मिलता है और कहीं-कहीं बिल्कुल भिन्न-सा प्रतीत होता है। इस शाखावाले कहीं तो माध्यन्दिनों की तरह मूर्धन्य 'ष' को 'ख' उच्चारण करते हैं और कहीं नहीं।

(ख) शुक्ल यजुर्वेद की शाखाएँ।

इस वेद की दो शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। (१) *माध्यन्दिन-शाखा*—इस वेद की यही सबसे प्रधान शाखा है। माध्यन्दिनों की संख्या भी अधिक है। उत्तरीय भारत के ब्राह्मण प्रायः इसी शाखा के मानने वाले हैं। प्रान्त-का-प्रान्त माध्यन्दिन शाखा-वालों का मिलेगा। मिथिला-मण्डल में इस शाखा वाले ब्राह्मणों की ही प्रधानता है। दाक्षिणात्यों में भी यह शाखा है। काशी के बहुत से महाराष्ट्र ब्राह्मणों की शाखा यही है। इस प्रकार उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के कतिपय भागों में माध्यन्दिन-शाखा मिलती है। इस शाखा का उच्चारण तो प्रसिद्ध ही है। ये लोग मूर्धन्य 'ष' का 'ख' उच्चारण करते हैं। यह

इनके उच्चारण की बड़ी विशेषता है। प्रसिद्ध 'पुरुष-सूक्त' के प्रथम मन्त्र 'सहस्रशीर्षा पुरुषः......' को जहाँ आश्वलायन-शाखावाले गम्भीर स्वर से 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' उच्चारण करते हैं, वहीं माध्यन्दिन लोग 'सहस्रशीरेखा पुरुखः' उच्चारण करते हैं।

इस शाखा के सम्पूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं। वे ये हैं—वाजसनेयी-संहिता, शतपथ-ब्राह्मण, बृहदारण्यक—उपनिषद्, कात्यायन-श्रौतसूत्र, पारस्कर- गृह्यसूत्र।

(२) *काण्व-शाखा*—इस शाखा का प्रचार आज कल बहुत ही कम है। काशी जैसे स्थान में काण्वशाखा वाले ब्राह्मणों के पन्द्रह या बीस से अधिक कुल नहीं हैं। ये सब-के-सब दाक्षिणात्य ब्राह्मण हैं। काण्वशाखा के वे ही सब ग्रन्थ हैं, जो माध्यन्दिन के; परन्तु कहीं-कहीं पार्थक्य मिलेगा। शतपथ-ब्राह्मण, जिसे काण्व लोग अपना करके मानते हैं, माध्यन्दिनों से कई अंशों में भिन्न है।

(३) सामवेद की शाखाएँ।

आजकल सहस्र शाखा-वाले सामवेद की तीन ही शाखाएँ मिलती हैं—कौथुम, राणायनीय तथा जैमिनीय।

(१) *कौथुम-शाखा*—यह शाखा गुजरात में पायी जाती है। इसके मानने वाले इसी वेद की अन्य दोनों शाखाओं से संख्या में कहीं अधिक बढ़कर हैं। काशी के गुजराती ब्राह्मणों में श्रीमाली तथा नागर ब्राह्मणों में इस शाखा का खूब अध्ययन-अध्यापन है। यों तो बंगाल में भी कौथुम-शाखा-वाले बंगाली ब्राह्मण हैं; परन्तु वे गृह्यपद्धतियों को छोड़कर सामवेद का ज्ञान बहुत ही कम रखते हैं। गुजराती ब्राह्मण ही आज कल सामवेद के संरक्षक हैं। काशी के अनेक गुजराती ब्राह्मण

साम के आचार्य हैं। परन्तु दुःख है कि, दिन प्रतिदिन सामवेदियों की संख्या कम होती जाती है। आज कल की परिस्थिति के कारण प्रसिद्ध सामवेदियों के भी लड़के वेदाध्ययन छोड़ कर जीविका के लिये व्यापार का आश्रय ले रहे हैं। यह तो सभी वैदिकों की दशा है, परन्तु सामवेदियों की विशेष रूप से है।

इस शाखा के ग्रन्थ हैं—सामसंहिता, ताण्ड्य ब्राह्मण, षड्विंश-ब्राह्मण, सामविधान-ब्राह्मण आदि अनेक ब्राह्मण, छन्दोग्य-उपनिषद्, मशक-कल्प-सूत्र, लाट्यायन-श्रौतसूत्र, गोभिल-गृह्यसूत्र।

(२) *राणायनीय-शाखा*—इसका प्रचार महाराष्ट्र में है। सुना है कि, दक्षिण में सेतुबन्ध रामेश्वर की ओर इस शाखा के अध्ययन करने वाले ब्राह्मण अभी हैं। इसका प्रचार कम है। कौथुम-शाखा की संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् इस शाखा वालों को भी मान्य हैं। केवल श्रौत तथा गृहसूत्र इनका अपना खास है। श्रौतसूत्र का नाम है—द्राह्यायण-श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र का खदिर-गृह्यसूत्र।

(३) *जैमिनीय-शाखा*—इसका प्रचार कर्णाटक देश में हैं। इस शाखा के मानने वालों की संख्या बहुत कम है। इस शाखा के ग्रन्थ भी अभी हाल में मिले हैं। इस शाखा की संहिता—जैमिनीयसंहिता—को यूरोपीय वैदिक विद्वान् डा० कैलेण्ड ने सम्पादन कर प्रकाशित किया है। इस शाखा के ग्रन्थ हैं—जैमिनि-संहिता, जैमिनि-ब्राह्मण, केनोप-निषद्, जैमिनि-उपनिषद्-ब्राह्मण, जैमिनि-श्रौतसूत्र, जैमिनि-गृह्यसूत्र।

(४) अथर्ववेद की शाखाएँ।

यदि देखा जाय, तो जान पड़ेगा कि, इसी वेद की प्राचीन काल में तथा आज भी सबसे कम शाखाएँ हैं। प्राचीन काल में इस वेद की

नव शाखाएँ थीं; परन्तु आज कल दो ही शाखाएँ मिलती हैं, जिनमें एक केवल नाममात्र की अवस्थिति धारण किये हुई है। इस वेद के ब्राह्मण तो इतने कम हैं कि अंगुली पर गिने जा सकते हैं। अथर्ववेदी गुट्ट के गुट्ट कहीं न मिलेंगे। एक आध इधर-उधर भले ही मिल जाँय। महाराष्ट्र तथा गुजराती ब्राह्मणों में अथर्ववेदी कभी थे; परन्तु आजकल यह वेद उच्छिन्नप्राय होता जा रहा है। काशी जैसे वेद-प्रधान स्थान में अथर्ववेदी ब्राह्मणों के दो-चार ही कुटुम्ब होंगे और उनमें भी एक ही अथर्ववेदी, नागर ब्राह्मण, अपने वेद का अध्ययन-अध्यापन कराते हैं।[1]

(१) *पिप्पलाद-शाखा*—इस शाखा की संहिता है, जिसकी भूर्जपत्रों पर शारदा-लिपि में लिखी एक ही प्रति काश्मीर में डाक्टर बूलर को मिली थी। यह हस्तलिखित प्रति जर्मनी में है। डाक्टर राथ ने इस प्रति के प्रत्येक पृष्ठ का फोटो लेकर इसे छपवाया है। पतञ्जलि के समय में यह शाखा खूब प्रचलित थी; क्योंकि महाभाष्य में दिया गया अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र 'शन्नो देवीरभिष्टय' आज कल प्रचलित शौनक शाखा में नहीं मिलता, प्रत्युत वह 'पिप्पलाद-संहिता' के आरम्भ में उपलब्ध होता है। 'प्रश्नोपनिषद्' इसी शाखा से सम्भवतः सम्बन्ध रखती है। इसके अतिरिक्त इस शाखा की और कोई पुस्तक नहीं मिलती।

(२) *शौनक-शाखा*—अथर्ववेद की यह प्रचलित शाखा है। जो कोई अथर्ववेदी मिलता है, वह इसी शाखा का होता है। इसकी संहिता, 'शौनक-संहिता' सायणाचार्य के भाष्य के साथ एस० पी०

१—काशी में एक ऋग्वेदी वैदिक अग्निहोत्री ने इस वेद को जिला रखा है। उन्होंने, ऋग्वेदी होने पर भी, अथर्ववेद का स्वयं अध्ययन किया है और बहुत से विद्यार्थी तैयार किये गये हैं। इन उत्साही वैदिकजी का नाम रामशास्त्री रटाटे है। ये महाराष्ट्र ब्राह्मण है तथा अन्य वेदों का भी अध्यापन कराते है।

पण्डित ने, (जो वेद के अच्छे ज्ञाता थे), बम्बई से चार जिल्दों में प्रकाशित किया है। इस शाखा के ग्रन्थ ये हैं—शौनक-संहिता, गोपथ-ब्राह्मण, मुण्डक आदि उपनिषद्, वैतान-श्रौतसूत्र, कौशिक-गृह्यसूत्र।

जहाँ इन विभिन्न शाखावाले ब्राह्मणों की वसन्त-पूजा होती है और जब वैदिकगण अपने-अपने स्वरों में वेद-मन्त्रों का पाठ करने लगते हैं, तब एक विचित्र दृश्य दिखाई देता है—कहींपर आश्वलायनों के शान्तिमय गाम्भीर्य के साथ पढ़े गये मन्त्रों को सुनकर मन गम्भीरता का अनुभव करने लगता है, तो कहीं माध्यन्दिनों के हस्त-संचालन से संवलित मन्त्र-पाठ को सुनकर चित्त कर्मठजनसमुचित विचित्र चञ्चलता को धारण करने लगता है। कहीं कौथुमों के ललित स्वरलहरी-विभूषित साम-गायन को सुनकर मनमें आनन्द की तरङ्गें उठने लगती हैं, तो कहीं आपस्तम्बों के प्रौढ़ मन्त्र-पाठ के सुननेसे आकाश में गड़गड़ाहट की आवाज-सी मालूम पड़ने लगती है। कहीं काण्वों के सुभग मन्त्र-पाठ से चित्त रीझता है, तो कहीं अथर्व-वेदियों की स्वर-भङ्गी में एक अत्यन्त आह्लादमयी विचित्रता जान पड़ती है। ध्यान से मन्त्र-पाठ को सुनने वाले ही इसका पूरा मर्म समझ सकते हैं—आनन्द उठा सकते हैं। यह शब्दों के द्वारा ठीक-ठीक प्रकट नहीं किया जा सकता। जिन लोगों ने कभी वसन्त-पूजा में वैदिकों का मन्त्र-पाठ नहीं सुना है, उन्हें उस समय होने वाले मानसोल्लास की बात कैसे बतायी जा सकती है? मन्त्र-पाठ का प्रभाव श्रोताओं पर सद्यः होता है। पूरा वायुमण्डल परिवर्तित-सा जान पड़ता है। पाठक स्वयं अनुभव कर इसकी सत्यता परख सकते हैं।

वेद के ऋषि

किसी भी सूक्त के अर्थानुसन्धान से पहिले उसके तीन वस्तुओं का

ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक होता है। वे तीन पदार्थ हैं—(१) ऋषि, (२) छन्द तथा (३) देवता। 'ऋषि' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'द्रष्टा'—मन्त्रों का दर्शन करने वाला। प्रत्येक सूक्त का कोई न कोई 'ऋषि' अवश्य होता है। पाश्चात्य विद्वान् लोग इन ऋषियों को मन्त्रों का कर्ता, रचना करने वाला मानते हैं, परन्तु हमारी दृष्टि में श्रुति अपौरुषेय है—पुरुष निर्मित नहीं है। अतः उनके रचयिता की कल्पना हमारी दृष्टि में नितान्त अनुचित है। यास्क ने स्पष्ट कहा है—ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो बभूवुः—अर्थात् ऋषियों ने मन्त्रों का दर्शन किया। मन्त्रों के भीतर निहित अर्थ अथवा तत्त्व ऋषियों ने अपनी अध्यात्मदृष्टि से निरख कर कृतकृत्यता प्राप्त की। प्रत्येक सूक्त का कोई न कोई ऋषि अवश्य है। ऋषि, छन्द तथा देवता—को बिना जाने सूक्त का अर्थ ठीक तरह से ज्ञात नहीं हो सकता।

ऋग्वेद में दश मण्डल हैं। इन मण्डलों में अनेक मण्डलों के दर्शन का श्रेय किसी विशिष्ट ऋषि-परिवार को प्राप्त है। प्रथम तथा दशम मण्डलों के द्रष्टारूप से तो अनेक ऋषियों के नाम उपलब्ध होते हैं परन्तु द्वितीय मण्डल से लेकर अष्टम मण्डल तक का सम्बन्ध विशिष्ट ऋषिकुल से है। जैसे द्वितीय मण्डल के ऋषि हैं—गृत्समद। तृतीय के विश्वामित्र। चतुर्थ के वामदेव। पञ्चम के अत्रि। षष्ठ के भारद्वाज। सप्तम के वसिष्ठ। अष्टम के कण्व। नवम मण्डल 'पवमान मण्डल' कहलाता है, क्योंकि इसमें पवमान (सोम) से सम्बद्ध भिन्न-भिन्न ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्र संगृहीत किये गये हैं। ऋषि वे ही हैं जिनके नाम द्वितीय से लेकर अष्टम मण्डल के प्रसङ्ग में ऊपर आये हैं। अन्य संहिताओं में इस प्रकार के एकही परिवार के ऋषियों का उल्लेख नहीं मिलता।

वैदिक छन्द

वैदिक संहिताओं का अधिकांश भाग छन्दोमय है। कृष्ण यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के कतिपय भाग में गद्य का प्रयोग किया गया उपलब्ध होता है। इन अंशों को छोड़ देने पर समग्र वैदिक संहिताएँ छन्दोमयी वाक् के रूप में मिलती हैं। ऋग्वेद तथा सामवेद के समस्त मन्त्र छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं। हृदय के कोमल भावों की अभिव्यक्ति का नैसर्गिक मार्ग छन्द ही है। अन्तस्तल के मर्मस्पर्शी भाव प्रकट होने के लिए छन्दों का कमनीय कलेवर ही खोजा करते हैं। मन्त्रों का प्रधान उद्देश्य यज्ञों में उपास्य देवता के प्रसादन कार्य में ही है और यह भी निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि देवताओं की प्रसन्नता उत्पन्न करने का मुख्य साधन मन्त्रों का गायन ही हो सकता है। इस दृष्टि से भी छन्दों की महत्ता विशेष है। किसी मन्त्र को फलवत्ता तभी सम्पन्न हो सकती है जब उसके द्रष्टा ऋषि तथा वर्णित देवता के साथ साथ हम उसके छन्द से भी परिचित हों[1]। अतः मन्त्रों के छन्दों से परिचय प्राप्त करना एक विशेष आवश्यक कार्य है। पाणिनीय शिक्षा (श्लोक ४) का कहना है—छन्दः पादौ तु वेदस्य—छन्द वेद के पाद हैं। जिस प्रकार बिना पैरों के सहारे न तो मनुष्य खड़ा हो सकता है और न चल सकता है; उसी प्रकार छन्द के आधार के बिना वेद लंगड़ाने लगता है—चलने में असमर्थ रहता है।

---

१ कात्यायन की सर्वानुक्रमणी (१।१) का स्पष्ट कथन है कि जो मनुष्य छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्यापन करता है उसका सब फल निष्फल होता है—स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवति।

यास्क ने 'छन्दः' की व्युपत्ति छद् धातु (ढकना) से बतलाई है और छन्दों के छन्द कहे जाने का रहस्य यही है कि ये वेदों के आवरण हैं—ढकने वाले साधन हैं (छन्दांसि छादनात्—नि० ७।१९)। इसी अर्थ की पुष्टि में दुर्गाचार्य ने यह सारगर्भित वाक्य उद्धृत किया है—यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्[1]। पीछे वेद के लिए 'छन्द' का प्रयोग उपचारवशात् होने लगा। वेदों का बाह्यरूप छन्दोबद्ध होने से यह गौण प्रयोग अवान्तर काल में होने लगा। पाणिनि ने बोलचाल की भाषा के लिये जहां 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है, वहीं सूत्रों में वैदिक भाषा के लिये 'छन्दस्' का प्रयोग किया है[2]। लौकिक संस्कृत की दृष्टि से वैदिक संस्कृत के शब्द-रूपों तथा छन्दों में नियम का सामान्य अभाव है। इसीलिए 'छान्दस' शब्द का अर्थ हो गया अनिश्चित, अनियमित और इसी अर्थ में यह शब्द आजकल बहुधा प्रयुक्त किया जाता है।

वैदिक छन्दों की विशेषता यही है कि ये अक्षर-गणना पर नियत रहते हैं अर्थात् उनमें अक्षरों के गुरुलघु के क्रम का कोई विशेष नियम नहीं है। इसीलिये कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमणी' में इसका लक्षण 'यदक्षर-परिमाणं तच्छन्दः' किया है। परन्तु लौकिक संस्कृत के छन्दों में यह बात नहीं है। यहां तो वृत्तस्थ अक्षरों की गुरुता और लघुता नियत कर दी गई है। यह भी याद करने की बात है कि अनेक शताब्दियों के अनन्तर वैदिक छन्दों से ही लौकिक छन्दों का आविर्भाव हुआ है।

---

१ यह वाक्य छान्दोग्य उपनिषद् (१।४।२) में भी पाया जाता है, परन्तु दोनों में कुछ पाठभेद हैं। सारांश समान ही है।

२ यथा 'बहुलं छन्दसि' पाणिनि ७। १। ८, ७। १। १०, ७। १। २६, ७। १। ३८ आदि।

लौकिक छन्दों में चार ही चरण होते हैं, परन्तु वैदिक छन्दों में यह नियम नहीं है। यों तो वेदों में एक तथा दो पाद वाले छन्द भी मिलते हैं, परन्तु तीन पाद वाले छन्दों का विशेष प्राचुर्य है। गायत्री तथा उष्णिक् तीन पाद के ही होते हैं। पंक्ति छन्द पांच पादों का होता है। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन करने से अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता लगाया जा सकता है। 'वैदिक छन्द' के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन की अभी बड़ी कमी है। यह विषय भी अन्य वैदिक विषयों के समान अत्यन्त गम्भीर है[1]।

प्रधान वैदिक छन्द

नाम	पाद १	२	३	४	५
गायत्री	८ अक्षर	८	८		
उष्णिक्	८	८	१२		
पुरउष्णिक्	१२	८	८		
ककुभ्	८	१२	८		
अनुष्टुभ्	८	८	८	८	
बृहती	८	८	१२	८	
सतोबृहती	१२	८	१२	८	
पङ्क्ति	८	८	८	८	८
प्रस्तारपंक्ति	१२	१२	८	८	
विराज्	१०	१०	या ११	११	११
त्रिष्टुभ्	११	११	११	११	
जगती	१२	१२	१२	१२	

१ द्रष्टव्य आर्नाल्डवेदिक मीटर।

इन्हीं छन्दों के अनेक अवान्तर भेद भी संहिताओं में मिलते हैं। प्रत्येक संहिता के छन्दों का वर्णन अनुक्रमणियों में बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया गया है। कात्यायन ने ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र के छन्दों का निर्देश 'सर्वानुक्रमणी' में बड़ी प्रामाणिकता से किया है। प्रातिशाख्यों में, विशेषतः ऋक्प्रातिशाख्य (पटल १६—पटल १८) में, छन्द का सूक्ष्म विवेचन है। पिङ्गल के ग्रन्थ में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का विशेष वर्णन है। ये ग्रन्थ छन्दों की जानकारी के लिये विशेष मननीय हैं।

पहले बतलाया गया है कि वैदिक छन्दों में अक्षरों के गौरव-लाघव पर ध्यान न देकर उनकी संख्या का ही खयाल किया जाता है। कभी-कभी अन्यपादों के अक्षरों के समसंख्यक होने पर भी एक पाद में कभी संख्या कम हो जाती है और कभी अधिक। यह मनमानी अनियमित नहीं है, अपितु नियम से ही किया जाता है। यदि किसी पाद के अक्षर एक कम हों, तो उसे 'निचृत्' और एक अधिक हों, तो 'भुरिक्' कहते हैं। नियमतः त्रिपदा अष्टाक्षरा गायत्री के अक्षरों की संख्या (८ × ३) २४ ही है, परन्तु २३ अक्षरों की गायत्री 'निचृद्-गायत्री' और २५ अक्षरों की 'भुरिग्-गायत्री' कही जाती है। इसी प्रकार दो अक्षरों की हीनता वाले छन्दों को 'विराट्' तथा दो अक्षरों की अधिकता होने पर छन्द को 'स्वराट्' कहलाते हैं। कहना न होगा कि 'विराट् गायत्री' (२४−२) २२ अक्षरों की और 'स्वराट् गायत्री' (२४ + २) २६ अक्षरों की होता है[1]।

कभी-कभी देखने में आता है कि छन्द एक अक्षर के अभाव में लँगड़ा जान पड़ता है। ऐसी दशाओं में छन्द को नियमबद्ध बनाने के अभिप्राय

---

१ अनाधिकेनैकेन निचृद् भुरिजौ। द्वाभ्यां विराट् स्वराजौ—सर्वानुक्रमणी

२। एकद्व यूनाधिका सैव निचृद् ऊनाधिका भुरिक् (ऋक् प्रातिशाख्ये १७।२)।

से एक अक्षर को दो अक्षर बना देने की व्यवस्था 'सर्वानुक्रमणी' में स्पष्टतः दी गई है ।—

पादपूरणार्थं क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत् । (सर्वा ३।६) अर्थात् पादपूरण के लिये क्षैप्रसंयोग (यकार तथा वकार के संयोग) तथा सन्धि-जन्य एकाक्षरों को पृथक् कर देना चाहिए । कुछ उदाहरणों के द्वारा इस नियम को स्पष्ट करना उचित होगाः—

(१) जहाँ यण् सन्धि के द्वारा यकार तथा वकार हो, उसे पृथक् कर मूल दोनों अक्षरों का उच्चारण करना चाहिए यथा—त्रिपदा उष्णिक् के उदाहरण में दिए गए मन्त्र के दूसरे चरण—पिबाति सोम्यं मधु—में ८ अक्षरों में एक अक्षर की कमी है। अतः पादपूरण के लिए सोम्यं = सोमिअं । जगती के अन्तिम चरण में द्युमद् = दिउमद् । 'तत् सवितुर्वरेण्यं' में वरेण्यं = वरेणिअं ।

(२) वकार का पृथक् करण—अधिकांश मन्त्रों में त्वं का उच्चारण होता है –तुअम् । 'दिवं गच्छ स्वः पते' में स्वः = सुअः ।

(३) रेफ का पृथक् करण—अनेक मन्त्रों में 'इन्द्र' का उच्चारण 'इन्दर' होता है यथा ऋ० ७।१९।२ त्वं ह त्यदिन्द्रः का उच्चारण होगा—तुअं ह त्यदिन्दरः ।

(४) ए या ओ (गुण) अथवा ऐ तथा औ (वृद्धिस्वर) का दो स्वरों में पृथक् करण होता है—ज्येष्ठ = ज्ययिष्ठ (ऋ० ७।६५।१), धेष्ठ = धयिष्ठ (ऋ० ७।९३।१) प्र ब्रह्मैत्विति (ऋ० ७।३६।१) में होता है—ब्रह्म एतु इति ।

(५) एकार तथा ओकार के अनन्तर लुप्त अकार को (एङः पदान्तादति—पाणिनि ६।१।१०९) पुनः स्थापन कर उच्चारण करना चाहिए—इन्द्रं वाजेषु नोऽव (ऋ० १।७।४) में नोऽव = नोअव । इन्द्रं सखायोऽनु

संरभध्वम् (ऋ० १०।१०३।६) में 'अनु' का उच्चारण पूरा होना चाहिए।

(६) दीर्घ सन्धि से उत्पन्न आकार को दो अक्षरों के रूप में परिवर्तन करना चाहिये[1]—यथा वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् (ऋ० १०।११७।७) में होता है ब्रह्म अवदतो। अद्याद्या श्वः श्वः (ऋ० ८।६१।१७) में अद्याद्या = अद्य अद्या। ऋ० ७।४०।६ में वात = वअत।

कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के समस्त मन्त्रों के छन्दों का निर्देश किया है। उनके अनुसार ऋग्वेद में छन्दों की संख्या इस प्रकार है

गायत्री	२४६७
उष्णिक्	३४१
अनुष्टुप्	८५५
बृहती	१८१
पंक्ति	३१२
त्रिष्टुप्	४२५३
जगती	१३५८
	९७४७

लगभग ३०० मन्त्र अतिजगती (१३ × ४), शक्वरी (१४ × ४), अतिशक्वरी (१५ × ४) अष्टि (१६ × ४) अत्यष्टि (१७ × ४) आदि विविध छन्दों में निबद्ध हैं। एकपदा ऋचाएं केवल ६ तथा द्विपदा १७ हैं। इस सूची पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि ऋग्वेद में सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द 'त्रिष्टुप्' है जिस में ऋचाओं का २।५ निबद्ध है। इससे उतर कर गायत्री का नम्बर है। गायत्री में ऋग्वेद का लगभग चतुर्थ अंश लिखित है। जगती इसके भी पीछे आती है। अतः त्रिष्टुप्, गायत्री, जगती—ये ही तीन वैदिक संहिताओं के महत्त्वपूर्ण जनप्रिय छन्द हैं।

१ द्रष्टव्य—षड्गुरुशिष्य की पूर्वोक्त सूत्र की वृत्ति पृ० ६३।

लौकिक संस्कृत के छन्दों का विकास इन्हीं वैदिक छन्दों से हुआ है। संस्कृत के कवियों ने श्रुति-माधुर्य तथा संगीतमय आरोह-अवरोह को ध्यान में रखकर इन्हीं छन्दों में अक्षरों के गौरव तथा लाघव को नियम-बद्ध कर दिया है। अन्य लौकिक छन्दों के तो आविष्कर्ताओं का नाम लुप्त हो गया है, परन्तु अनुष्टुप् के आविष्कारक महर्षि वाल्मीकि की कहानी प्रसिद्ध है। व्याध के बाणों से बिद्ध क्रौञ्च को देखकर किस प्रकार महर्षि का हृदयगत शोक श्लोकरूप में परिणत हो गया; इसे यहाँ याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है। वैदिक त्रिष्टुप् से ही एकादशाक्षर छन्दों का, विशेषतः इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का, उदय हुआ है। जगती से द्वादशाक्षर छन्द, वंशस्थ आदि की तथा सामगों की अत्यन्त प्यारी शक्वरी से वसन्ततिलका की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार अन्य लौकिक छन्दों का भी उदय समझ लेना चाहिए।

वेद में देवता-तत्त्व

वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन के प्राण हैं। भारतीय धर्म में जो जीवनी शक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका मूल कारण वेद ही है। वेद अक्षय विचारों का मानसरोवर है जहाँ से विचारधारा प्रवृत्त होकर भारतभूमि के मस्तिष्क को उर्वर बनाती हुई निरन्तर बहती है तथा अपनी सत्ता के लिए उसी उद्गमभूमि पर अवलम्बित रहती है। ये भारतीय साहित्य के ही सर्व-प्रथम ग्रन्थ नहीं हैं, प्रत्युत मानवमात्र के इतिहास में इनसे बढ़कर प्राचीन ग्रन्थ की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है। भारतीय धर्म तथा तत्त्वज्ञान की आकृति तथा प्रकृति, उद्गम तथा विकास के समुचित अनुसन्धान के लिए इन ग्रन्थमणियों का पर्यालोचन नितान्त आवश्यक है। परन्तु श्रुति-सम्मत दार्शनिक विचारों की रूप-

रेखा के विषय में पर्याप्त मतभेद है। वेदों का अध्ययन आजकल दो प्रकार किया जाता है—प्राचीन पद्धति से तथा अर्वाचीन पाश्चात्य रीति से। पाश्चात्य पद्धति वेदार्थ-परिशीलन के लिए अन्य देशों के साहित्य की सहायता की अपेक्षा रखती है। प्राचीन पद्धति इतिहास-पुराण को वेदार्थ का उपबृंहण मानती है[1] तथा वैदिक रहस्यों के यथार्थ-ज्ञान के लिए उनकी सहायता को बहुमूल्य बतलाती है। इसी दृष्टि-भेद की मीमांसा उभयमत में भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। पाश्चात्य वर्ग वेदों को असभ्य या अर्धसभ्य आरम्भिक आर्यजनों के अनगढ़ गायनों से बढ़कर महत्त्व देना नहीं चाहता, परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार वेद नित्य हैं, निखिल ज्ञान के अमूल्य भाण्डागार हैं, धर्म को साक्षात्कार करनेवाले महर्षियों के द्वारा अनुभूत परमतत्त्व के परिचायक हैं। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय को बतलाने वाले ग्रन्थ वेद ही हैं[2]। वेद की 'वेदता' इसी में है कि वे प्रत्यक्ष से अगम्य तथा अनुमान के द्वारा अनुद्भावित-अलौकिक उपाय का बोध कराते हैं[3]।

वेदों में देवतास्तुति ही प्रधान विषय है। निरुक्तकार यास्क ने स्थान विभाग की दृष्टि से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—पृथ्वी-स्थान, अन्तरिक्षस्थान, तथा द्युस्थान। पृथ्वीस्थान देवताओं में अग्नि का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, अन्तरिक्षस्थान देवताओं में इन्द्र का

---

१ इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

—महाभारत (आदिपर्व १।२६८)

२ द्रष्टव्य सायणकृत तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका पृ० २.

३ श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ।

—शाङ्करभाष्य २।३।१.

तथा आकाशस्थान देवताओं में सूर्य, सविता, विष्णु आदि सौर देवताओं का। अग्नि प्राणियों का सबसे अधिक हितकारक देवता है। अग्नि प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋषियों के द्वारा स्तुति किया जाता है। उसकी ही कृपा से दिन प्रतिदिन प्राणी धन, अन्न, पुत्र, पौत्र तथा समृद्धि प्राप्त करता है। वरुण का स्थान वैदिक देवताओं में नितान्त महत्त्वपूर्ण है। वह विश्वतश्चक्षुः (सर्वत्र दृष्टि रखनेवाला), धृतव्रत (नियमों को धारण करनेवाला), सुक्रतु (शोभन कर्मों का निष्पादन करनेवाला) तथा सम्राट् (सम्यक्‌रूप से प्रकाशित होनेवाला तथा शासन करनेवाला) कहा गया है[1]। सर्वज्ञ वरुण प्राणीमात्र के शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा तथा तत्तत् फलों का दाता है। इन्द्र[2] वीर योद्धाओं को संग्रामाङ्गण में विजय प्रदान करनेवाले देवता हैं। वज्रबाहु (वज्रके समान बलशाली बाहुवाले) इन्द्र के हाथ में वज्र है, जिसकी सहायता से वह वृत्रादि अनेक दानवों को मार डालते हैं तथा शत्रुओं के किलाबन्द नगरों को छिन्नभिन्न कर डालते हैं (पुरन्दर)। इन्हीं के अनुग्रह से आर्यों ने काले रंगवाले दस्युओं या दासों को पहाड़ियों में खदेड़ दिया है तथा वृत्र के द्वारा रोकी गई गायों को वे गुफा तोड़कर निकाल बाहर करते हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं। विष्णु आकाशगामी सन्तत क्रियाशील सूर्य के प्रतीक हैं। उन्होंने तीन डगों से इस विश्व को नाप डाला है[3]। इस कारण वे 'उरुगाय' तथा उरुक्रम' कहलाते हैं। तीसरे लोक में जहाँ उनका तृतीय पाद-विन्यास

---

१ ऋग्वेद—१ मण्डल २५ सूक्त।

२ ऋग्वेद—२ मण्डल १२ सूक्त।

३ यही कल्पना वामनावतार की कल्पना की जननी है। इसी कारण वामन 'त्रिविक्रम' कहे जाते हैं। पुराणों में 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' शब्दों का हरि के लिए प्रयोग इसी तत्त्व के ध्यान में रखकर किया गया है।

किया गया है वहाँ मधु का कूप है। उस लोक में शीघ्रगामिनी भूरिश्रृङ्ग गायें (किरणें) इधर से उधर सतत आया जाया करती हैं। (यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः—ऋ० वे० १।१५४।६)[1] सवितृ देव सुप्त प्राणियों में जीवन का संचार कर पुनः प्रवृत्त करते हैं। पूषा (ऋ० वे० ६।५३) भूले-भटकों को राह लगाते हैं। उनका रथ बकरों के द्वारा खींचा जाता है तथा उनके हाथ में चाबुक रहता है। यह मृत प्राणियों को पितरों के पास ले जाते हैं। 'मित्र' मानवमात्र का कल्याण साधन करते हैं। देवों के साथ-साथ देवियों की भी कमनीय कल्पना ऋग्वेद में पाई जाती है। सब से सुन्दर देवी उषा है जो द्यौः (आकाश) की पुत्री हैं। वह तमोमयी रजनी की रमणीय रूपधारिणी भगिनी है। वह पुराणी युवति है—पुरानी होने पर भी सतत युवति है। वैदिक मन्त्रों में सब से सुन्दर कमनीय कल्पनावाले मन्त्र उषा की स्तुति में प्रयुक्त किये गये हैं (ऋ० वे० ३।६१)। आगे चलकर देवताओं की संख्या में भी वृद्धि-ह्रास होता रहा। वरुण की महिमा में ह्रास होने लगा, और मन्यु, श्रद्धा आदि नये-नये देवताओं की सृष्टि होने लगी।

इन देवताओं के स्वरूप का विवेचन करना नितान्त आवश्यक है। प्रकृति की विचित्र लीलायें मानवमात्र के दिन-प्रतिदिन के अनुभव के विषय हैं। इस पृथ्वीतल पर जन्म-ग्रहण के समय से ही मनुष्य अपने को कौतुकावह प्राकृतिक दृश्यों से चारों ओर घिरा हुआ पाता है। प्रातःकाल प्राची-दिशा में कमनीय किरणों को छिटका कर भूतल को काञ्चनरञ्जित बनाने वाला अग्निपुञ्जमय सूर्यबिम्ब तथा सायंकाल में रजत रश्मियों

१ वैष्णवों के गोलोक की कल्पना का आधार यही मन्त्र है। भगवान् के परम पद का नाम 'गोलोक' है अर्थात् वह लोक जहाँ सूर्य की किरणों का निरवच्छिन्न तथा अनवरत प्रसार हो। द्रष्टव्य बृहद्ब्रह्मसंहिता ३।१।

को बिखेर कर जगत् मण्डल को शीतलता के समुद्र में गोता लगाने वाले सुधाकर का बिम्ब किस मनुष्य के हृदय में कौतुकमय विस्मय उत्पन्न नहीं करते ? वर्षाकालीन नील गगनमण्डल में काले-काले विचित्र बलाहकों की दौड़, उनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न कौंधने वाली बिजुली की लपक तथा कर्णकुहरों को वधिर बना देनेवाले गर्जन की गड़गड़ाहट आदि प्राकृतिक दृश्य मनुष्यमात्र के हृदय पर एक विचित्र प्रभाव जमाये बिना नहीं रह सकते ? वैदिक आर्यों ने इन प्राकृतिक लीलाओं को सुगमतया समझाने के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की है। यह विश्व भिन्न-भिन्न देवताओं का क्रीड़ा-निकेतन है। वैदिक आर्यों का विश्वास है कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्य संचालित होता है तथा भिन्न-भिन्न प्राकृतिक घटनायें उनके ही कारण सम्पन्न होती हैं। पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की वैदिक देवताओं के विषय में यही धारणा है कि वे भौतिक जगत् के—प्राकृतिक दृश्यों के—अधिष्ठाता हैं। भौतिक घटनाओं की उपपत्ति के लिए उन्हें देवता मान लिया गया है। ऋग्वेद के आदिम काल में बहुत देवताओं की सत्ता मानी जाती थी जिसे वे पॉलीथीज़म (बहुदेववाद) की संज्ञा देते हैं। कालान्तर में जब वैदिक आर्यों का मानसिक विकास हुआ तब उन्होंने इन बहु देवताओं के अधिपति या प्रधान के रूप में एक देवता–विशेष की कल्पना की। इसी का नाम है—मॉनोथीज़म (एकेश्वर-वाद)[१]। अतः बहुदेवतावाद के बहुत काल के पीछे एकदेववाद का जन्म हुआ और उसके भी अवान्तरकाल में सर्वेश्वरवाद (पैनूथीज़म) की कल्पना की गई। सर्वेश्वरवाद का सूचक पुरुष सूक्त दशम मण्डल का ९० वाँ सूक्त है जो पाश्चात्य गणना के हिसाब से दशतयी के मण्डलों में सब से अधिक अर्वाचीन है।

---

१ मैकडोनल—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० ११६–१३८।

पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में वैदिक देवतावाद की उत्पत्ति तथा विकास का यही संक्षिप्त क्रम है, परन्तु हमारी यह दृढ़ धारणा है कि वैदिक धर्म का यह विकासक्रम नितान्त निराधार है, देवतातत्त्व के न जानने का ही यह परिणाम है। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि देवता की कल्पना इतनी भौतिक न थी जितनी वे लोग बतलाते हैं।

यास्क ने निरुक्त दैवत-काण्ड (सप्तम अध्याय) में देवता के स्वरूप का विवेचन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है। इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने से ईश्वर कहलाती है। वह एक, अद्वितीय है। उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है—

> माहाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
> एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥ (७।४।८,९)

अतः यास्क की सम्मति में देवतागण एक ही देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। बृहद्देवता निरुक्त के कथन का अनुमोदन करती है।[1] परन्तु पिछले साहित्य के निरीक्षण की आवश्यकता नहीं, ऋग्वेद के अध्ययन से ही हम देवताओं का यह रहस्य भली भाँति समझ सकते हैं।

सर्वव्यापी सर्वात्मक ब्रह्मसत्ता का निरूपण करना ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है। यही 'कारणसत्ता' कार्यवर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न-भिन्न आकारों से परिलक्षित हो रही है। प्रकृति की कार्यावली के मूल में एक ही सत्ता है, एक ही नियन्ता है, एक ही देवता वर्तमान है; अन्य सकल देवता इसी मूलभूत सत्ता के विकाशमात्र हैं। इस महत्त्वपूर्ण

१ बृहद्देवता—अध्याय १, श्लोक ६१–६५

सिद्धान्त का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न प्रकारों से वैदिक ऋषियों ने किया है। ऐतरेय आरण्यक ने[1] स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है—"एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग 'उक्थ' में किया करते हैं, उसी को यजुर्वेदी लोग याज्ञिक अग्नि के रूप में उपासना किया करते हैं तथा सामवेदी लोग 'महाव्रत' नामक याग में उसी की उपासना किया करते हैं।" शंकराचार्य ने (१।१।२५ सूत्र के भाष्य में) इस मंत्र का उल्लेख किया है। ऋग्वेद का प्रमाण इस विषय में नितान्त सुस्पष्ट है।

देवतागण को ऋग्वेद में 'असुर' कहा गया है[2]। 'असुर' का अर्थ असुविशिष्ट अथवा प्राणशक्ति-सम्पन्न है। इन्द्र, वरुण, सविता उषा आदि देवता असुर हैं। देवताओं को बल-स्वरूप कहा गया है। देवतागण अविनश्वर शक्तिमात्र हैं। वे आतस्थिवांसः (स्थिर रहने वाले), अनन्तासः (अनन्त), अजिरासः, उरवः विश्वतस्परि (५।४७।२) कहे गये हैं। वे विश्व के समस्त प्राणियों को व्याप्त कर स्थित रहते हैं। उनके लिए 'सत्य' 'ध्रुव' 'नित्य' प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया गया उपलब्ध होता है। इतनी ही नहीं, एक समस्त सूक्त (ऋ० वे० तृतीय मण्डल ५५वाँ सूक्त) में देवताओं का 'असुरत्व' एकही माना गया है। 'असुरत्व' का अर्थ है बल या सामर्थ्य। देवताओं के भीतर विद्यमान सामर्थ्य एकही है, भिन्न-भिन्न, स्वतन्त्र, नहीं है। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यही पद बार-बार आता है—महद् देवानामसुरत्वमेकम् = देवों का महत्

१ एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः—ऐतरेय आरण्यक (३।२।३।१२)

२ तद् देवस्य सवितुः असुरस्य प्रचेतसः (४।५३।१)
(पर्जन्यः) असुरः पिता नः (५।८३।६)
महद् विष्णोः (इन्द्रस्य) असुरस्य नामा (३।३८।४)

सामर्थ्य एक ही है। एक ही महामहिम-शालिनी शक्ति के विकसित रूप होने से उनकी शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, प्रत्युत उनके भीतर विद्यमान शक्ति एक ही है। "जीर्ण ओषधियों में, नवीन उत्पन्न होनेवाली ओषधियों में पल्लव तथा पुष्प से सुशोभित ओषधियों में तथा गर्भ धारण करने वाली ओषधियों में एक ही शक्ति विद्यमान रहती है। देवों का महत् सामर्थ्य वस्तुतः एक ही है।"

ऋग्वेद में 'ऋत' की बड़ी मनोरम कल्पना है। ऋत का अर्थ है सत्य, अविनाशी सत्ता। इस जगत् में 'ऋत' के कारण ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है[1]। सृष्टि के आदि में 'ऋत' ही सर्व-प्रथम उत्पन्न हुआ[2]। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व यही 'ऋत' ही है। इस 'ऋत' की सत्ता के कारण ही विषमता के स्थान पर समता का, अशान्ति की जगह शान्ति का, साम्राज्य विराजमान है। इस सुव्यवस्था का कारण क्या है? 'ऋत' अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म। देवतागण भी ऋत के स्वरूप हैं या ऋत से उत्पन्न हुए हैं। सोम ऋत के द्वारा उत्पन्न (ऋत-जात) तथा वर्धित होते हैं, वे स्वयं ऋत-रूप हैं (ऋग्वेद ९।१०८।८) सूर्य ऋत का ही विस्तार करते हैं तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं[3] (ऋ० वे० १।१०५।१५)। सकल देवताओं के सकल कार्यों के अन्तर में यही ऋत या कारणसत्ता अनुप्रविष्ट हैं। इसी सत्ता का अव-लम्बन कर कार्य-वर्ग अपनी स्थिति बनाये हुए हैं।

ऋग्वेद में देवताओं के द्विविध रूप का वर्णन मिलता है—एक तो स्थूल दृश्य रूप है और दूसरा सूक्ष्म अदृश्य गूढ़ रूप है। उनका जो रूप

१. द्रष्टव्य ऋ० वे० ३।५५।५.

२. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ऋ० वे० १०।१९०।१।

३. ऋतमर्षन्ति सिन्धवः।

हमारे नेत्रों के सामने आता है वह है उनका स्थूल रूप (या आधिभौतिक रूप), परन्तु जो रूप हमारी इन्द्रियों से अतीत है, भौतिक इन्द्रियों में जिसे ग्रहण करने की शक्ति नहीं है, वह है उनका गूढ़रूप (आधिवैदिक रूप)। इनसे अतिरिक्त एक तृतीय प्रकार—आध्यात्मिक रूप—का भी परिचय किन्हीं मन्त्रों में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए विष्णु, सूर्य तथा अग्नि के द्विविध रूप की समीक्षा कीजिए। जिस रूप में *विष्णु* ने पार्थिव लोकों का निर्माण किया, 'उत्तर सधस्थ' अन्तरिक्ष को स्थिर किया तथा तीन क्रमों से इस विश्व को माप डाला, वह उनका एक रूप है[1], परन्तु इससे अतिरिक्त उनका 'परम पद' है जहाँ विष्णु का सूक्ष्म रूप निवास करता है। उस लोक में विष्णु के भक्त लोग अमृत पान करते हुए आनन्दानुभव किया करते हैं। उसमें मधुचक्र है—अमृत-कूप है[2]। उस परमपद को ज्ञानसम्पन्न जागरणशील विप्रलोग विद्वज्जन ही जानते हैं[3]। विष्णु के परमपद की प्राप्ति ब्रह्म की ही उपलब्धि है। इसीलिए श्रुति विष्णु को हमारा सच्चा बन्धु बतलाती है।

इसी प्रकार *सूर्य* के त्रिविध रूपों का नितान्त स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। ऋषि अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य के तीन रूपों का वर्णन करते हैं—उत्, (उत् + तर) उत्तर, (उत् + तम) उत्तम, जो क्रमशः माहात्म्य में बढ़कर हैं। सूर्य के उस ज्योति का नाम 'उत्' है जो इस भुवन के अन्धकार के अपनयन में समर्थ होती है। देवों के मध्य में जो देव-रूप से निवास करती है वह 'उत्तर' है, परन्तु इन दोनों से बढ़कर

---

१. ऋ० वे० १।१५४।१

२. ,, ,, ,, ।५

३. तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम्॥ ऋ० वे० १।२२।२१।

एक विशिष्ट ज्योति है, उसकी संज्ञा इस मन्त्र में 'उत्तम' है। अतः ये तीनों शब्द सूर्य के कार्यात्मक, कारणात्मक तथा कार्य-कारण से अतीत अवस्था के द्योतक हैं। अतः इस एक ही मन्त्र में सूर्य के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूपों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है[1]। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (जंगम तथा स्थावर समस्त विश्व का आत्मा सूर्य है) इस मंत्र का लक्ष्य क्या आधिभौतिक सूर्य है? 'आत्मा' शब्द स्पष्टतः सूर्य के परमात्म-तत्त्व को लक्ष्य कर प्रयुक्त किया गया है।

अग्नि के इसी प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की मनोरम कल्पना ऋग्वेद में मिलती है। ऐतरेय आरण्यक का कहना है कि अग्नि दो प्रकार का होता है—(१) तिरोहित अग्नि और (२) पुरोहित अग्नि। 'तिरोहित' शब्द अग्नि के अव्यक्त, गूढ़ तथा सूक्ष्म रूपका परिचायक है। अतः पुरोहित अग्नि व्यक्त, पार्थिव अग्नि का प्रतिपादक है। 'अग्निमीडे पुरोहितम्' मन्त्र में पुरोहित अर्थात् अभिव्यक्त, पार्थिव अग्नि की सत्ता का निर्देश किया गया है[2]।

इन प्रमाणों के आधार पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि देवताओं की भौतिक दृश्यों के अधिष्ठाता या प्रतीक रूप में जो पाश्चात्य कल्पना है वह निर्मूलक है तथा उसी के साथ वैदिकधर्म के विकास का कल्पित क्रम भी उतना ही निःसार है। सच बात तो यह है कि ऋग्वेद इस विश्व के

---

१. उद् वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

—ऋ० वे० १।२०।१०.

२. देवतातत्त्व के विशद विवेचन के लिए देखिए कोकिलेश्वर शास्त्री—अद्वैतवाद (बँगला), पञ्चम अध्याय।

एक अनुपम-शक्तिशाली नियन्ता से परिचित है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अतः वैदिक धर्म अद्वैत-तत्त्व के ऊपर ही अवलम्बित है। नाना के बीच में एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना—दार्शनिक जगत् में एकदम मौलिक तत्त्व है और इस निगूढ़तम तत्त्व के अनुसन्धान करने का समस्त गौरव हमारे वैदिक-कालीन आर्षचक्षुःसम्पन्न महर्षियों को ही है।

तृतीय परिच्छेद

ब्राह्मण

प्राचीन ऋषियों ने वेद की परिभाषा बतलाते हुये लिखा है कि वेद मन्त्र और ब्राह्मण को कहते हैं:—मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः। मन्त्र से अभिप्राय क्रियाओं के तन्त्र प्रकट करने वाले अपौरुषेय वाक्यों से है—व्यावृतक्रियातन्त्राः मन्त्राः। इन मंत्रों का दर्शन हमें संहिता के रूप में होता है। इन संहिताओं का वर्णन गत परिच्छेद में विस्तार के साथ किया जा चुका है।

'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ है वे ग्रंथ जिनका संबंध ब्रह्म से है। नाना अर्थ-वाले इस ब्रह्मशब्द का एक अर्थ यज्ञ भी है। ब्रह्म का॰ युत्पत्तिलभ्य अर्थ है जो बढ़ाया जाय या बढ़े (बृहू वर्धने)। यज्ञ के लिये प्रयुक्त 'वितान' शब्द इस ब्रह्म शब्द का समानार्थक ही है। इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि ब्राह्मणों का प्रधान लक्ष्य यज्ञ का विस्तृत विवेचन है। यह बात बिल्कुल ठीक भी है। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ-यागादिकों के विधानों का जितना विस्तृत तथा व्यापक वर्णन उपलब्ध होता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। राजशेखर के अनुसार ब्राह्मण की परिभाषा यह है—"मंत्राणां स्तुतिनिन्दा–व्याख्यान विनियोगग्रन्थो ब्राह्मणम्।" अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों की स्तुति, निन्दा, व्याख्यान तथा विनियोग पाये जाते हैं। ब्राह्मण ग्रंथोंमें मंत्रोंके अर्थ

का भी बड़ी सुन्दरताके साथ प्रतिपादन किया गया मिलता है। वेद के मंत्र गूढ़ तथा सूक्ष्म हैं। उनके अर्थ का प्रथम प्रतिपादन हमें इन्हीं ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है। यदि ब्राह्मण न हों, तो वेदों का अर्थ समझना अत्यन्त कठिन हो जाय। वैदिक शब्दों का प्रथम निर्वाचन—व्युत्पत्ति—सर्वप्रथम इन्हीं ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इसी प्रसंग में बहुत से प्राचीन आख्यान—जिनका संकेतमात्र संहिताओं में है—ब्राह्मणों में विस्तार के साथ वर्णित हैं। उदाहरण के लिये शुनःशेष तथा उर्वशी के आख्यान को लीजिये। शुनःशेप का आख्यान ऋग्वेद के प्रथम मण्डल (सूक्त२३–२४) में सूक्ष्म तथा संक्षिप्त रूप से दिया गया है। इसीका विस्तार ऐतरेय ब्राह्मण के शुनः शेप उपाख्यान में पाया जाता है। उर्वशी और पुरुरवा का कथनोपकथन ऋग्वेद के दशम मण्डल के केवल एक सूक्त (९५) में है परन्तु इसी का विस्तृत रूप हमें शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड विस्तार से मिलता है। यज्ञ, यागादि संबंधी विषयों के अतिरिक्त इन ग्रंथों में समाजशास्त्र, देवतातत्त्व (माइथोलोजी) तथा निरुक्ति आदि अनेक मनोरंजक बातें उपलब्ध होती हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के तीन भेद हैं:—

(१) ब्राह्मण (२) आरण्यक तथा (३) उपनिषद्।

'आरण्यक' शब्द का अर्थ है अरण्य—जंगल—में पढ़ने योग्य ग्रंथ। आरण्यक ब्राह्मणों के वे भाग हैं जिनमें यज्ञ का अध्यात्मतत्त्व समझाया गया है। यह अरण्य में निवास करनेवाले वानप्रस्थ आश्रम में रहनेवाले लोगों के लिये है। उपनिषद् ब्राह्मणों के अन्तिम भाग हैं जिनमें वेद के अध्यात्मतत्त्व का विवेचन साङ्गोपाङ्ग रूप में किया गया है। भारतीय धार्मिक साहित्य में वेद के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन करने के कारण

प्रस्थानत्रयी में ये प्रथम प्रस्थान के रूप में ग्रहण किये गये हैं।

ब्राह्मण-साहित्य किसी समय में बहुत ही विस्तृत था। परन्तु आजकल बहुत से प्राचीन ब्राह्मण लुप्त हो गये हैं। उपलब्ध ब्राह्मणों में कतिपय महत्त्वपूर्ण ब्राह्मणों का वर्णन यहाँ दिया जाता है:—

(१) ऐतरेय ब्राह्मण—यह ऋग्वेद का ब्राह्मण है। इसमें ४० अध्याय हैं जो ८ पञ्चकों विभक्त हैं। महीदास ऐतरेय इसके रचयिता कहे जाते हैं। परन्तु वस्तुतः वे इसके संग्रहकर्ता ही हैं। यह ब्राह्मण सोमयागों का विशेषरूप से वर्णन करता है। राजसूय यज्ञ के प्रसंग में शुनःशेप का आख्यान यहाँ बड़े विस्तार के साथ दिया हुआ है। अन्तिम पंचिका में 'ऐन्द्र महाभिषेक' का विस्तृत वर्णन मिलता है, जो प्राचीन भारत के राजनैतिक इतिहास जानने के लिये बड़ा ही उपयोगी है।

(२) कौषीतकि या सांख्यायन ब्राह्मण—यह ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण है। इसमें केवल ३० अध्याय हैं। विषय ऐतरेय ब्राह्मण से मिलता है। इन्हीं दो ब्राह्मणों से संबद्ध दो आरण्यक भी हैं जो ऐतरेय आरण्यक और सांख्यायन आरण्यक के नाम से विख्यात हैं।

(३) ताण्ड्य या पञ्चविंश ब्राह्मण—सामवेद से संबद्ध अनेक छोटे-मोटे ब्राह्मण हैं। सबसे बड़ा ब्राह्मण यही ताण्ड्य ब्राह्मण हैं। पचीस अध्यायों में विभक्त होने के कारण यह 'पञ्चविंश' ब्राह्मण कहलाता है। इसमें वर्णित यागों में व्रात्यस्तोम बड़े महत्त्व का है। किस प्रकार व्रात्य लोग ब्राह्मण समाज में ग्रहण किये जाते थे, उसका विस्तृत विवरण इन स्तोमों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी का पूरक है—

(४) षड्विंश ब्राह्मण—इसके अन्तिम खण्ड को 'अद्भुतब्राह्मण' कहते हैं जिसमें शकुन, अलौकिक घटनाओं तथा उत्पात आदिका वर्णन पाया जाता है।

(५) तैत्तिरीय ब्राह्मण—इसका संबंध कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से है। यह तैत्तिरीय संहिता ही का उत्तर भाग है क्योंकि इस शाखा में संहिता के भीतर ही ब्राह्मण निविष्ट किये गये हैं। इसके आरण्यक भाग का नाम तैत्तिरीय आरण्यक है।

(६) शतपथ ब्राह्मण—इसका संबंध शुक्ल यजुर्वेद के साथ है। विस्तार तथा विषय की दृष्टि से ब्राह्मण साहित्य में यह ग्रन्थ अद्वितीय है। इसमें सौ अध्याय हैं। इसीलिये यह ब्राह्मण 'शतपथ' कहलाता है। इसमें १४ काण्ड हैं जिनमें आरंभ के नव काण्ड तो शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के आरंभिक १८ अध्यायों की व्याख्या हैं। अन्तिम काण्डों में यज्ञ-याग के अवसर पर शाण्डिल्य ऋषि विशेष उपदेष्टा के रूप में ग्रहीत हैं। दशमकाण्ड में अग्नि-रहस्य के वे प्रतिपादक बतलाये गये हैं। इसमें अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। वेदकालीन धार्मिक समाज का उज्ज्वल चित्र इस ब्राह्मण के पृष्ठों में चित्रित किया गया है।

(७) गोपथ ब्राह्मण—यह अथर्ववेद का ब्राह्मण है। इसके दो खंड हैं जिनमें पहिले में केवल पाँच अध्याय हैं और दूसरे में केवल छः। कुछ विद्वान् लोग ब्राह्मण साहित्य में इस ब्राह्मण को कुछ अर्वाचीन बतलाते हैं।

ब्राह्मणों तथा आरण्यकों की समीक्षा करने से हम उनके सिद्धान्तों का भलीभांति परिचय पाते हैं। इस युग में वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा पर्याप्त मात्रा में सम्पन्न की गई। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१२।३) ने चारों वर्णों के साथ चारो आश्रमों के कर्तव्यों का वर्णन किया है। ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड का खूब विस्तार है। यज्ञ का महत्त्व इतना ही नहीं है कि वह किसी देवता-विशेष के उद्देश्य से द्रव्य का त्यागरूप है, प्रत्युत वह विश्व के नियामक रूप में ग्रहण किया गया है। समस्त विश्व ही यज्ञ-रूप

है। यज्ञ के कारण देवता लोग अपने-अपने अधिकारों का निर्वाह करते हैं। यज्ञ की निष्पत्ति से समस्त विश्व का कल्याण-साधन होता है। यज्ञ विष्णु का रूप बतलाया गया है (विष्णुर्वै यज्ञः); आरण्यकों में यज्ञ की दार्शनिक व्याख्या है तथा उसके रहस्यों की यथार्थ मीमांसा है। आरण्यकों में कर्मों से उत्पन्न फल के प्रति अश्रद्धा का भाव दीख पड़ता है। स्वर्ग के क्षय होने से कर्ममार्ग आत्यन्तिक सुख का सम्पादक नहीं माना जा सकता। अतः कर्म से लोगों की अभिरुचि हटने लगी और ज्ञान-मार्ग की ओर उनका ध्यान आकृष्ट होने लगा। अतः ज्ञान-कर्म के समन्वय की जो बात उपनिषत् काल में प्रधानतया विद्यमान है उसका आरम्भ इसी युग में हो गया था।

उपनिषद्

वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। इन ग्रन्थ-रत्नों में वैदिक ऋषियों ने अध्यात्म विद्या के गूढ़तम रहस्यों का विशद विवेचन किया है। भारतीय तत्त्व-ज्ञान का मूल स्रोत इन्हीं उपनिषदों में है। उपनिषद् वास्तव में आध्यात्मिक मानसरोवर हैं जिससे भिन्न-भिन्न ज्ञान सरितायें निकल कर इस पुण्य-भूमि आर्यावर्त में मानव मात्र के ऐहिक अभ्युदय तथा आमुष्मिक कल्याण साधन के लिए प्रवाहित होती हैं। हिन्दू दर्शन में *तीन प्रस्थान* ग्रन्थ हैं जो वैदिक धर्मानुसार गन्तव्य मार्ग तथा उसके साधन के प्रतिपादक हैं। भारतीय विचार शास्त्र के लिए सर्वश्रेष्ठ उपजीव्य ग्रन्थ होने के कारण उपनिषद् प्रस्थान त्रयी के अन्तर्गत प्रथम प्रस्थान के रूप में गृहीत किये गये हैं। द्वितीय प्रस्थान श्रीमद्भगवद्गीता है जो समस्त उपनिषद्रूपी धेनुओं का वत्स-रूपी पार्थ के लिए भगवान् गोपाल कृष्ण के द्वारा दूहा गया सुधासहोदर

महत्त्व

सारभूत दूध है। तृतीय प्रस्थान बादरायण व्यास-विरचित ब्रह्मसूत्र है जिसमें आपाततः विरोधी उपनिषद्-वाक्यों का समन्वय तथा एकमात्र अभिप्राय ब्रह्म में दिखलाकर अन्य तार्किकों की युक्तियों का प्रबल खण्डन किया गया है। इसी प्रस्थान-त्रयी—उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र—पर भारतीय वैदिक-धर्म तथा दर्शन आवम्बित है, परन्तु गीता तथा ब्रह्मसूत्र के उपनिषदों पर आश्रित होने के कारण उपनिषदों का महत्त्व सबसे अधिक है। इसीसे नवीन मत के संस्थापक आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की प्रमाणिकता तथा अक्षुण्णता प्रदर्शित करने के लिये इन तीनों ग्रन्थ-रत्नों पर स्वमतानुकूल भाष्य की रचना की हैं।

'उपनिषद्' का अर्थ

उपनिषद् शब्द उप तथा नि उपसर्गक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न हुआ है। सद् धातु के तीन अर्थ होते हैं—विशरण = नाश होना, गति = प्राप्ति, अवसादन = शिथिल करना। उपनिषद् का अर्थ है अध्यात्मविद्या। जिस विद्या के अध्ययन करने से दृष्टानुश्रविक विषयों से वितृष्ण मुमुक्षुजनों की संसार-बीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके परिशीलन से गर्भवासादि दुःख-वृन्दों का सर्वथा शिथिलीकरण हो जाता है, वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है[१]। शङ्कराचार्य के इस व्याख्यान के अनुसार उपनिषद् का मुख्य अर्थ है ब्रह्मविद्या तथा गौण-अर्थ है[२]—ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष। ब्रह्म के स्वरूप, उससे उत्पन्न जीव तथा जगत् के साथ उसका वास्तविक सम्बन्ध, ब्रह्म की प्राप्ति के

१. द्रष्टव्य कठोपनिषद् तथा तैत्तिरीय उपनिषद् के शाङ्करभाष्य का उपोद्घात।

२. तस्माद् विद्यायां मुख्यया वृत्या उपनिषच्छब्दो वर्तते, ग्रन्थे तु भक्त्या—कठभाष्य पृ. २।

उपाय, आदि विषयों का विस्तृत तथा विशद वर्णन इन ग्रन्थों में किया गया है। अतः इनकी 'उपनिषद्' संज्ञा अन्वर्थक है।

प्रचीन काल में प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना खास उपनिषद् था, परन्तु आजकल उतने उपनिषदों की उपलब्धि नहीं होती। मुक्तिकोपनिषद्

संख्या

में उपलब्ध उपनिषदों की सूची दी गई है[1]। उसके अनुसार उपनिषद् १०८ हैं जिनमें १० उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं, १९ शुक्लयजुर्वेद से, ३२ कृष्णयजुर्वेद से, १६ सामवेद से तथा ३१ अथर्ववेद से। परन्तु मुक्तिकोपनिषद् के ही अध्ययन से पता चलता है कि उपनिषदों की संख्या कहीं अधिक थी। अष्टोत्तर शत उपनिषद् तो उपनिषत्साहित्य के सारभूत हैं[2]। कतिपय वर्ष हुए अड्यार (मद्रास) की थिआसोफिकल सोसायटी ने अप्रकाशित उपनिषदों को प्रकाशित किया है, जो संख्या में लगभग साठ हैं और जिनमें कतिपय उपनिषदों का अनुवाद दाराशिकोह (बादशाह शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र) ने फारसी भाषा में १७ वीं शताब्दी में किया था।

इन १०८ उपनिषदों में भी बारह-तेरह उपनिषद् विषय-प्रतिपादन की विशदता तथा प्राचीनता के विचार से नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। ऋग्वेदीय उपनिषदों में ऐतरेय तथा कौषीतकि, साम-उपनिषदों में छान्दोग्य तथा केन, कृष्णयजुः उपनिषदों में तैत्तिरीय, महानारायण, कठ, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणी, शुक्लयजुर्वेद के ईशावास्य तथा बृहदारण्यक; अथर्वउपनिषदों में मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न नितान्त प्रसिद्ध, प्राचीन तथा

---

१ मुक्तिकोपनिषद् प्रथम अध्याय (उपनिषत्संग्रह पृ० ५५८-५५९)

२ सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्।
सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम्॥
—मुक्तिकोपनिषद् (१।४४)

प्रामाणिक स्वीकार किये गये हैं। शङ्कराचार्य ने इन ११ उपनिषदों पर ही भाष्य लिखा है—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय; ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा नृसिंह-पूर्वतापनी। इनके अतिरिक्त अपने भाष्यों में उन्होंने लगभग ६ अन्य उपनिषदों को प्रमाण के लिये उद्धृत किया है। इनमें शङ्कराचार्य के द्वारा व्याख्यात उपनिषद्-ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वशाली माने जाते हैं तथा लोकप्रिय होने से उन्हीं का पठनपाठन विशेषतया आजकल होता है। इनमें भी *छान्दोग्य* तथा *बृहदारण्यक* सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन स्वीकृत किये जाते हैं। कुछ उपनिषद् गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्यपद्यात्मक। उपनिषदों के रचनाकाल के विषय में आलोचकों में पर्याप्त मतभेद है। इतना तो निश्चित है कि प्रधान उपनिषदों की रचना बुद्ध के आविर्भाव से बहुत पहले हो चुकी थी, परन्तु समस्त उपनिषदों का निर्माण एक काल का विषय न होकर अनेक शताब्दियों के उद्योग का परिणाम है। विषय वर्णन की दृष्टि से उपनिषदों का श्रेणीविभाग किया जा सकता है। कुछ उपनिषद् वेदान्त (आत्मा तथा ब्रह्म के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध) प्रतिपादक हैं, कुछ योग के स्वरूप विवेचन में निरत हैं, परन्तु उपनिषदों की महती संख्या विष्णु, शिव तथा शक्ति परक है।

उपनिषदों के प्रतिपाद्य सिद्धान्त को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने बड़ी छानबीन की है। भारतीय टीकाकार उपनिषदों में एक ही प्रकार के

मुख्य तात्पर्य

सिद्धान्तों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में अद्वैत श्रुति, विशिष्टाद्वैत श्रुति तथा द्वैत श्रुतियों का सद्भाव है, इसे कोई भी विद्वान् अस्वीकार नहीं कर सकता। ये सब श्रुतियाँ युक्तियुक्त हैं। केवल दृष्टिकोण का ही भेद है। आचार्यों ने स्वसिद्धान्त प्रतिष्ठापक श्रुतियों को प्रधानत्वेन स्वीकृत किया है तथा अन्य

श्रुतियों को गौण मानकर उनकी उपपत्ति दिखाई है। श्रीशङ्कराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य लिखकर उनमें अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। श्रीरामानुजाचार्य ने स्वयं उपनिषदों पर भाष्य की रचना तो नहीं की है, परन्तु अवान्तरकाल में उनके शिष्यों ने विशिष्टाद्वैतानुसार वृत्तियाँ लिखी हैं। रामानुज के व्याख्यानानुसार उपनिषद् शिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। श्रीमध्वाचार्य ने कतिपय प्रधान उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। उनकी दृष्टि में इन ग्रन्थरत्नों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म तथा आत्मा की भिन्नता—द्वैतता—प्रतिपादन में है। आधुनिक आलोचकों के मत से उपनिषदों में समस्त दर्शनों के बीज निहित हैं। इन्हीं सूक्ष्म सूचनाओं को ग्रहण कर पीछे के दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को पल्लवित किया है तथा उन्हें स्वतन्त्ररूपेण प्रतिष्ठित किया है। आस्तिक दर्शनों की कथा कौन कहे, जैन तथा बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शनों के भी मूल सिद्धान्तों की उपलब्धि उपनिषदों में होती है। सच्ची बात तो यह है कि उपनिषद् वैदिक कालीन ऋषियों के आध्यात्मिक विचारों के बहुमूल्य भाण्डागार हैं। इन विचारों में सुव्यवस्था होने पर भी कहीं-कहीं विकीर्णता है। ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभव सूत्ररूपेण इन ग्रन्थों में वर्णित हैं। अतः इन उपदेशों में सामञ्जस्य का अभाव होना नितान्त स्वाभाविक है। तथापि उपनिषदों की तारतम्य परीक्षा से उनके मूलभूत सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

(१) आत्म-तत्त्व

उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का विवेचन बड़ी छान-बीन के साथ किया गया है। आत्मा की सत्ता इसी जीवनकाल तक विद्यमान रहती है अथवा इस जीवन की समाप्ति के पश्चात् भी उसका निवास बना रहता है?

इस समस्या की मीमांसा कठोपनिषद् में बड़ी सुन्दर रीति से की गई है। नचिकेता ने यमराज से इसी समस्या को सुलझाने के लिए आग्रह किया। मृत्यु सब रहस्यों का रहस्य है। इसका यथोचित विवेचन यमराज ने स्वयं किया है। आत्मा नित्य वस्तु है, न वह कभी मरता है, न कभी अवस्थादिकृत दोषों को प्राप्त होता है। वह विषयग्रहण करने वालीं हमारी समस्त इन्द्रियों से, संकल्पविकल्पात्मक मन से, विवेचनात्मक बुद्धि से तथा हमारी सत्ता के कारण-भूत इन प्राणों से पृथक् है। एक रमणीय रूपक के द्वारा इस तत्त्व का वर्णन किया गया है। "यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन प्रग्रह (लगाम) है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं जो विषयरूपी मार्ग पर चला करते हैं और आत्मा रथस्वामी है[१]"। आत्मा को रथी बतलाकर यम ने आत्मा की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की है। रथस्वामी के कार्य के लिए ही रथादि वस्तुओं का व्यापार हुआ करता है, उसी प्रकार रथी-स्थानीय आत्मा के लिए ही शरीरादि विषयों का व्यापार होता है। बाह्य-विषयों से आरम्भ कर श्रेष्ठताक्रम से विचार करने पर आत्मा ही सब से श्रेष्ठ ठहरता है।

'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति

'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने से इसके स्वरूप का यथार्थ परिचय मिलता है। अनेक कारणों से यह नामकरण किया गया है। शङ्कराचार्य ने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत कर समस्त व्युत्पत्तियों को एक साथ प्रदर्शित

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान् तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
—कठोपनिषद् ३। ३-४।

किया है। आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहता है (आप्नोति); समस्त वस्तुओं को अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेता है आदत्ते); स्थिति-काल में वह विषयों को खाता है अर्थात् अनुभव करता है (अत्ति) तथा इसकी सत्ता निरन्तर रहती है (सन्ततो भावः)। इन्हीं कारणों से आत्मा का 'आत्मत्व' है[1]। कल्पित वस्तु की सत्ता की सिद्धि के लिए अधिष्ठान की सत्ता अवश्य मानी जाती है। कल्पित सर्प की सत्ता के लिए तदधिष्ठानभूत रज्जु की सत्ता निरन्तर रहती है, उसी प्रकार कल्पित जगत् की सत्ता मानने के लिए आत्मा का निरन्तर भाव, सन्तत सत्ता (नित्यता) स्वीकृत की गयी है। आत्मा की सत्ता के कारण प्राणीमात्र जीवन धारण करता है। "कोई भी मर्त्य न तो प्राण से जीवित रहता है और न अपान से जीवित रहता है, प्रत्युत वह उस तत्त्व के सहारे जीवित रहता है जिसमें ये दोनों प्राण तथा अपान आश्रित रहते हैं" और वह तत्त्व कौन है ? आत्मा (कठ० उप० २।२।५)।

आत्मा के स्वरूप का विवेचन उपनिषदों में बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। ऋषियों ने चेतना के चार स्तर बतलाये हैं। तीन निम्नकोटि के चैतन्य में आत्मा का निवास नहीं रहता, परन्तु सब से उच्चकोटि के चैतन्य में आत्मस्वरूप की तात्त्विक उपलब्धि होती है। शरीर—चैतन्य, स्वप्न-चैतन्य तथा सुषुप्ति-चैतन्य से सर्वथा पृथक् होकर आत्मचैतन्य अपने शुद्ध अमिश्रित रूप से विद्यमान रहता है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए

शुद्ध आत्मा की चैतन्य-स्वरूपता

१. यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥
कठ० उप० (२।१।१)—शाङ्करभाष्य।
द्रष्टव्य—विद्यारण्य—ऐतरेयदीपिका पृ० ६३–६४

छान्दोग्य उपनिषद् में (८।७) एक बड़ी रोचक आख्यायिका वर्णित है। देवता तथा असुरों ने आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से प्रेरित होकर इन्द्र तथा विरोचन को प्रजापति के पास भेजा। प्रजापति ने बत्तीस वर्ष की कठोर तपस्या के अनन्तर आत्मतत्त्व को सिखलाया कि आँख में, जल में तथा आदर्श (दर्पण, शीशा) में जो पुरुष दीख पड़ता है वही आत्मा है। विरोचन इस शिक्षा से सन्तोष हो गया, परन्तु इन्द्र के मनमें शङ्का का उदय हुआ कि सुन्दर अलङ्कारों से शरीर को विभूषित करने पर आत्मा विभूषित प्रतीत होता है, परन्तु क्या शरीर ही आत्मा है? यदि शरीर तथा आत्मा का तादात्म्य होता, तो शरीर में अन्धत्व, काणत्व आदि दोषों के विद्यमान रहने पर आत्मा में भी इन दोषों को मानना पड़ेगा। इस शङ्का के निरास करने के लिए प्रजापति ने स्वप्न-चैतन्य को आत्मा बतलाया, परन्तु दोष का निरास न हो सका; क्योंकि स्वप्न में हम दुःख का अनुभव करते हैं, आँखों से अश्रुधारा बहाते हैं, परन्तु आनन्द-रूप आत्मा में क्या दुःख का संस्पर्श स्वीकार किया जा सकता है? इन्द्र के पुनः आनेपर प्रजापति ने सुषुप्ति काल में विद्यमान चैतन्य को आत्मा बतलाया। परन्तु विचार करने पर इन्द्र के मनमें शंका का पुनः उदय हुआ। सुषुप्ति काल में न तो अपनी ही सत्ता का ज्ञान रहता है और न बाह्य वस्तुओं का। उस समय तो जीव काठ के कुन्दे की तरह चैतन्य-हीन प्रतीत होता है। इतनी शंका करने पर, अन्त में, प्रजापति ने वास्तविक तत्त्व को समझाया कि इन तीनों चैतन्यों से पृथक्भूत जो उपाधि-विरहित शुद्ध चैतन्य है, आत्मा तद्रूप ही है। आत्मा स्वचैतन्य रूप है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न चैतन्य को ही आत्मा बतलाया है, परन्तु वास्तविक आत्मा इन सबसे भिन्न शुद्ध चैतन्य रूप है।

माण्डूक्य उपनिषद् में भी शुद्ध आत्मा को 'तुरीय' बतलाया गया

है। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति उसी आत्मा की विभिन्न अवस्थायें हैं।

आत्मा की चार अवस्थायें

जाग्रत दशा में आत्मा बाह्य वस्तुओं का अनुभव करता है, स्वप्नदशा में आभ्यन्तर मानस जगत् का अनुभव करता है, सुषुप्ति (घोर निद्रितावस्था) में वह अपने केवल आनन्द-स्वरूप का अनुभव करता है। ये तीनों दशायें आत्मा की अपर अवस्थाओं को सूचित करती हैं और इनमें आत्मा को क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ कहते हैं। परन्तु इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा के अंशमात्र का परिचय प्राप्त होता है परन्तु पूर्ण आत्मा में उन सब गुणों का अभाव रहता है जो इन दशाओं में उपलब्ध होते हैं। "उस समय न तो बाह्य चेतना रहती है न अन्तः चेतना, और न दोनों का संमिश्रण, न प्रज्ञा रहती है ओर न अप्रज्ञा। अदृष्ट, अग्राह्य, अव्यवहार्य, अलक्षण (लक्षण या चिह्न से विरहित), अचिन्तनीय, अव्यपदेश्य (नाम रहित), केवल आत्म-प्रत्ययसार (एक आत्मा की ही सत्ता का केवल भान होता है), प्रपञ्चोपशम (जहाँ समस्त बाह्य जगत् शान्त रहता है), शान्त शिव, अद्वैत यह चतुर्थ कहा जाता है, यही आत्मा है, इसे ही जानना चाहिए" (माण्डूक्य उप० ७)। इस आत्मा को तुरीय (जाग्रतादि अवस्थात्रय से पृथक् होने के कारण चतुर्थ) कहते हैं। यह आत्मा कूटस्थ-अविकारी है और इसी कूटस्थ आत्मा की एकता निर्गुण-ब्रह्म से सर्वतोभावेन सिद्ध मानी जाती है। ओङ्कार इसी आत्मा का द्योतक अक्षर है।

(२) ब्रह्म-तत्त्व

कहा गया है कि उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक, सतत परिवर्तनशील, अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्त्विक दृष्टि से कर निकाला है। इस अन्वेषण कार्य

में उन्होंने तीन विभिन्न पद्धतियों का उपयोग किया है—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। आधिभौतिक पद्धति इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के कारणों का छानबीन करती हुई विलक्षण नित्य पदार्थ के निर्वचन में समर्थ होती है। आधिदैविक पद्धति नानारूप तथा स्वभावधारी विपुल देवताओं में शक्ति संचार करने वाले एक परमात्मतत्त्व को खोज निकालती है। आध्यात्मिक पद्धति में मानस-प्रक्रियाओं तथा शारीरिक कार्य-कलापों के अवलोकन करने से उनके मूलभूत आत्म-तत्त्व का निरूपण किया जाता है। इन तीनों शैलियों के उपयोग करने से उपनिषद्-कालीन दार्शनिकों ने जिस परमतत्त्व परम सत्यभूत पदार्थ का ऊहापोह किया है, उसे ब्रह्म कहते हैं।

द्विविध ब्रह्म—सगुण तथा निर्गुण

उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का विशद वर्णन किया है—सविशेष अथवा सगुण रूप, निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप। इन दोनों भावों में भेद-निर्देश करने के अभिप्राय से निर्विशेष भाव को कहीं परब्रह्म कहा गया है और सविशेष भाव को कहीं अपर ब्रह्म तथा कहीं शब्द-ब्रह्म कहा गया है। निर्विशेष ब्रह्म वह है जिसे किसी विशेषण या लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता; किसी चिह्न का परिचय नहीं दिया जा सकता जिसके द्वारा उसे पहचानने में हम समर्थ हो सकते हैं, किसी गुण का उल्लेख नहीं किया जा सकता जिससे उसे धारण किया जा सके। इसीलिए इस निर्विशेष भाव को निर्गुण, निरुपाधि तथा निर्विकल्प आदि संज्ञाओं से अभिहित करते हैं। सविशेष भाव ठीक इसके विपरीत होता है। उसमें गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों की सत्ता विद्यमान रहती हैं जिनके द्वारा उसका उक्त स्वरूप हृदयङ्गम किया जा सकता है। इन दोनों भावों को प्रदर्शित करने के लिए उपनिषदों ने दो प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है। एक

निर्विशेष-लिङ्ग, दूसरा सविशेष-लिङ्ग। सविशेष-लिङ्ग श्रुतियाँ सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः इत्यादि हैं। निर्विशेषलिङ्ग श्रुतियाँ अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम् आदि हैं[1]। इन वाक्यों में एक विशेषता और ध्यान देने योग्य है। सविशेष ब्रह्म के लिए पुल्लिङ्ग शब्दों का प्रयोग किया गया है यथा सर्वकर्मा, सर्वरसः आदि; परन्तु निर्विशेष ब्रह्म के लिए नपुंसक शब्दों का प्रयोग किया गया है। अस्थूलम्, अह्रस्वम् आदि नपुंसक शब्दों के द्वारा पर ब्रह्म का निर्देश किया जाता है। यही कारण है कि परब्रह्म 'तत्' पद के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है, 'सः' पद के द्वारा नहीं। श्रुतिवाक्यों में इस प्रकार पार्थक्य होने पर भी तद्द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं है। निर्विशेष तथा सविशेष भाव-विभेद के सूचक हैं; इनमें वस्तुगत विभेद का सर्वथा अभाव है। सगुण तथा निर्गुण, सोपाधि तथा निरुपाधि आदि शब्द एक ही ब्रह्मतत्त्व के निर्देशक हैं, क्योंकि ब्रह्मतत्त्व की प्रतिपादक श्रुतियों ने एक ही मन्त्र में उभयलिङ्ग शब्दों का प्रयोग किया है। मुण्डक-उपनिषद् (१।१।६) में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"यत तद् अद्रेश्यमग्राह्यम्, अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षु-श्रोत्रम्, तद् अपाणिपादम् (यहाँ निर्विशेष ब्रह्म की सूचना है), नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (इन पुल्लिंग-पदों से सविशेष ब्रह्म का निर्देश किया गया है)। इस प्रकार जब एक ही मंत्र उभयविध पदों के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है, तब निश्चय है कि उसमें किसी प्रकार का वस्तुगत पार्थक्य नहीं है। भाष्यकारों में इन उभयलिङ्ग वाक्यों को लेकर गहरा मत-भेद है। आचार्य शङ्कर श्रुति

---

१. सन्ति उभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः। सर्वकर्मेत्याद्या सविशेषलिङ्गाः, अस्थूलमनणु इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः। शाङ्करभाष्य।

को निर्गुण ब्रह्म-प्रतिपादक ही मानते हैं, पर आचार्य रामानुज उसे सगुण-ब्रह्म-प्रतिपादक स्वीकार करते हैं। परन्तु परम तत्त्व एक ही है, उसे सगुण कहा जाय या निर्गुण।

सगुण ब्रह्म

अपर या सगुण ब्रह्म का परिचय उपनिषद् में दो प्रकार से दिया गया है। किसी वस्तु के परिचय के लिए उसके लक्षण की आवश्यकता होती है। यह लक्षण दो प्रकार का होता है—*तटस्थ लक्षण* तथा *स्वरूप लक्षण*। जिसके द्वारा वस्तु के शुद्ध स्वरूप का परिचय प्राप्त किया जाता है, वस्तु के तात्त्विक रूप की उपलब्धि होती है, वह *स्वरूप-लक्षण* कहलाता है। *तटस्थ लक्षण* के द्वारा वस्तु के अस्थायी, परिवर्तनशील गुणों का वर्णन किया जाता है। सगुण ब्रह्म के उभयविध लक्षण उपनिषदों में प्राप्त होते हैं।

ब्रह्म का स्वरूप लक्षण

स्वरूप लक्षण के अनुसार ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त रूप है (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—तैत्ति० उप० २।१) तथा वह विज्ञान और आनन्दरूप है (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—बृह० उप० ३।९।२८)। उपनिषदों में ब्रह्म की तीन स्वाभाविक शक्तियों का उल्लेख पाया जाता है—ज्ञानशक्ति, बलशक्ति तथा क्रियाशक्ति (परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च—श्वेता० उप० ६।८)।

सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण छान्दोग्य-उपनिषद् में केवल एक शब्द में किया गया है। वह शब्द है—तज्जलान्[1]। तज्ज, तल्ल तथा तदन्—इन तीन शब्दों का संक्षेप इस शब्द में किया गया है। यह जगत् ब्रह्म से

१. तज्जलानिति शान्त उपासीत (छा० उ० ३।१४।१)।

उत्पन्न होता है (तज्ज), उसी में लीन हो जाता है (तल्ल) तथा उसी के कारण स्थितिकाल में प्राण धारण करता है (तदन्) इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारणभूत परमतत्त्व को ब्रह्म कहते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है[1]। ब्रह्मसूत्र के "जन्माद्यस्य यतः" (१।१।२) सूत्र में ब्रह्म का यही तटस्थ लक्षण उपस्थित किया गया है। "वह सबका अधिपति है, सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी है। वह सब का कारण है; उसीसे सब जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं" (माण्डूक्य उप० ६)। सगुण ब्रह्म इस संसार के शासक हैं। वे इस जगत् के समस्त निवासियों के भाग्य के विधाता हैं। शुभ कार्य करने वाले जीवों का वह कल्याण साधन करते हैं और भुक्ति या मुक्ति का विधान करते हैं, परन्तु अशुभ-कर्म वाले जीवों को वे सर्वथा दण्ड देते हैं। ये ही ईश्वर, विराट् या हिरण्यगर्भ कहे जाते हैं। इस विश्व के समस्त प्राणी उन्हीं के शरीर हैं—सब पैरों से वह चलते हैं और सब कानों से सुनते हैं। ब्रह्म अखण्ड शक्तियों का आधार है। वह प्रकृति की शक्तियों के ऊपर शासन करता है। उसी की शक्ति से देवताओं में शक्ति-संचार होता है। केनोपनिषद् (तृतीय खण्ड) में ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता के विषय में उमा हैमवती का रोचक आख्यान वर्णित है जिसका तात्पर्य यही है कि न तो अग्नि में स्वतः दाहिका शक्ति है और न वायु में तृण भी उड़ा देने का स्वतः सामर्थ्य है। यदि ये प्राकृतिक शक्तियाँ अपने प्रबल सामर्थ्य के ऊपर गर्व करें, तो यह नितान्त अनुचित है। ब्रह्म की शक्तिमत्ता के बलपर जगत् के पदार्थों में शक्ति का परिचय मिलता

ब्रह्म का तटस्थ लक्षण

१. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म (तैत्ति० उप० ३।१)।

है। नम्रता ब्रह्म ज्ञान की सहायिका है और अभिमान उस ज्ञान का नितान्त बाधक है। इन्द्र के नम्रता प्रदर्शित करने पर ही उमा हैमवती (ज्ञानदेवी) ब्रह्म के परिचय देने के लिए आविर्भूत हुई थी जिसकी कृपा से इन्द्र देवताओं के अधिपति हुए।

निर्गुण ब्रह्म

पहले दिखलाया गया है कि ब्रह्म का जो निर्विशेष या निर्गुण भाव है उसे किसी विशेषण से विशेषित नहीं किया जा सकता, किसी चिह्न के द्वारा चिह्नित नहीं किया जा सकता, किसी गुण से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। अर्थात् परब्रह्म निर्विशेष, निर्विकल्प तथा निरुपाधि है। वह अनिर्देश्य है—उसका किसी प्रकार निर्देश नहीं किया जा सकता। वस्तु का निर्देश किसी गुण के द्वारा ही हो सकता है। परन्तु जब ब्रह्म निर्गुण है, तो उसका निर्देश किया जाना नितान्त असम्भव है। इसी कारण बाष्कलि ऋषि के द्वारा ब्रह्म के विषय में बार-बार पूछे जाने पर बाध्व ऋषि ने मौनावलम्बन धारण कर ही उनके प्रश्न का उत्तर दिया[1]। गुणों के अत्यन्त अभाव के कारण ब्रह्म का भावात्मक वर्णन हो नहीं सकता। उसे हम निषेधमुखेन ही जान सकते हैं कि वह ऐसा नहीं है; इसीलिए श्रुति सदा नेति नेति (यह नहीं, यह नहीं,) कहकर उसका परिचय देती है। बृहदारण्यक श्रुति (४।४।२२) कहती है—"स एष नेति नेति आत्मा। अथात आदेशो भवति, नेति नेति, नह्य तस्मात् अन्यत् परम् अस्ति॥"

---

१. वाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—स होवाच अधीहि भो इति। स तूष्णीं बभूव। तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच "ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा"।

—शांकरभाष्य ३।२।१७

इसलिये परब्रह्म के वर्णन में श्रुतिवाक्यों में 'न' अव्यय का इतना बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। बृह० (३।८।८) के अनुसार वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व तथा अदीर्घ है। कठ (१।३।१५) उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्धवत्, अनादि तथा अनन्त बतलाता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (३।८।८) में याज्ञवल्क्य गार्गी को उपदेश देते समय 'अक्षर' के स्वरूप का विवेचन करते हैं—"हे गार्गी, वह अक्षर ब्रह्म स्थूल नहीं है, न अणु है; ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, रक्त नहीं है न चिकना है, यह छाया से भिन्न है और अन्धकार से पृथक् है; वायु तथा आकाश से अलग है; असंग है; रस तथा गन्ध से विहीन है, न चक्षु उसे ग्रहण कर सकती है न श्रोत्र; मन तथा वाणी का वह विषय नहीं है; वह तेज से रहित है, प्राण तथा मुख से उसका सम्बन्ध नहीं है; वह परिमाणरहित है, न अन्दर है न बाहर है; वह कुछ नहीं खाता, न उसे कोई खा सकता है"।

केनोपनिषद् में निष्प्रपञ्च ब्रह्म का बड़ा ही सजीव वर्णन है—

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (१।५)

जिसे वाणी कह नहीं सकती, पर जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो। यह नहीं, जिसकी तुम उपासना करते हो।

पर-ब्रह्म निरुपाधि है। देश, काल तथा निमित्त रूपी उपाधियों से वह नितान्त विरहित है। वह देशातीत, कालातीत, तथा निमित्तातीत है। प्रमाणातीत होने से वह नितरां अप्रमेय है। चैतन्यात्मक होने से ब्रह्म स्वयं विषयी है। अतः वह किसी भी प्राणी के अन्तःकरण-वृत्ति ज्ञान का विषय कथमपि नहीं हो सकता। ब्रह्म को 'अरसं' 'अशब्दं' आदि कहने

का तात्पर्य यही है कि वह शब्दस्पर्शादि के तुल्य विषय हो नहीं सकता। वह विपुलकाय, अगाध, प्रशान्त समुद्र के समान कहा जा सकता है। इस जगत् में समस्त प्रकाश का हेतुभूत यही ब्रह्म है। "वहाँ न तो सूर्य चमकता है न चन्द्रमा, न तारा। ये बिजुलियाँ भी नहीं चमकती; यह अग्नि कहाँ से चमक सकता है? उसी के चमकने के पीछे सब चीज़ें चमकती हैं; उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है (कठ० उप० ५।१५)।"

ब्रह्म ही इस सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण है। मुण्डक उपनिषद् (१।१।७) का कहना है कि जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से जालतनता है तथा उसे अपने शरीर में फिर समेट लेता है, जिस प्रकार पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं; जैसे पुरुष से केश, लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस नित्य-ब्रह्म (अक्षर) से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है[1]। परमात्मा से पहले उत्पन्न हुआ आकाश; आकाश से वायु; वायु से अग्नि; अग्नि से जल; जल से पृथिवी, पृथिवी से समस्त जीवजन्तुमय जगत्। इस जगत् के लय होने का क्रम इससे ठीक विपरीत है।

जगत्

(३) उपनिषदों का व्यवहार-पक्ष

उपनिषदों का व्यवहार पक्ष बड़ा ही सुन्दर है। हम पहले कह आये हैं कि दार्शनिक तत्त्वों को व्यवहार में लाकर उससे मानव-जीवन को प्रभावित करने में भारतीय विचार-शास्त्र की विशेषता है। उपनिषदों की आचार-मीमांसा नितान्त उपयोगी तथा मनोरम है। उन्नत आध्यामिक पथ पर

१. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात संभवतीह विश्वम्॥
(मु० उप० १।१।७)।

आरूढ़ होने के लिए अनेक सद्गुणों का सद्भाव आवश्यक है। बृहदारण्यक उपनिषद् (५।२।१।३) ने एक बड़ी रोचक आख्यायिका के द्वारा दम (आत्मसंयम), दान तथा दया की सुशिक्षा दी है[1]। छान्दोग्य (३।१७।४) ने तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन को आध्यात्मिक उन्नति में साधन बतलाया है। तैत्तिरीय (१।२।१-३) ने गुरुगृह से प्रत्यावर्तन के समय स्नातक को बड़ी सुन्दर शिक्षायें दी हैं। इन शिक्षाओं में माता, पिता तथा गुरु की सेवा, स्वाध्यायचिन्तन तथा धर्माचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु 'सत्यं वद' को समस्त उपदेशों में विशिष्ट गौरव प्राप्त है। छान्दोग्य (४।४।१-५) ने सत्यकाम जाबाल की कथा में सत्य की शिक्षा पर खूब जोर दिया है। प्रश्नोपनिषद् में अनृतभाषण की निन्दा[2] तथा मुण्डक (३।१।६) में सत्य की प्रशस्त प्रशंसा है[3]। सत्य के अनन्तर शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान की प्राप्ति भी उतनी ही आवश्यक है (बृह० उप० ४।४।२३)। परन्तु ज्ञान-साधन के मूलभूत गुण हैं—विवेक तथा वैराग्य। ब्रह्मप्राप्ति के लक्ष्य की ओर तब तक जीव अग्रसर नहीं होता, जब तक उसे विवेक—सत्यासत्य का विवेचन, श्रेय तथा प्रेय का वास्तव निर्धारण—तथा जगत् से आत्यन्तिक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। मुण्डक (१।२।१२) ने इन गुणों को विशेष महत्त्व दिया है। "कर्म के द्वारा प्राप्त लोक विनश्वर हैं; इस बात को जानने से ही ब्राह्मण के हृदय में निर्वेद—वैराग्य का उदय होता है। विवेक ही उसे निश्चय करा देता है

---

१. एषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति; दाम्यत, दत्त, दयध्वमिति। तदेतत् त्रयं शिक्षेत् दमं, दानं, दयामिति (बृह० उप० ५। २। ३)।

२. समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतं वदति (प्रश्न उप० ६। १)।

३. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

कि कृत (कर्म) के द्वारा अकृत (नित्य, ब्रह्म) की उपलब्धि हो नहीं सकती"।

कर्म करने में हम स्वतन्त्र हैं या नहीं ? उपनिषद् स्पष्ट शब्दों में कहता है कि कर्म करने में आत्मा स्वतन्त्र है। बृहदारण्यक ने निःसन्दिग्ध शब्दों में संकल्प की स्वतन्त्रता प्रतिपादित की है।

कर्म स्वातन्त्र

"यह पुरुष काममय है; जैसी उसकी इच्छा होती है, वैसा ही उसका क्रतु (संकल्प) होता है तथा संकल्प के अनुसार ही वह कर्म करता है[१]।" कौषीतकी (३।९) ने कर्म करने में मनुष्य की स्वतन्त्रता का निषेध किया है, परन्तु छान्दोग्य में इस स्वतन्त्रता का सुन्दर वर्णन है। आत्मज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य सब लोकों में विचरण कर सकता है (छा० उप० ८।१६); वह जिस वस्तु की कामना करता है वह उसके संकल्प-मात्र से उत्पन्न हो जाती है (छा० उप० ८।२।१०)। मुक्तिकोपनिषद् (२।५।६) में स्पष्टतः पुरुषार्थ पर ज़ोर दिया गया है—

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्।

पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि।
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् ॥

"वासनारूपी नदी दो मार्गों से प्रवाहित होती है—शुभ मार्ग से तथा अशुभ मार्ग से। मनुष्य को चाहिए कि प्रयत्न द्वारा अशुभ में लगी वासना को शुभ ही में ले जाय"। कर्म-निष्पादन में आत्म-स्वातन्त्र का उपपादन ही उपनिषद् की समस्त शिक्षाओं का सार है।

---

१. अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते। यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते। बृह० उप० (४।४-५)।

इस ब्रह्माण्ड के भीतर अनेक लोक हैं जिनमें सबसे उच्च लोक ब्रह्मलोक कहलाता है। उपनिषदों ने (छा० उप० ४।१५;बृह० ६।२;कौषी० १।२,३) बड़े विस्तार के साथ मृत्यु के अनन्तर प्रत्येक प्राणी के विभिन्न मार्गों का वर्णन किया है जिनके द्वारा वे अपने कर्मानुसार विभिन्न लोकों को जाते हैं। इस यात्रा के दो प्रधान मार्ग हैं — देवयान तथा पितृयान। ज्ञान-कर्म-समुच्चय के अनुष्ठाता, ज्ञान के साथ श्रद्धा तथा तपस्या आदि शोभन कार्यों के करने वाले पुरुष, देवयान के द्वारा ब्रह्मलोक जाते हैं। ब्रह्मके आनन्दमय लोक प्राप्त कर लेने पर भी वे अपनी उपासना का अनुष्ठान करते रहते हैं और अन्त में परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इष्टापूर्त (श्रौत तथा स्मार्त-कर्म) के अनुष्ठाता कर्म-मार्ग के अनुयायी पुरुष पितृयान के द्वारा चन्द्र-लोक जाते हैं, और कर्मानुसार सुख भोग कर वे पुनः इस लोकमें लौट आते हैं। यदि शोभन कार्य शेष रहता है तो वे धनी कुटुम्बों में जन्म ग्रहण करते हैं; यदि अशोभन का फल अवशिष्ट रहता है, तो बुरे कुटुम्बों में जन्म लेते हैं। उपासना के विधिवत् अनुष्ठान से वे पुनः देवयान पन्था का आश्रय लेकर ब्रह्मलोक में जा सकते हैं। इसे क्रममुक्ति कहते हैं। इन दोनों यानों के अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग है जिसे 'यान' न कहकर 'गति' कहते हैं। इसकी पारिभाषिकी संज्ञा 'जायस्वम्रियस्व'—उत्पन्न होना तथा मरना है। पशुपक्षी के समान जो जीव कर्म के अनधिकारी हैं तथा अधिकारी होकर भी जो अशुभ कर्मों के सम्पादक हैं, उनकी यह तीसरी गति होती है (छा० उप० ५।१०।८)। परन्तु कुछ ऐसे भी पुरुष हैं जिन्हें इस क्रममुक्ति से नितान्त असन्तोष होता है और जो सद्योमुक्ति (साक्षात् बिना विलम्ब मोक्ष) के इच्छुक होते हैं। उपनिषद् ने उनके लिए भी व्यवस्था की है। आत्म-ज्ञान न होना ही बन्धन का कारण है।

द्विविधयान-देवयान तथा पितृयान

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (कठ० ४।११) वह पुरुष मृत्यु के बाद मृत्यु को प्राप्त करता जाता है जो इस जगत् में अनेकत्व को देखता है। अतः इस जगत् में व्याप्त एकता का अनुभव करने वाला व्यक्ति अपने ज्ञान के बल पर सद्यो-मुक्ति को एक ही जीवन में प्राप्त कर सकता है। बृहदारण्यक श्रुति कहती है[1] कि जिस पुरुष के हृदय-स्थित सब कामनायें छूट जाती हैं, वह पुरुष मरणशील होने पर भी अमृत हो जाता है—अमरत्व को प्राप्त कर लेता है तथा *इसी लोक* में ब्रह्म को पा लेता है। उस समय उसके अंग, प्राण उसके शरीर से विमुक्त नहीं होते। ब्रह्म-रूप होकर वह पुरुष को प्राप्त कर लेता है[2]। एकत्व ज्ञान का यह अमृत फल है। अतः मनुष्य मात्र का यह उच्च उद्देश्य होना चाहिये कि अपना बहुमूल्य जीवन साधारण वस्तुओं की प्राप्ति में न लगा कर आत्मोपलब्धि में लगावे क्योंकि "उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु-आवागमन को पार करता है; जाने के लिए आत्म-साक्षात्कार को छोड़कर अन्य मार्ग है ही नहीं[3]"। अतः तीव्र ज्ञान की प्राप्ति होने पर सद्योमुक्ति हो जाती है। ज्ञानी को प्रारब्ध कर्म के भोग करने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिये गीता में सुसमिद्ध अग्नि के समान सुसमिद्ध ज्ञान सब कर्मों का (प्रारब्ध कर्मों का भी) नाश करने वाला बतलाया गया है। निष्कर्ष यह है कि विशुद्ध ज्ञान से सद्योमुक्ति, ज्ञान-कर्म समुच्चय से देवयान, केवल शोभन कर्म के आश्रय से पितृयान तथा अशोभन

---

१ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ —४।४।७

२ न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। बृह० उप० ४।४।७।

३ तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
श्वेता० उप० ३।८

कर्मों के अनुष्ठान से तृतीया गतिकी प्राप्ति होती है।

(४) उपनिषदों का चरम लक्ष्य

उपनिषदों का चरम लक्ष्य क्या है ? कतिपय ग्रन्थों के अध्ययन से निष्पन्न आत्मतत्त्व-विषयक ज्ञान उनका लक्ष्य नहीं है। उपनिषद् के सिद्धान्तों में मौलिभूत सिद्धान्त है—आत्मा की अपरोक्षानुभूति। परोक्ष अनुभूति से हमें अपना कौन सा स्वार्थ सिद्ध हो सकता है ? जब तक हम अपने प्रयत्न से अपने को तात्त्विक रूप से न जानें या 'स्व' रूप का साक्षात् अनुभव न करें, तब तक शास्त्र का रोमन्थन (चर्वित-चर्वण) व्यर्थ प्रयत्न है। शङ्कराचार्य ने शुष्क ज्ञान की निन्दा करने में उपनिषदों का ही अनुसरण किया है[१]। उपनिषदों ने इस अपरोक्षानुभूति के लिए आचार्य की महिमा का वर्णन सुन्दर शब्दों में किया है। ओंकार की उपासना इसका प्रधानतम साधन है। ओंकार के निरन्तर ध्यान करने से निगूढ़ देव का दर्शन किया जा सकता है (श्वेता० १।१४)। इसी प्रसङ्ग में 'योग' की उपयोगिता का वर्णन श्वेताश्वतर में किया गया है (२।८–१०)। सुख दो प्रकार के होते हैं—छोटा सुख तथा बड़ा सुख। विषय-प्रपञ्च में सुखोपलब्धि अल्पकोटि की है। परन्तु वास्तव सुख तो उस 'भूमा' (आत्मा) की उपलब्धि में है जो सर्वत्र विद्यमान है, ऊपर है तथा नीचे है; आगे है तथा पीछे है, दक्षिण की ओर है तथा

---

१ वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रविज्ञानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वत् भुक्तये न तु मुक्तये ॥
अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥

—विवेक चूड़ामणि ६०।६१

उत्तर की ओर है। परम तत्त्व की ही संज्ञा भूमा है। "जहाँ पर न तो दूसरे को देखता है, न दूसरे को सुनता है, न दूसरे को जानता है वह है भूमा। भूमा ही अमृत है; जो अल्प है, वह मर्त्य है—अनित्य है"—यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति। यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद् विजानाति स भूमा। यो वै भूमा तदमृतं, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम् (छा० ८।२२)।

स्वाराज्य प्राप्ति

इस आत्मा की साक्षात् उपलब्धि होने पर क्या होता है? वह 'स्वाराज्य' प्राप्ति कर लेता है; वह अपने आत्मा से प्रेम करता है, (आत्मरतिः) अपने आत्मा से क्रीड़ा करता है (आत्मक्रीड़ः), अपने आत्मा के संग का अनुभव करता है (आत्ममिथुनः) तथा अपने आत्मा में निरतिशय आनन्द प्राप्त करता है (आत्मानन्दः)। आत्मा तो आनन्दरूप ठहरा। अतः स्वोपलब्धि का अर्थ यही है कि वह अपने आनन्दमयरूप में विहार करता है। परन्तु उस आनन्द की मात्रा क्या लौकिक दृष्टान्तों से बतलाई जा सकती है? बृहदारण्यक (४।३।२१) ने एक लौकिक उदाहरण से उसका तनिक आभास सा दिया है। उसका कहना[1] है कि जिस प्रकार प्रिया से आलिंगन किये जाने पर पुरुष न तो किसी बाहरी चीज को जानता है न भीतरी चीज को, उसी प्रकार प्राज्ञ-आत्मा (परमात्मा) से आलिंगन किये जाने पर यह जीव न तो बाह्य को जानता है न अन्तर को। उस समय उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं, क्योंकि आत्मा की उपलब्धि से किसी भी इच्छा की पूर्ति अवशिष्ट नहीं रह जाती।

---

१ तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नांतरम्; एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्य एतदाप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपम् (बृह० ४।३।२१)

पर क्या लौकिक भाषा में उस अचिन्त्य, सर्वकाम, सर्वगन्ध परमात्मतत्त्व की उपलब्धि समझाई जा सकती है? ये समस्त उपाय व्यर्थ हैं। आत्मवेत्ता ही उसे जानता, समझता है; पर उस अवस्था में पहुँचते ही उसकी वाणी का व्यापार बन्द हो जाता है। वह मूक बन जाता है। कौन कहे और कौन सुने? उस समय बस "शिवः केवलोऽहम्" की अपूर्व उपलब्धि हो जाती है। आत्मा निरतिशय आनन्द का अनुभव करने लगता है। यह स्थिति स्वानुभूत्येकगम्य है: अपनी ही अनुभूति उसे बता सकती है। परानुभूति तो उसकी एक फीकी झलक है। यह अपरोक्षानुभूति ही वैदिक तत्त्वज्ञान का हृदय है। इसे हम उपनिषदों का 'रहस्यवाद' कह सकते हैं। उपनिषद् के अन्य सिद्धांत इसके साधनमात्र हैं। यह रहस्यवाद श्रौत-दर्शन का सार है, रहस्यों का रहस्य है तथा उपनिषदों का उपनिषद् है। औपनिषद् तत्त्वज्ञान की यह चूड़ान्त कल्पना है।

चतुर्थ परिच्छेद

वेदाङ्ग

ब्राह्मणकाल के अनन्तर सूत्रकाल का आरम्भ होता है। अब इस काल में हम श्रुति से हटकर स्मृति में आते हैं। इन ग्रन्थों की रचना बड़ी विलक्षण है। छोटे छोटे अल्प अक्षरों के द्वारा विपुल अर्थों के प्रदर्शन का उद्योग किया गया है। यज्ञयाग का इतना अधिक विस्तार हो गया था कि उसे याद करने के लिए ऐसे छोटे छोटे ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस काल में जो ग्रन्थ रचे गये वे वेद के अर्थ तथा विषय को समझने के लिए नितान्त उपयोगी हैं। इसलिए इन्हें वेद का अङ्ग या 'वेदाङ्ग' कहते हैं जो संख्या में छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द तथा ज्यौतिष। इनमें व्याकरण वेद का मुख है,ज्यौतिष नेत्र,निरुक्त श्रोत्र, कल्प हाथ, शिक्षा नासिका और छन्द दोनों पाद हैं[1]। इस प्रकार वेदाङ्ग का वेद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

---

१ छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

पाणिनीय शिक्षा ४१—४२

(१) *शिक्षा*—उन ग्रन्थों को कहते हैं जिनकी सहायता से वेदों के उच्चारण का भली-भाँति ज्ञान प्राप्त हो जाय। वेदपाठ में स्वरों का बड़ा महत्त्व है। स्वर में गलती होने के कारण से महान् अनर्थ हो जाता है[1]। अतः स्वर की शिक्षा के लिए एक अलग वेदाङ्ग की रचना की गई। प्रत्येक वेद की अलग अलग शिक्षा है। चारों वेदों की अलग-अलग शिक्षायें मिलती हैं। कभी-कभी एक वेद की अनेक शिक्षायें उपलब्ध हैं। ऋग्वेद की पाणिनीय शिक्षा है। शुक्ल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य शिक्षा, वाशिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा आदि २५ शिक्षायें उपलब्ध हैं। सामवेद की नारदीय, गौतमी तथा लोमशी शिक्षायें मिलती हैं। अथर्ववेद की माण्डूकी शिक्षा है। इन शिक्षाओं का संग्रह 'शिक्षा-संग्रह' ग्रन्थ में किया गया है। परन्तु इनके अतिरिक्त भी अन्य शिक्षायें मिलती हैं। पाणिनि की बनाई हुई भी एक बहुत अच्छी शिक्षा है जो 'पाणिनीय शिक्षा' कहलाती है।

(२) छन्द—छन्द का बिना ज्ञान प्राप्त किए हुए वेदमन्त्रों का ठीक ठीक उच्चारण नहीं हो सकता। मन्त्र छन्दोबद्ध हैं। अतः छन्द का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। शौनक विरचित ऋक्प्रातिशाख्य के अन्त में छन्दों का पर्याप्त विवेचन है। परन्तु इस वेदाङ्ग का एकमात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ 'पिंगल' है जो किसी पिंगल नामक आचार्य के द्वारा रचा गया था। इस ग्रन्थ में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन मिलता है।

(३) *निरुक्त*—इस वेदाङ्ग में शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई

---

१ मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
पाणिनीय शिक्षा श्लोक ५२

है। वेद के अर्थ जानने के लिए व्युत्पत्ति की बड़ी आवश्यकता है। आजकल केवल एक ही निरुक्त उपलब्ध होता है और इसके रचयिता महर्षि यास्क हैं। बहुत प्राचीन काल से निघण्टु नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है जिसमें वेद के कठिन शब्दों की एक क्रमबद्ध तालिका है। इसी ग्रन्थ पर यास्क ने वह विस्तृत भाष्य बनाया जो 'निरुक्त' के नाम से प्रसिद्ध है। यास्क का मत है कि समस्त शब्द धातुओं से उत्पन्न हुए हैं। अतः उनकी व्युत्पत्ति दिखलाने का प्रयत्न भी इस ग्रन्थ में किया गया है। यास्क पाणिनि से पहले हुए। अतः इनका समय ईस्वी से पूर्व सात सौ वर्ष के लगभग होना चाहिए।

(४) *व्याकरण*—इस वेदाङ्ग का एकमात्र उद्देश्य वेदों के अर्थ को समझाना तथा वेदार्थ की रक्षा करना है। आजकल पाणिनि-व्याकरण ही इस वेदाङ्ग का एकमात्र प्रतिनिधि है। परन्तु व्याकरण शास्त्र पाणिनि से पुराना है। पाणिनि ने आठ अध्यायों में सूत्ररूप में व्याकरण लिखा है जो 'अष्टाध्यायी' के नाम से विख्यात है। उनके पहले भी गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि अनेक आचार्य थे जिनका उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किया है। इनसे भी पहले के 'प्रातिशाख्य' नामक ग्रंथ हैं जिनमें स्वर, छन्द के साथ व्याकरण का भी विशेष वर्णन है। ऐसे ग्रन्थ प्रत्येक शाखा के अलग अलग थे। आजकल ऋग्वेद से सम्बद्ध शौनक प्रातिशाख्य तथा शुक्लयजुः का कात्यायन प्रातिशाख्य विशेष प्रसिद्ध है। अन्य वेदों के भी प्रातिशाख्य मिलते हैं।

(५) *ज्यौतिष*—वेद के अङ्गों में इसका विशेष महत्त्व है। वेद[1] यज्ञ

---

१ वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्यौतिषं वेद स वेद यज्ञान्॥
—आर्च ज्यौतिष श्लो० ३६।

के प्रतिपादन के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं और काल के उचित निवेश से यज्ञ का सम्बन्ध है । इसीलिए ज्यौतिष को काल का विधायक शास्त्र कहते हैं । जो व्यक्ति ज्यौतिष को जानता है वह यज्ञ को जानता है । इसका प्रतिनिधि 'वेदाङ्ग ज्यौतिष' है । इसके रचयिता का नाम 'लगध' है । इसके दो संस्करण उपलब्ध हैं—एक यजुर्वेद से सम्बद्ध और दूसरा ऋग्वेद से सम्बद्ध । याजुष ज्यौतिष में ४३ श्लोक हैं तथा आर्च में केवल ३६ । सामान्यतः श्लोक एक ही प्रकार के हैं । इसके कतिपय श्लोकों का अर्थ अभी तक ठीक ठीक नहीं लगता । 'सोमाकर' की प्राचीन टीका तथा पं० सुधाकर द्विवेदी का नया 'सुधाकर' भाष्य प्रसिद्ध है ।

(६) *कल्पसूत्र*—ब्राह्मण-काल में यज्ञ याग का इतना अधिक विस्तार हुआ कि उनके यथोचित ज्ञान के लिए कतिपय संक्षिप्त एवं पूर्ण परिचय देनेवाली रचनाओं की आवश्यकता प्रतीत होने लगी । इसी की पूर्ति कल्पसूत्रों द्वारा की गई । कल्पसूत्र दो प्रकार के हैं—श्रौतसूत्र तथा स्मार्तसूत्र । स्मार्तसूत्रों के दो भेद हैं—गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र । श्रौत शब्द का अर्थ है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध यज्ञ-याग । अतः श्रौतसूत्रों में तीन प्रकार के अग्नियों (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि) के आधान, अग्निहोत्र, दर्श तथा पूर्णमास नामक इष्टियाँ, पशुयाग, विशेषतः भिन्न प्रकार के सोमयागों का वर्णन किया गया है । श्रौतसूत्रों में इस प्रकार भारतीय याग-पद्धति का मूलस्वरूप जानने के लिए सबसे प्राचीन तथा पर्याप्त सामग्री है । गृह्यसूत्रों में उन अनुष्ठान, आचार तथा यागों का वर्णन है जिनका करना प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के लिए आवश्यक है । विशेषतः षोडश संस्कारों का वर्णन गृहसूत्रों में बड़े विस्तार से है, जिसमें उपनयन तथा विवाह का वर्णन बड़े ही साङ्गोपाङ्ग

रूप से किया गया है। इन ग्रन्थों के अध्ययन करने से प्राचीन भारतीय समाज के घरेलू आचार-विचार का, भिन्न-भिन्न प्रान्तों के रीति-रिवाज का, परिचय पूर्णरूप से हो जाता है। पश्चिमी जातियों में से ग्रीक और रोमन लोग काफी पुराने हैं। उनका साहित्य भी कम विशाल या व्यापक नहीं है, परन्तु उनके यहाँ भी ऐसी रचना बहुत ही कम हैं जिससे उनके रहन-सहन का प्रामाणिक परिचय प्राप्त हो सके। इस प्रकार गृह्यसूत्रों का उपयोग हमारे ही लिए नहीं है, प्रत्युत समाजशास्त्र तथा जातिशास्त्र (एथ्नोलॉजी) के प्रत्येक विद्वान् के लिए है। गृह्यसूत्रों के साथ *धर्मसूत्र* भी सम्बद्ध हैं। इन सूत्रों में धार्मिक नियमों, प्रजा के तथा राजा के कर्तव्य और अधिकार का पूरा-पूरा वर्णन मिलता है। साथ ही साथ चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तथा चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास) के धर्म या कर्तव्यों का पूर्ण वर्णन किया गया है। इन्हीं धर्मसूत्रों से आगे चलकर स्मृतियों की उत्पत्ति हुई जिनकी व्यवस्था आज भी हमारे लिए मान्य है। *शुल्वसूत्र* भी कल्पसूत्र के ही अङ्ग हैं। उनका साक्षात् सम्बन्ध श्रौतसूत्रों से है। शुल्व का अर्थ है मापसूत्र अर्थात् नापने का सूत। नाम के अनुरूप शुल्वसूत्रों में वेदियों का नापना, उनके लिए स्थान चुनना तथा उनकी रचना आदि विषयों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। ये सूत्र भारतीय ज्यामिति के प्राचीन ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं, जिस सिद्धान्त के आविष्कार करने का श्रेय पाश्चात्य विद्वान्, ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक पाइथेगोरस को देते हैं उसकी स्थापना उनसे सैकड़ों वर्ष पहले इन शुल्वसूत्रों में प्रमाणपुरःसर की गई है।

ऋग्वेद के कल्पसूत्र हैं—आश्वलायन और सांख्यायन। दोनों कल्पसूत्रों में श्रौत्रसूत्र तथा गृहसूत्र दोनों सम्मिलित हैं। शुक्लयजुर्वेद के कल्पसूत्र हैं—कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्करगृह्यसूत्र और कात्यायन शुल्वसूत्र।

कृष्ण यजुर्वेद की बौधायन और आपस्तम्ब शाखा में जो कल्पसूत्र उपलब्ध होते हैं उन्हें हम समग्र तथा महत्त्वपूर्ण कह सकते हैं क्योंकि उनमें श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्वसूत्र—चारों पूर्णरूप से पाये जाते हैं। इनमें परस्पर इतना अधिक सम्बन्ध है कि हम इन्हें एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न खण्ड कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

सामवेद से सम्बद्ध कल्पसूत्र हैं—लाट्यायन और द्राह्यायन के श्रौतसूत्र तथा जैमिनि शाखा से सम्बद्ध जैमिनीय श्रौतसूत्र और जैमिनि गृह्यसूत्र, गोभिल और खादिर के गृह्यसूत्र। सामवेद के ही अन्तर्गत 'आर्षेय कल्प' की भी गणना की जाती है। इसका दूसरा नाम मशक-कल्पसूत्र है जिसमें साम के गायनों के भिन्न-भिन्न रागों तथा लयों का वर्णन है। यह सूत्र पञ्चविंश ब्राह्मण के साथ सम्बद्ध है और लाट्यायन श्रौत्रसूत्र से भी प्राचीन प्रतीत होता है। अथर्ववेद के कल्पसूत्र के अन्तर्गत दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) वैतान श्रौतसूत्र (जो विशेष प्राचीन नहीं माना जाता) तथा (२) कौशिक सूत्र (जो गृह्यसूत्र होते हुए भी अथर्ववेद में वर्णित अभिचारों से सम्बद्ध नाना प्रकार के अनुष्ठानों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है) प्राचीन भारत के अभिचारों को जानने के लिए इससे अधिक उपयोगी कोई अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

अनुक्रमणी—वेदाङ्गसाहित्य के ही अन्तर्गत उन अनुक्रमणियों का उल्लेख आवश्यक है जिनकी रचना वेदों की रक्षा तथा वेदार्थ की मीमांसा के लिए की गई। 'आर्षानुक्रमणी' में ऋग्वेद के मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के नाम मन्त्रक्रम से दिए गये हैं। 'छन्दोऽनुक्रमणी' में ऋग्वेद में प्रयुक्त छन्दों का क्रमशः वर्णन है। 'देवतानुक्रमणी' में ऋग्वेद के देवताओं का मन्त्रक्रम से खूब विस्तृत विवेचन है। शौनक का 'बृहद्देवता' भी इस विषय का एक प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ है जिसमें ऋग्वेद के देवताओं का क्रमशः

वर्णन तो है ही, साथ ही साथ उनसे सम्बद्ध अनेक प्राचीन आख्यानों तथा कथानकों का भी अत्यन्त उपादेय और रोचक विवरण यहाँ मिलता है। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' भी इस विषय की प्रसिद्ध पुस्तक है जिसपर *षड्गुरुशिष्य* का भाष्य (द्वादश शतक) अत्यन्त उपयोगी तथा प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में अनेक अनुक्रमणियों में आये हुए विषयों का थोड़े में संक्षिप्त विवेचन है। इस प्रकार वेद तथा वेदार्थ की रक्षा के लिए अनुक्रमणी साहित्य की रचना पिछली शताब्दियों में की गई।

इस प्रसङ्ग में हम उस विद्वान् को नहीं भुला सकते जिनके भाष्यों की सहायता से ही हम वेद के विषम दुर्ग में प्रवेश पा सके हैं। वेद की भाषा, उसकी शब्दावली, उसकी नवीन रूपकमयी कल्पना आदि वस्तुयें इतनी विचित्र हैं कि बिना सायण की व्याख्या का अध्ययन किये इन्हें जान लेना नितान्त दुष्कर है। ये *सायणाचार्य*[1] विजयनगर राज्य के संस्थापक महाराज बुक्क प्रथम (१३५०–७९) तथा उनके उत्तराधिकारी महाराज हरिहर (१३७९–९९) के राज्य काल में दक्षिण भारत में उत्पन्न हुए थे। इन्हीं राजाओं की छत्रछाया में इन्होंने अपने भाष्यों की रचना की है। सायण के भाष्य ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता, काण्व संहिता, साम-संहिता, अथर्वसंहिता—अर्थात् माध्यन्दिन संहिता को छोड़कर समग्र संहिताओं पर हैं। ब्राह्मण साहित्य में ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक, तैत्तिरीय ब्राह्मण और आरण्यक, पञ्चविंश ब्राह्मण जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर भी इनके भाष्य विद्यमान हैं।

---

१ सायणाचार्य के विशेष विवरण के लिए देखिए—बलदेव उपाध्याय रचित 'आचार्य सायण और माधव'।

उपवेद

चार वेदों के चार उपवेद भी प्राचीन काल से माने जाते हैं। 'चरण व्यूह' के अनुसार इन उपवेदों का क्रम इस प्रकार है। (१) ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है। (२) यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद,(३) सामवेद का उपवेद गन्धर्व वेद और (४) अथर्ववेद का उपवेद अर्थ वेद है जिसके अन्तर्गत दण्डनीति, राजनीति, अर्थशास्त्र, स्थापत्य कला आदि हैं। चौदह विद्याओं के अन्तर्गत उपवेदों का भी ग्रहण है। यहाँ पर इन उपवेदों का क्रम से वर्णन उपस्थित किया जायेगा।

(क) *आयुर्वेद*—आयुर्वेद का अर्थ वह ज्ञान है जिससे जीवन की रक्षा हो सके। 'चरणव्यूह' के अनुसार तो यह आयुर्वेद का उपवेद है परन्तु सुश्रुत के अनुसार यह अथर्व वेद का उपवेद माना गया है। इसके आठ अंग हैंः—(१) शल्य चिकित्सा (२) शालाक्य—श्रवण, नयन, वदन, घ्राण आदि गले के ऊपर होनेवाले रोगों की चिकित्सा (३) कायचिकित्सा (४, भूत विद्या—भूत, प्रेत से उत्पन्न होने वाले रोगों का शमन (५) कौमार भृत्य—बालकों के रोगों की चिकित्सा (६) अगद तन्त्र—विष चिकित्सा (७) रसायन तन्त्र—व्यवस्थापन, आयु, मेधा तथा बल की वृद्धि करने वाले औषधों का प्रयोग। (८) वाजीकरण तन्त्र—हीन वीर्य पुरुषों को शक्ति तथा प्रहर्ष उत्पन्न करने वाले औषध का प्रयोग।

इस विद्या के मुख्य उपदेष्टा महर्षि धन्वन्तरि हैं जो विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं तथा समुद्र मन्थन से उत्पन्न होने वाले चौदह रत्नों में अन्यतम हैं। इनके अतिरिक्त आत्रेय, काश्यप, हारीत, अग्निवेश तथा भेड—मुनियों को भी हम आयुर्वेद के तत्त्वों का उपदेष्टा मानते हैं। इन्होंने भी पृथक्पृथक् संहितायें बनायीं थी परन्तु अग्निवेश तथा भेड की

लिखी हुई संहितायें ही आजकल उपलब्ध होती हैं। इनमें अग्निवेश की परम्परा में महर्षि चरक की संहिता है और भेड की संहिता स्वतन्त्र है जो उपलब्ध है और कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। इन आचार्यों के ग्रन्थों से पूर्व वैदिक संहिताओं—विशेषकर अथर्ववेद—में भी आयुर्वेद के अनेक बहुमूल्य सिद्धान्तों का वर्णन है। शारीरिक विद्या का ज्ञान यहाँ के पण्डितों को बहुत दिनों से रहा है क्योंकि पशु याग के प्रसंग में शरीर-विज्ञान का ज्ञान नितान्त आवश्यक था। ब्राह्मण ग्रंथों में भी वैद्यक शास्त्र के उपयोगी तथ्यों का वर्णन कुछ कम नहीं है। बौद्ध युग में भी आयुर्वेद विशेष मनन का विषय रहा है। बौद्ध ग्रन्थों में जीवक नामक वैद्यराट् की विचित्र चिकित्साओं का वर्णन मिलता है। जीवक ने वैद्यक शास्त्र का अध्ययन महर्षि आत्रेय से किया था और वे कौमारभृत्य के विशेषज्ञ समझे जाते थे। तक्षशिला विहार में जिन विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी उनमें आयुर्वेद का स्थान भी गौरवास्पद था।

आजकल वैद्यक शास्त्र के ये तीन प्रामाणिक तथा लोकप्रिय ग्रन्थ हैः— (१) चरक संहिता (२) सुश्रुत संहिता (३) वाग्भट संहिता। ये ग्रन्थ-रत्न वैद्यक शास्त्रमें 'बृहत्-त्रयी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों ग्रन्थों का अभ्यास प्रत्येक वैद्य के लिए अनिवार्य माना जाता है। कहावत है कि जिस वैद्य ने सुश्रुत को अच्छी तरह से नहीं सुना है, जो वाग्भट में पटु नहीं है तथा चरक के अध्ययन में चतुर नहीं है वह क्या ख़ाक वैद्यक का कार्य करेगा?

"सुश्रुते सुश्रुतो नैव, वाग्भटे नैव वाग्भटः।
चरके चतुरो नैव, स वैद्यः किं करिष्यति ॥"

(१) *चरकसंहिता*—इसके रचयिता का नाम महर्षि चरक है। चरक के समय के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। चरक ने ज्वर की चिकित्सा के

अवसर पर 'विष्णुसहस्रनाम' के पाठ करने का आदेश दिया है[1] जिससे पता चलता है कि इनका प्रादुर्भाव काल महाभारत के पीछे का है। चीनी बौद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन से पता चलता है कि चरक कुषाणवंशी महाराज कनिष्क के प्रधान वैद्य थे। विद्वानों के मत से कनिष्क का समय ७८ ई० सन् है। अतः इससे ज्ञात होता है कि महर्षि चरक ईसा की प्रथम शताब्दी में विद्यमान थे।

यह चरक संहिता आत्रेय पुनर्वसु के द्वारा उपदिष्ट हुई। उनके शिष्य अग्निवेश ने इसकी रचना की। चरक तथा दृढ़बल ने उसका प्रतिसंस्कार किया। ये महर्षि आत्रेय भारद्वाज के शिष्य हैं तथा अग्निवेश और भेड़ आदि वैद्यों के गुरु हैं। चरक संहिता में ८ विभाग या स्थान है:—(१) सूत्रस्थान (२) निदान स्थान (३) विमान स्थान (४) शरीर स्थान (५) इन्द्रिय स्थान (६) चिकित्सा स्थान (७) कल्प स्थान (८) सिद्धि स्थान। चिकित्सा का प्रतिपादन चरक की प्रधान विशेषता मानी जाती है जैसा 'चरकस्तु चिकित्सिते' इस कहावत से जाना जाता है। आयुर्वेद-विद्या मन्दिर का चरक ग्रन्थ कलशस्थानीय है। चरक ने अपने इस सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में रोगों की चिकित्सा और निदान ही नहीं लिखा है परन्तु उन्होंने इसमें वैद्यक शास्त्र में दार्शनिक पहलू पर भी सम्यक् रीति से विचार किया है। शरीर क्या है? रोगों का स्वरूप क्या है? रोगों का आक्रमण शरीर पर होता है अथवा आत्मा पर? इन सब आवश्यक तथ्यों की मीमांसा चरक ने बड़े पाण्डित्य पूर्ण ढंग से की है। आचार्य दृढ़बल ने—जो काश्मीर के रहने वाले थे तथा जो अष्टम

---

१ विष्णुं सहस्रमूर्धानं, चराचरपतिं विभुम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण, ज्वरान् सर्वानपोहति॥
चिकित्सा स्थान अध्याय ३।३११

शतक में प्रादुर्भूत थे—चरक के ग्रन्थ का नया संस्कार किया तथा उसमें अनेक नये अध्याय भी जोड़े। प्राचीन काल में इसका अनुवाद फारस देश के बादशाह नौशेरवाँ ने फारसी में कराया था। इसका अरबी अनुवाद (८०० ई० का) आज भी मौजूद है।

(२) *सुश्रुत संहिता*—चरक संहिता के समान सुश्रुत संहिता भी वैद्यक शास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। महाभारत के अनुसार सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र हैं। चरक के समान सुश्रुत की प्रसिद्धि भी भारत के बाहर हैं। पूर्व में कम्बोज देश में तथा पश्चिम में अरब देश में नवम और दशम शताब्दी में यह ग्रन्थ नितान्त प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ में छः भाग है (१) सूत्र स्थान (२) निदान स्थान (३) शरीर स्थान (४) चिकित्सा स्थान (५) कल्प स्थान तथा (६) उत्तर तन्त्र। इनमें सुश्रुत की सबसे अधिक प्रसिद्धि शारीरिक स्थान—शरीर विज्ञान में है। कहावत भी है—शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तः। आजकल के लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि शल्यचिकित्सा का ज्ञान प्राचीन भारतीयों को नहीं था। परन्तु सुश्रुत के अध्ययन करने से हमें ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में शल्य चिकित्सा भी अन्य विज्ञानों की भाँति उन्नति की चोटी पर पहुँची हुई थी।

(३) *वाग्भटः*—इनका समय सुश्रुत के अनन्तर है। इस नाम के दो ग्रन्थकार थे। पहले ग्रन्थकार का रचित ग्रन्थ 'अष्टाङ्ग संग्रह' है तथा दूसरे का 'अष्टाङ्गहृदयसंहिता' है। वृद्ध वाग्भट सिंहगुप्त के पुत्र हैं तथा उनके गुरु का नाम बौद्ध अवलोकितेश्वर है। इत्सिङ्ग के (७ वीं शताब्दी) ग्रन्थ में जिस वैद्यकशास्त्र के रचयिता का संकेत पाया जाता है वह सम्भवतः वाग्भट है। इस प्रकार उनका समय सप्तम शतक से प्राचीन है। द्वितीय वाग्भट प्रथम वाग्भट के ही वंशज प्रतीत होते है। दोनों

बौद्ध थे। द्वितीय वाग्भट के ग्रन्थ का तिब्बतीय अनुवाद भी हुआ था जो जर्मनी से प्रकाशित हुआ है। इन्हीं तीनों ग्रन्थों को वैद्यक शास्त्र में बृहत्-त्रयी के नाम से पुकारते हैं।

वैद्यक शास्त्र के ग्रन्थ विपुल हैं तथा व्यावहारिक दृष्टि से नितान्त उपयोगी हैं। इस ग्रन्थों में कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) माधव निदान—जिसका नाम 'रोगविनिश्चय' है परन्तु जो अपने रचयिता इन्दुकर के पुत्र माधवकर के कारण 'माधवनिदान' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि निदान प्रत्येक वैद्यक ग्रन्थ का एक विशेष अङ्ग है परन्तु यह ग्रन्थ केवल निदान के ऊपर एक स्वतन्त्र पुस्तक है। यही पुस्तक की विशेषता है। इसकी सर्व प्रसिद्ध टीका का नाम 'मधुकोश व्याख्या' है जो स्वयं स्वतन्त्र ग्रन्थ का महत्त्व रखती है। 'मधुवेश व्याख्या' की जानकारी वैद्यक शास्त्र के पाण्डित्य की चरम कसौटी है। इसके रचयिता का नाम विजयरक्षित और श्रीकण्ठदत्त है।

(२) *शार्ङ्गधर संहिता*—इसके रचयिता का नाम शार्ङ्गधर है। इसके ऊपर वैद्य केशव के पुत्र सुप्रसिद्ध वोपदेव ने टीका लिखी है। ये हेमाद्रि के आश्रित कवि थे। अतः इनका समय १३०० ई० आस पास समझना चाहिये।

रसशास्त्र वैद्यक शास्त्र का ही महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इससे सम्बन्ध रखने वाले बहुत ग्रन्थ हैं जिनमें भस्म बनाने की प्रक्रिया बतायी गयी है। रसायन शास्त्र आजकल का बहुत महत्त्वपूर्ण विज्ञान है। परन्तु इस प्रक्रिया को देखने से पता लगता है कि प्राचीन काल के आचार्य भी रसायन शास्त्र से पूर्णतया परिचित थे और उन्होंने इस शास्त्र में अनेक नवीन गवेषणायें की थीं। जिनका परिचय आधुनिक रसायन—शास्त्रियों को धीरे धीरे मिल रहा है। इसी विद्या के अन्तर्गत सुवर्ण बनाने की भी

विद्या थी जिसका व्यावहारिक रूप प्राचीन काल में अवश्य विद्यमान था। पारद (पारा) का यदि सच्चा तथा शुद्ध भस्म बन सके तो उसके रगड़ने से लोहा या ताँबा अवश्य सोना बन जाता था। ऐसे वैद्य रसवैद्य कहलाते थे। बौद्ध लोग भी इस विद्या के जानकार थे। नागार्जुन—जो एक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक थे—इस विद्या के प्रसिद्ध आचार्य थे। इससे पता लगता है कि आलकेमी (रसायन विद्या) का जन्मस्थान भी यही पवित्र भारतवर्ष था।

(ख) धनुर्वेद—यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है। इस उपवेद के प्राचीन ग्रन्थों का पता हमें कहीं से भी प्राप्त नहीं होता। परन्तु धनुर्वेद के विषय के प्रतिपादक अनेक ग्रन्थ आज भी संस्कृत में उपलब्ध होते हैं जिनकी सहायता से इस उपवेद के रहस्य का परिचय हम भलीभाँति पा सकते हैं। धनुर्विधि, द्रोणविद्या, कोदण्डमण्डन, धनुर्वेद संहिता आदि ग्रन्थों में इस विषय का प्रतिपादन स्वतन्त्ररूपसे किया गया है। शार्ङ्गधर-पद्धति, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत में युद्ध के वर्णनप्रसङ्ग से इस उपवेद के अनेक तथ्यों का चयन किया जा सकता है। पुराणों में भी, विशेषतः अग्निपुराण में, धनुर्वेदविषयक कतिपय अध्याय उपलब्ध होते हैं। इन्हीं प्रकीर्ण ग्रन्थों की आलोचना करने से इस उपवेद की मार्मिक बातें जानी जा सकती हैं।

धनुर्वेद के आदि आचार्य भगवान् शंकर ही है। उनके बाद वसिष्ठ तथा विश्वामित्र भी इस विद्या के आचार्य हुए। शंकर से यह उपवेद परशु-राम ने प्राप्त किया। परशुराम से द्रोणाचार्य ने इसे प्राप्त किया। द्रोण के पट्टशिष्य हुए अर्जुन, जिन्होंने यह विद्या सात्यकि नामक यादव को दी। भगवान् शिव ने ही इस वेद के विषय में ग्रन्थ का प्रणयन किया था। शिवप्रोक्त धनुर्वेद के चार पाद हैं—(१) 'दीक्षा प्रकार विधि' जिसमें

उपदेश के प्रकार कहे गये हैं। (२) 'संग्रहविधि' जिसमें धनुर्वेद के अभ्यास करने की रीति बतलाई गई है। (३) 'प्रयोगविधि'—शस्त्रों के चलाने का प्रकार बतलाया गया है। (४) 'अस्त्रसिद्धि विधि'—आग्नेय आदि दिव्य अस्त्रों की सिद्धि के प्रकार का प्रदर्शन है।

धनुर्वेद वेदतुल्य ही है। अतः चतुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन की जो व्यवस्था शास्त्रों में की गई है, धनुर्वेद के विषय में भी वही व्यवस्था विद्यमान है। इस विद्या का अध्यापक ब्राह्मण ही होता था। ब्राह्मण गुरु के अभाव में क्षत्रिय भी इस विद्या का शिक्षक बन सकता है। ब्राह्मण क्षत्रिय से विद्या सीख सकता है। शिष्यत्वकाल में ही वह शिष्य है। पढ़ लेने पर ब्राह्मण गुरुवत् माना जाता है। इसके सीखने का अधिकार द्विजाति ही को है। शूद्र को इस विद्या के गुरु से ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। इसीलिए एकलव्य ने द्रोण की मूर्ति बना कर स्वतः इसका अभ्यास किया था। वह शूद्र जाति का था और साक्षात् रूप से वह द्रोणाचार्य से इसके ग्रहण का अधिकारी नहीं था।

धनुर्वेद में धनुष तथा बाण के नाना प्रकार चलाने के ढङ्गों का वर्णन तो है ही, साथ ही साथ सब प्रकार के आयुधों के फेंकने और चलाने का पूरा विवरण दिया गया है। आयुध दो प्रकार के होते हैं—(१) शस्त्र तथा (२) अस्त्र। जो आयुध बिना मन्त्रप्रयोग के काम में लाया जाय, उसे शस्त्र कहते हैं और जो मन्त्रप्रयोग पूर्वक काम में लाया जाय, वह अस्त्र कहलाता है। धनुर्वेदसंहिता के अनुसार शस्त्र के चार भेद होते हैं—(क) मुक्त, (ख) अमुक्त (ग) मुक्तामुक्त (मुक्तसंधारित), (घ) यन्त्रमुक्त।

(क) जो केवल हाथ से चलाया जाय अर्थात् चलाने पर जो हाथ से अलग हो जाता है वह 'मुक्त' कहलाता है। इसे 'पाणिमुक्त' भी कहते हैं जैसे शिला, तोमर आदि।

(ख) चलाने के समय जो आयुध हाथ में ही रहे, हाथ से अलग न हो जाय, वह 'अमुक्त' कहलाता है, जैसे तलवार।

(ग) जो आयुध चलाने के समय तो हाथ से अलग हो जाय, पर पीछे पकड़ लिया जाय वह 'मुक्तामुक्त' या 'मुक्तसंधारित' होता है जैसे प्रास।

(घ) 'यन्त्रमुक्त' का अर्थ किसी यन्त्र के द्वारा चलाये गये आयुध से है। जैसे धनुष के द्वारा फेंका गया बाण या गोफना (रस्सी या सूत के छीके) के द्वारा पत्थर के टुकड़े फेंके जाते हैं। इसी का नाम 'क्षेपणी' है।

बाण भी अनेक प्रकार का होता है—(१) जो बाण खाली लोहे का बनाया जाता है अर्थात् जिसमें ऊपर से नीचे तक लोहा ही रहता है उसे 'नाराच' कहते हैं। (२) जो बाण बहुत ही छोटा होता है उसका नाम है 'नालीक' (आजकल की गोली)। वह 'नल यन्त्र' (बन्दूक) के द्वारा चलाया जाता है। (३) बृहन्नालीक—बड़ा गोला, जो दुर्गरक्षा के लिए अथवा बैरी के दुर्ग के फाटक और दीवार तोड़ने के काम में आता है। इसके चलाने के लिए 'रञ्जकद्रव्य' की आवश्यकता होती है। यह द्रव्य बारूद ही है जिसकी सहायता से बृहत् नलयन्त्र (तोप) के द्वारा यह शस्त्र चलाया जाता है।

इसके अतिरिक्त आठ प्रकार के स्थान (पैंतरा) होते हैं जो युद्ध के लिए खड़े होने के भिन्न-भिन्न तरीके हैं। उनके नाम हैं—आलीढ़, प्रत्यालीढ़, वैशाख, समपाद, विषमपाद, दर्दुरक्रम, गरुडक्रम तथा पद्मासन। इनके लक्षण तथा उपयोग का विशदवर्णन इस शास्त्र में है। युद्ध के भेद, व्यूहरचना के प्रकार, युद्ध में लड़ने के प्रकार—आदि का विशद विवेचन इस उपवेद में है। युद्ध विद्या में भारतीयों की ख्याति प्राचीन कालसे चली आती है। इस विद्याके यथार्थ निरूपण के लिए इस उपवेद का अनुशीलन परमावश्यक है[1]।

---

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ६ (वि० १६८५) अंक—४ पृ० ३८७—४७८

(ग) संगीत

संगीत-शास्त्र सामवेद का उपवेद है। ऋग्वेद के मन्त्रों को विशिष्ट पद्धति से जब गाया जाता है तब उसे साम कहते हैं। साम का गायन बड़ा ही मधुर, मनोहर तथा चित्ताकर्षक होता है। संगीत की उत्पत्ति इन्हीं साम-गायनों से हुई। परन्तु आधुनिक संगीत किस प्रकार इन साम-गायनों से उत्पन्न हुआ? इसका पता नहीं चलता। संगीत-विषयक ग्रन्थों के उपलब्ध न होने के कारण संगीत के क्रमिक विकास की शृंखला जोड़ी नहीं जा सकती। परन्तु इतना तो निश्चित है कि ब्राह्मण तथा उपनिषदों के समय में संगीत-शास्त्र की चर्चा कुछ कम न थी। ऐतरेय आरण्यक में उस समय की प्रचलित 'वीणा' का वर्णन मिलता है जो बड़ा ही मनोरंजक और तथ्यपूर्ण है। ऐतरेय आरण्यक में मनुष्य का शरीर वीणा बतलाया गया है तथा वीणा के अवयव एवं मानव देह के अवयव—इन दोनों की परस्पर तुलना की गई है।

अथ खल्वियं दैवी वीणा भवति तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति। यथास्याः शिरः एवममुष्याः शिरः यथास्या उदरमेवममुष्या अम्भणम्। यथास्यै जिह्वा एवममुष्यै वादनम्, यथा अस्यास्तन्त्रयः एवममुष्या अंगुलयः। यथास्याः स्वरा एवममुष्याः स्वराः, यथास्याः स्पर्शाः एवममुष्याः स्पर्शाः, यथा ह्येवेयं शब्दवती तर्द्मवती एवमसौ शब्दवती तर्द्मवती, यथा ह्येवेयं लोमशेन चर्मणाऽपिहिता भवति एवमसा लोमशेन चर्मणाऽपिहिता। लोमशेन ह स्म वै चर्मणा पुरा वीणा अपिदधति। स यो हैतां वीणां वेद श्रुतवदनो भवति, भूमिप्राऽस्य कीर्तिर्भवति, यत्र क्व चार्या वाचो भाषन्ते विदुरेनं तत्र"—ऐतरेय आरण्यक आ० ३ अ० २ खं० ५।

इस उद्धरण के अनुशीलन से पता चलता है कि उस समय किस

प्रकार की वीणा बनाई जाती थी। अम्भण, वादन, तन्त्री, स्वर, स्पर्श, शब्द तथा तद्म आदि शब्द पारिभाषिक हैं और वीणा के विशिष्ट प्रसङ्गों में प्रयोग किये जाते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि आजकल की वीणा प्राचीनकाल की वीणा से अधिक भिन्न नहीं हैं। इस उद्धरण से यह भी पता चलता है ऐतरेय आरण्यक की रचना के पूर्व वीणा का एक भाग चाम से ढका रहता था, परन्तु आरण्यक के समय में यह प्रयोग छोड़ दिया गया था।

साम गायन की पद्धति बहुत ही कठिन है, उसकी ठीक-ठीक जानकारी के लिये सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता है। साधारण ज्ञान के लिये यह जानना पर्याप्त है कि सामगान के पाँच भाग होते हैं:—(१) *प्रस्ताव*— यह मन्त्र का आरंभिक भाग है जो हुं से प्रारम्भ होता है। इसे प्रस्तोता नामक ऋत्विज् गाता हैं। (२) उद्गीथ—इसे साम का प्रधान ऋत्विज् उद्गाता गाता है। इसके आरंभ में ओम् लगाया जाता है। (३) प्रतिहार—इसका अर्थ है दो को जोड़ने वाला। इसे प्रतिहर्त्ता नामक ऋत्विज् गाता है। इसी के कभी-कभी दो टुकड़े कर दिये जाते हैं। (४) उपद्रव—जिसे उद्गाता गाता है तथा (५) निधन—जिसमें मन्त्र के अन्तिम दो पदांश या ओम् रहता है। इसका गायन तीनों ऋत्विज्— प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता—एक साथ करते हैं। उदाहरण के लिये सामवेद का प्रथम मन्त्र लीजिये।—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥

इसके ऊपर जिस सामका गायन किया जायेगा उसके पाँचों अङ्ग इस प्रकार हैं:—

(१) हुं ओग्ना इ (प्रस्ताव)

(२) श्रोम् आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये (उद्गीथ)

(३) नि होता सत्सि बर्हिषि ओम् (प्रतिहार)

इसी प्रतिहार के दो भेद होंगे जो दो प्रकार से गाये जायें।

(४) नि होता सत्सि ब (उपद्रव)

(५) र्हिषि ओम् (निधन)।

इसी साम को जब तीन बार गाया जाता है तब उसे 'स्तोम' कहते हैं। साम-गायन के लिये स्वर को कभी-कभी दीर्घ, कभी ह्रस्व और कभी विकृत या परिवर्तित करना पड़ता है—जैसे पूर्व मन्त्र के *अग्न* का गायन में परिवर्तित रूप 'ओग्नाइ' हो जाता है। गायन में पूर्ति के लिये कभी-कभी निरर्थक पद भी जोड़ दिये जाते हैं—जैसे औ, हौ, वा, हा, आदि। इन्हें *स्तोभ* कहते हैं।

भरत मुनि का ग्रन्थ—*नाट्यशास्त्र*—ही संगीत शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है। जितने संगीत बिषयक ग्रन्थ आजतक उपलब्ध हैं यह उन सबमें निःसंदिग्ध प्राचीनतम है। यह किसी एक शताब्दी का साहित्यिक प्रयास न होकर अनेक शताब्दियों में विकसित होने वाला अनुपम ग्रन्थ है। यह नाट्य का तो आदिम ग्रन्थ है ही, साथही साथ अलंकार शास्त्र, छन्दः शास्त्र तथा संगीतशास्त्र का भी अत्यन्त मौलिक और प्राचीन ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र की रचना विक्रम–पूर्व द्वितीय शतक से लेकर विक्रम-पश्चात् द्वितीय शतक तक होती रही। नाट्यशास्त्र में अध्याय २८ से लेकर ३६ अध्याय तक संगीत का साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है। संगीत के विषय में भरत का अपना विशिष्ट मत है। आजकल जो संगीत प्रचलित है उसमें संगीत की इतनी विभिन्न धारायें आकर मिश्रित हो गई हैं कि भरत के सिद्धान्तों को ठीक ठीक समझना कठिन होगया है।

भरत के अन्तर भी संगीतशास्त्र की उन्नति हुई, परन्तु इन ग्रन्थकारों

के ऐतिहासिक वृत्त का परिचय हमें नहीं मिलता। भरत के अनन्तर शार्ङ्गदेव की ही कृति संगीत के ज्ञान-विवर्धन के लिए हमें उपलब्ध होती है। शार्ङ्गदेव के इस ग्रन्थ का नाम है संगीत रत्नाकर। शार्ङ्गदेव देवगिरि (दौलताबाद) के यादव राजा सिंघण (१२१०–१२४० ई०) के राज्य काल में हुए थे। *'संगीत रत्नाकर'* संगीत शास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। इसमें संगीत के विभिन्न अंगों का बड़ा ही उपादेय विवरण प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थकार ने निम्नलिखित संगीताचार्यों के मत का उल्लेख किया गया है:—भरत, कश्यप, मतंग, याष्टिक, शार्दूल, कोहल, विशखिल, दन्तिल, कम्बल, अश्वतर, विश्वावसु, अर्जुन, नारद, तुम्बुरु, आञ्जनेय, मातृगुप्त, स्वाति, बिन्दुराज, क्षेत्रराज, राहल, रुद्रट, नान्यभूपाल, भोजराज और परमर्दि सोमेश महीपति आदि। भरत नाट्य शास्त्र के टीकाकारों में लोल्लट, उद्भट, शङ्कुक, अभिनवगुप्त और कीर्तिधर के नाम परिगणित हैं। इस ग्रन्थ पर पीछे के अनेक ग्रन्थकारों ने टीकायें लिखीं—सिंहभूपाल, महाराणा कुम्भकर्ण, हंसभूपाल, की टीकायें अभी प्रकाशित नहीं हैं। कल्लिनाथ की बृहट्टीका आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़ पूना से प्रकाशित है।

संगीत मकरन्द—इसके कर्ता नारद बतलाये जाते हैं ये नारद प्राचीन नारद मुनि से पृथक् ही प्रतीत होते है। इस ग्रन्थ[1] में दो मुख्य अध्याय या खण्ड है।—(१) संगीताध्याय और (२) नृत्याध्याय। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस प्रकार यह पूरा ग्रन्थ आठ पादों में समाप्त हुआ है। आरम्भ में नादकी उत्पत्ति का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। रागों के भेद तीन प्रकार के बतलाये गये हैं—(१) पुल्लिङ्गराग (२)

---

१. गा. ओ. सी. नं० १६ (सन् १९२०) में श्री मंगेशराव तैलङ्ग के सम्पादकत्व में प्रकाशित।

स्त्रीलिङ्गराग और (३) नपुंसक राग। वाद्यों में विशेषकर मृदङ्ग और वीणा के लक्षणों का अच्छा उपन्यास हैं। स्वर की उत्पत्ति का प्रसङ्ग बड़ा ही सुन्दर है। गायक के लक्षण तथा गीत-दोष के साथ संगीतध्याय समाप्त होता है। नृत्याध्याय में नाट्य शाला के पत्रों के विशेष वर्णन के अनन्तर १०१ प्रकार के तालों का वर्णन किया गया है। मात्रा, अंग, ग्रह, जाति, प्रस्तार आदि का वर्णन बीस अध्याय में किया गया है। मृदङ्ग के वर्णन के साथ यह अध्याय समाप्त होता है। इस ग्रन्थ में प्राचीन संगीतकारों की सूची में मतंग, काश्यप, कमलास्य, चण्डी, व्याल, शार्दूल नारद, तुम्बुरु, षड्मुख, भृङ्गी, देवेन्द्र, कुबेर, कुशिक, मातृगुप्त, रावण, समुद्र, सरस्वती, बलि एवं विक्रम के नाम निर्देश किए गये हैं (पृ०१२ १—श्लोक १८-२१)। मातृगुप्त के नामोल्लेख के स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ के रचयिता छठी शताब्दी के बाद ही उत्पन्न हुए क्योंकि मातृगुप्त मालवा के नरेश शीलादित्य प्रतापशील (५५०—६०० ई०) के समकालीन माने जाते हैं। नारद ने शार्ङ्गदेव के समान रुद्रट, शङ्कुक आदि अपेक्षाकृत अर्वाचीन ग्रन्थकारों का उल्लेख नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि नारद शार्ङ्गदेव से प्राचीन हैं। अनुमानतः इन्हें दशम शताब्दी में माना जा सकता है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त पुण्डरीक विट्ठलकृत 'राग मंजरी' तथा 'सद्राग चन्द्रोदय', सोमनाथ का 'रागविबोध', दामोदरकृत 'संगीत दर्पण', अहोबल पण्डित का 'संगीत पारिजात', रामामात्य का 'स्वरमेल कलानिधि', हृदय नारायण देवरचित 'हृदयप्रकाश' और 'हृदय कौतुक' संगीतशास्त्र के उपादेय ग्रन्थ हैं तथा ये प्रकाशित भी हैं। इनका समय १४ वीं शताब्दी से बाद का है। संगीतशास्त्र का साहित्य बड़ा ही विशाल है परन्तु दुःख की बात है कि वह अभी तक हस्तलिखित रूप में ही पड़ा हुआ है[१]।

---

१. द्रष्टव्य—संगीत मकरन्द का परिशिष्ट २ पृ. ५४-५६।

संगीतशास्त्र के सिद्धान्त

नाद—समग्र संगीतशास्त्र नाद के अधीन है। नाद दो प्रकार का होता है—आहत तथा अनाहत। जो नाद आघात के बिना उत्पन्न होता है उसे अनाहत नाद कहते हैं। परन्तु जो नाद आघात से उत्पन्न होता है वह आहत नाद होता है। जिस प्रकार वीणा आदि वाद्यों के तार के ऊपर मिजराब आदि के मारने से, मृदङ्ग आदि वाद्यों पर हाथ मारने से तथा कण्ठ से जो नाद उत्पन्न होता है वह आघात-जन्य होने के कारण आहत नाद है। संगीत शास्त्र का संबंध इसी नाद से है। यद्यपि आहत नाभि, हृदय, कण्ठ, मुख और सिर—इन पाँच स्थान भेद से पाँच प्रकार का है, तथापि लोक-व्यवहार में स्थानों के भेद से हृदय, कण्ठ तथा सिर से संबंध रखने वाला नाद तीन प्रकार का है। हृदय देश में रहने वाला नाद मन्द्र (प्रथम श्रेणी का) कहलाता है। कण्ठ में होने वाला नाद मध्य तथा सिर में होने वाला नाद तार (तृतीय श्रेणी का, सबसे ऊँचा) कहलाता है। मन्द्र से मध्य दुगुना ऊँचा होता है तथा मध्य से तार दुगुना ऊँचा होता है। इन्हीं तीन स्थानों के भेद से स्वरों को तीन सप्तक होते हैं:—(१) हृदय देश में मन्द्र नादात्मक प्रथम सप्तक (२) कण्ठ देश में मध्य नादात्मक द्वितीय सप्तक और (३) सिर में होने वाला तार नादा-दात्मक तृतीय सप्तक। मन्द्र सप्तक बहुत ही हलका तथा नीचे वाला है। उसके ऊपर अर्थात् खिंचा हुआ मध्य सप्तक है। इससे भी ऊपर वाले अत्यन्त ऊँचे स्वर समूह को तार सप्तक कहते हैं।

भारतीय संगीतशास्त्र के वेत्ताओं ने नाना प्रकार के स्वरों का सूक्ष्म विवेचन करके स्वरों की संख्या सात ही मानी है जिनके नाम ये हैं—(१) षड्ज (२) ऋषभ (३) गान्धार (४) मध्यम (५) पञ्चम (६)

धैवत और (७) निषाद। इन्हीं नामों के आद्य अक्षरों को लेकर इन स्वरों का संकेत इस प्रकार किया जाता है—सा रे ग म प ध नि। भारतीय संगीत वेत्ताओं का यहाँ तक कहना है कि पशुओं और पक्षियों की आवाज में भी ये सातों स्वर विद्यमान रहते हैं। मोर षड्ज स्वर में बोलता है, गाय ऋषभ में बोलती हैं, बकरा गान्धार, क्रौञ्च मध्यम, वसन्त के समय में कोयल पञ्चम, घोड़ा धैवत और हाथी निषाद स्वर का उच्चारण करते हैं—

> षड्जं मयूरो वदति, गावो ऋषभभाषिणः।
> अजा वदन्ति गान्धारं, क्रौञ्चः कूजति मध्यमम्॥
> पुष्पसाधारणे काले, पिकः कूजति पञ्चमम्।
> धैवतं ह्रेषते वाजी, निषादं ब्रुवते गजः॥

यूरोप के संगीत शास्त्रियों ने भी इन सात स्वरों को उनमें प्रतिक्षण होने वाले कम्पनों के द्वारा नापकर दिखलाया है कि ऊपर वाले सप्तक अपने नीचे वाले सप्तक से ऊँचाई (Pitch) में दुगुना होता है। यन्त्रों की सहायता से यह परीक्षा की गई है। परन्तु प्राचीन भारतीय संगीतज्ञों ने भी ठीक यही बात कही थी जो विज्ञान की दृष्टि से विशेष उपादेय तथा विस्मयकारक है।

श्रुति—उक्त तीन प्रकार के नादों में से प्रत्येक नाद के प्रत्यक्ष-योग्य २२ भेद होते हैं। इन्हीं भेदों के 'श्रुति' कहते हैं। हृदय देश में एक प्रकार की २२ नाड़ियाँ हैं। इन्हीं के कारण हृदय-देश में मन्द्र नादात्मक २२ श्रुतियाँ उत्पन्न होती हैं जो क्रम से एक से एक ऊँची होने के कारण श्रुतियाँ भी एक दूसरे से ऊँची होती रहती हैं। तीनों सप्तकों की ठीक यही दशा है।

तस्य द्वाविंशतिर्भेदाः, श्रवणाच्छ्रुतयो मताः ।
हृद्यूर्ध्व-नाडी-संलग्ना, नाड्यो द्वाविंशतिर्मताः ।
तिरश्च्यस्तासु तावत्यः श्रुतयो मारुताहताः ॥
उच्चोच्चतरतायुक्ताः प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम् ।
एवं कण्ठे तथा शीर्षे श्रुतिर्द्वाविंशतिर्मता ॥

इन बाईस श्रुतियों के नाम भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में कुछ भिन्नता के साथ मिलते है। इनके नाम क्रम से ये हैं—(१) तीव्रा (२) कुमुद्वती (३) मन्दा (४) छन्दोवती (५) दयावती (६) रंजनी (७) रतिका (८) रौद्री (९) क्रोधा (१०) वज्रिका (११) प्रसारिणी (१२) प्रीति (१३) मार्जनी (१४ क्षिति (१५) रक्ता (१६) संदीपिनी (१७) आलापिनी (१८, मदन्ती (१९) रोहिणी (२०) रम्या (२१) उग्रा और (२२) क्षोभिणी। इन श्रुतियों की पाँच जातियाँ होती हैं जिनके नाम ये हैं:—(१) दीप्ता (२) आयता (३) करुणा (४) मृदु (५) मध्या। श्रुतियों के सुनने पर मन पर जैसा प्रभाव पड़ता है उसीके अनुसार इनका नामकरण किया गया है। दीप्ता जातिवाली श्रुतियों के श्रवण से मन दीप्त हो जाता है। आयता से मन विस्तृत होता है आदि।

श्रुति और स्वर का भेद संगीत ग्रन्थों में बड़ी स्पष्टता के साथ दिया गया है। जो रणन (ध्वनि) प्रथमतः उत्पन्न होता है वह श्रुति कहलाती है। तदनन्तर जो अनुरणन होता है उसे ही स्वर कहते हैं। इसीलिए स्वर का लक्षण इस प्रकार है:—

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणात्मकः ।
स्वरो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते ॥

वस्तुगत्या बाईस श्रुतियों के बाईस ही स्वर है परन्तु अधिक अनु-

रञ्जक होने के कारण सात श्रुतियों पर सात स्वर स्थिर कर दिये गये हैं। राग की दृष्टि से स्वरों के चार प्रकार होते हैं:—(१) संवादी (२) वादी (३) अनुवादी (४) विवादी।

ग्राम—स्वर के समूह को ग्राम कहते हैं। 'ग्राम' की संख्या तीन है[१]–(१)षड्ज ग्राम (२) मध्यम ग्राम तथा (३) गान्धार ग्राम। शुद्ध सात स्वरों का क्रमान्वित समूह—जैसे स र ग म प ध न, या न ध प य ग र स षड्जग्राम कहलाता है। दूसरा शुद्ध स्वरसमूह मध्यम से आरम्भ होता है या मध्यम से समाप्त होता है जैसे—म प ध न स र ग, या ग र स न ध प म। इसी को मध्यम ग्राम कहते हैं। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में इन्हीं दो ग्रामों का उल्लेख किया है। परन्तु संगीतरत्नाकर में गान्धार ग्राम तीसरे ग्राम के रूप में उल्लिखित किया गया है। और यह भी लिखा गया है कि यह गान्धार ग्राम स्वर्ग लोक में गाया जाता है। मृच्छकटिक नाटक तथा पञ्चतन्त्र में तीन ग्राम का उल्लेख मिलता है। जान पड़ता है कि गान्धार ग्राम की कल्पना भरत मुनि के पीछे की है।

मूर्च्छना—क्रम से सातो स्वरों के आरोह तथा अवरोह को 'मूर्च्छना' कहते हैं। अरोह का अर्थ हैं स्वरों का क्रमिक चढ़ाव तथा अवरोह का अर्थ है स्वरों का क्रमिक उतार जैसे—सा रे ग म प ध नि।—नि ध प म ग रे सा। संगीत रत्नाकर में मूर्च्छना का यह लक्षण दिया हुआ है:—

---

१. यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकी भूता भवन्ति हि।
तथा स्वराणं सन्दोहो ग्राम इत्यभिधीयते॥
षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च।
गान्धारग्राम इत्येतद ग्राम-त्रयमुदाहृतम्॥

क्रमात् स्वराणं सप्तानां आरोहश्चावरोहणम् ।
सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च ॥

स्वर सात हैं और मूर्च्छना का संबंध स्वरों से है । अतः प्रत्येक ग्राम में सात मूर्च्छना होती है । ग्राम तीन होते हैं अतः इस प्रकार मूर्च्छनाओं की संख्या २१ है (३ × ७ = २१)। षड्ज ग्राम को मूर्च्छनाओं के नाम ये हैं:—(१) उत्तर मन्द्रा (२) रजनी (३) उत्तरायता (४) शुद्धषड्जा (५) मत्सरीकृता (६) अश्वक्रान्ता (७) अभिरुद्गता । मध्यम ग्राम की मूर्च्छनाओं के नाम हैं—(८) सौवीरी (९) हरिणाश्वा (१०) कलोपनता (११) शुद्धमध्या (१२) मार्गी (१३) पौरवी (१४) हृष्यका । गान्धार ग्रामकी मूर्च्छनाओं के नाम हैं:—(१५) नन्दा (१६) विशाला (१७) सुमुखी (१८) चित्रा (१९) चित्रावती (२०) सुखा (२१) आलापा[1]

वर्ण—संगीत शास्त्रवाले गान क्रिया—स्वरोच्चारण को वर्ण कहते हैं । इसके चार प्रकार है—(१) स्थायी (२) आरोही (३) अवरोही (४) संचारी । एक स्वर के निरन्तर अनेक बार प्रयोग करने को स्थायी कहते हैं । आरोहण करने वाले स्वर को आरोही कहते हैं । अवरोहण को अवरोही कहते हैं । इन तीनों का यदि संकर हो तो उसे संचारी कहते हैं ।

राग—जो विशिष्ट स्वर समूह (स्वरों का आरोहावरोह विशेष) मनुष्यों के चित्तको विशेष रूप से अनुरंजन करता है उसे राग कहते हैं—

योऽसौ ध्वनिविंशेषस्तु, स्वरवर्ण–विभूषितः ।
रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः ॥

रागों के प्रधानतया दो भेद हैं—पुरुष राग तथा स्त्री राग । इसी

---

१ इन मूर्च्छनाओं के स्वरूप के लिए देखिये पं० सुदर्शनाचार्य रचित संगीत सुदर्शन पृष्ठ २१ – २५.

स्त्रीराग को रागिनी कहते हैं। राग तथा रागिनी का भेद नितान्त सूक्ष्म है। इनका सामान्य भेद तो यह है कि जिसमें ओजकी मात्रा अधिक हो उसे राग कहते हैं और जिसमें सौकुमार्य तथा मधुरता की प्रचुरता हो उसे रागिनी कहते हैं। आजकल प्रायः तीन प्रकार की र ा—रागिनी प्रसिद्ध हैं। (१) औडुव (२) षाड्व (३) सम्पूर्ण। जिसमें पाँच ही स्वर लगते हों उसे औडुव कहते हैं यथा मालकोष आदि। जिसमें छः स्वर लगते हो वह षाड्व कहलाता है जैसे गुजरी आदि। जिसमें सातो स्वर लगते हैं उसे सम्पूर्ण कहते हैं जैसे भैरव आदि। इनमें प्रसिद्ध राग छः ही हैं— (१) भैरव (२) श्री (३) मालकोष (४) दीपक (५) मेघ (६) हिण्डोल। इनमें से प्रथम तीन राग प्रत्येक ऋतु में गाने योग्य है तथा अन्तिम तीन राग विशिष्ट ऋतु में गाये जाते हैं। प्रथम तीन रागों में भी समय के कारण भेद है। भैरव राग प्रातःकाल में, श्री दिन के चौथे पहर में तथा मालकोष रात्रि में गाया जाता है। पिछले तीन रागों का सम्बन्ध ऋतुओं से है। दीपक राग ग्रीष्म ऋतु में, मेघ राग वर्षा में तथा हिण्डोल शीतकाल में गाया जाता है। दीपक राग का गाना मियाँ तानसेन के समय से बन्द है। मेघ राग भी सामान्य ही है। शेष चार राग बहुत अच्छे हैं तथा प्रचलित हैं।

(घ) अर्थशास्त्र

चरणव्यूह के अनुसार अथर्ववेद का उपवेद अर्थशास्त्र है जिसके अन्तर्गत दण्डनीति, स्थापत्य तथा कला का अन्तर्भाव होता है। अर्थ-शास्त्र का विषय बहुत ही प्राचीन है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसका यत्किञ्चित् निर्देश मिलता है। धर्मशास्त्रों में भी धर्म के वर्णन के साथ साथ अर्थ का भी वर्णन उपलब्ध होता है। महाभारत में अर्थ और दण्डनीति

के विषय का प्रतिपादन विशेष रूपसे किया गया मिलता है। महाभारत के अनुसार ब्रह्मा ने ही एक लक्ष अध्यायों में एक विपुलकाय ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें अर्थ, धर्म और काम इन तीनों पुरुषार्थों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन था। मनुष्य जीवन की ह्रस्वता का विचार कर भगवान् शंकर ने विशालाक्ष के नाम से इस ग्रन्थ का संक्षेप दश हजार अध्यायों में प्रस्तुत किया। इन्द्र ने पाँच हजार अध्यायों में इसीको लिखा और इन्द्र के इस ग्रंथ को जिसका नाम 'बाहुदन्तक' था बृहस्पति ने तीन हजार अध्यायों में और उशना ने एक हजार अध्यायों में संक्षेप किया। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में बृहस्पति, बाहुदन्तीपुत्र, विशालाक्ष, तथा उशना अर्थशास्त्र के प्रमाण-भूत आचार्यों में गिने गये हैं। कामसूत्र के अनुसार धर्म का वर्णन मनु ने, अर्थ का बृहस्पति ने और काम का वर्णन नन्दी ने किया और ये ही इन विषयों के माननीय प्रथम आचार्य हैं। अर्थशास्त्र के प्रथम लेखक बृहस्पति हैं इस विषय में प्रर्याप्त प्रमाण मिलता है। उनका अर्थ-शास्त्र मिलता भी था इसका पता 'भास' के नाटक से चलता है। आजकल उपलब्ध 'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र' सूत्र रूप में है। बृहस्पति के नाम से अन्य ग्रन्थों में उद्धृत मतों की भी उपलब्धि इनमें अवश्य होती है, परन्तु फिर भी यह ग्रन्थ प्राचीन नहीं प्रतीत होता।

इस विषय का सबसे प्राचीन, महत्त्वपूर्ण तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' है जो कौटिल्य का लिखा हुआ है। सन् १९०९ ई० में डा० शामशास्त्री ने इस ग्रन्थ को खोज निकाला। इसके पहले इस ग्रन्थ का उद्धरण अन्य ग्रन्थों अवश्य मिलता था परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ का पता नहीं था। इस ग्रन्थ में भारत की प्राचीन राजनीति के सिद्धान्त बड़ी विशदता से प्रतिपादित किए गये हैं। यह ग्रन्थ चन्द्रगुप्त मौर्य के सुप्रसिद्ध मन्त्री चाणक्य का लिखा हुआ है जिसका दूसरा नाम कौटिल्य

भी था। इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना इसवी सन् पूर्व तीसरी शताब्दी में हुई। यह ग्रन्थ बृहत्काय है जिसमें १५ अधिकरण हैं और १८० प्रकरण हैं। इन प्रकरणों के बीच में भी अध्याय हैं। यह ग्रन्थ गद्यात्मक है परन्तु स्थान स्थान में श्लोक भी दिए गये हैं।

प्रथम अधिकरण में राजा की शिक्षा का विषय है। उसे वेद, वेदाङ्ग, सांख्य योग लोकायत शास्त्र का अध्ययन तो करना ही चाहिए, साथ ही साथ दण्डनीति का अध्ययन उसके लिए नितान्त आवश्यक है। राजा की सभा और मन्त्रियों के वर्णन के अनन्तर गुप्तचरों का विशद वर्णन किया गया है। द्वितीय अधिकरण में भिन्न-भिन्न राजकीय विभागों के अध्यक्षों का रोचक विवरण प्रस्तुत किया गया है जिससे मालूम पड़ता है कि प्राचीन काल में शासन की सुव्यवस्था का विधान किस प्रकार से होता था। तीसरे अधिकरण में कानून की चर्चा है तथा चतुर्थ में अपराधियों को पुलिस के द्वारा दण्ड दिये जाने का वर्णन है। पञ्चम अधिकरण मन्त्रियों तथा परिषद् से विरोध होने पर राजा के आचरण का विधान करता है। इसी प्रसंग में राजा के मन्त्रियों तथा अन्य कर्मचारियों को कितना वेतन दिया जाय, इसका भी वर्णन है। छठे अधिकरण में सात प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन है। सप्तम में युद्ध के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। अष्टम अधिकरण मृगया, द्यूत, कामिनी, तथा सुरा में राजा के आसक्त होने पर देश में आने वाली विपत्तियों का वर्णन करता है। नवम ओर दशमका विषय युद्ध है। एगारहवें में शत्रुपक्ष में भेद उत्पन्न करने के लिये किन किन उपायों का आश्रम लेना चाहिये, इसका मार्मिक विवरण है। गुप्तचरों के द्वारा यह कार्य किया जाता था जिनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित होती थीं। बारहवें में इसी का विशेष विवणर है। तेरहवें में राजा किस प्रकार से दुर्ग पर आक्रमण

करता था तथा शत्रुओं को वश में करता था, इसका उल्लेख है। चौदहवें में राजनीति का गुप्त बातें वर्णित हैं जैसे शत्रु को पागल बनाने, अन्धा बनाने तथा मारडालने के नुसखे दिये गये हैं। किस प्रकार मनुष्य अपने को अदृश्य बना सकता है, अन्धकार में देख सकता है, एक मास तक उपवास कर सकता है, आग में बिना किसी हानि के चल सकता है आदि आदि अनेक जासूसी बातें इस प्रकरण में दी गई हैं। अन्तिम (१५) अधिकरण में पूरे ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय दिया गया है तथा ३२ प्रकारके राजनीति के उपयोगी उपायों का विशद समीक्षण किया गया है। इस सामान्य परिचय से ही इस ग्रन्थ की विशदता, व्यापकता तथा महत्ता का संकेत पाठकों को भली-भाँति मिल सकता है।

इस शास्त्र का अवान्तर साहित्य इसी कौटिलीय अर्थ-शास्त्र, के ऊपर अवलम्बित है। इसके शास्त्र के कतिपय मान्य ग्रंथ ये हैं।

कामान्दकीय नीतिसार—यह कामन्दक कौटिल्य को अपना गुरु बतलाते हैं। इसमें 'अर्थशास्त्र' का कहीं-कहीं पर संक्षेप कर दिया गया है और स्थान-स्थान पर विस्तार है। सम्पूर्ण ग्रन्थ श्लोकबद्ध हैं जो बड़े रोचक तथा सरस हैं। इस ग्रन्थ का रचना-काल सप्तम-शतक है। भवभूति ने मालती माधव में कामन्दकी नामक एक भिक्षुणी की अवतारणा की है जो राजनैतिक कार्यों में अतीव दक्ष और चतुर है। जान पड़ता है कि भवभूति ने यह नाम इस नीतिशास्त्र के रचयिता के नाम पर रखा है। बाली की 'कवि' भाषामें भी यह ग्रन्थ अनुवाद रूप में उपस्थित है। इससे इस ग्रन्थ के व्यापक प्रचार का परिचय हमें मिल सकता है।

(२) शुक्रनीतिसार—नीतिशास्त्र का यह भी एक माननीय और प्रामाणिक ग्रन्थ हैं जिसमें भारत की प्राचीन राजनीति के अङ्गों का वर्णन बड़े ही सरल शब्दों में किया गया है।

(३) *नीति वाक्यामृत*—इसके रचयिता सोमदेव सूरि हैं। ये 'यशस्तिलक' के प्रसिद्ध रचयिता हैं और गुजरात के रहने वाले हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का आधार ग्रहण कर इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। गुप्तचरों का राजनीति में विशेष उपयोग न करने की इन्होंने सलाह दी है। ये कूटनीति के पक्षपाती नहीं है प्रत्युत नैतिक आचरण के पोषक हैं। वे राजा को लोकायत दर्शनों का उपदेश देते हैं जिससे लौकिक कार्यों में उसकी प्रवृत्ति सुचारु रूपसे हो। निवृत्ति बतलाने वाले दर्शनों के वे पक्षपाती नहीं हैं।

(४)*लघुअर्हन्नीति*—इसके रचयिता हेमचन्द्र हैं। यह श्लोकबद्ध ग्रन्थ युद्ध, दण्ड, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त का विशेष रूप से वर्णन करता है। हेमचन्द्र जैन थे अतः उनकी व्यवस्था में जैन धर्म की अहिंसा स्पष्ट रूपसे झलक रही है। प्राणियों की हिंसा होनेके कारण वे युद्धके नितान्त विरोधी हैं। वे विषदिग्ध बाणों के प्रयोग को युद्ध में कथमपि उचित नहीं बतलाते।

(५) *युक्तिकल्पतरु*—ये सुप्रसिद्ध राजा भोज की रचना है जिसमें राजनीति के साथ-साथ अनेक भौतिक विज्ञानों का विशद विवेचन किया गया है। जैसे—हाथियों के रंग, रूप, गुण, दोष का वर्णन। घोड़ों के भले बुरेकी पहिचान, रत्नोंकी विशद परीक्षा, जहाजों की बनावट तथा प्रयोग आदि। इस ग्रन्थ को ज्ञान और विज्ञान का कोष कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

(६) *राजनीति रत्नाकर*—इसके रचयिता मिथिलाके सुप्रसिद्ध स्मृतिकार चण्डेश्वर हैं। चण्डेश्वर का कुल विद्या तथा विद्वत्ता के विषय में मिथिला में अद्वितीय रहा है। इनके पिता ठक्कुर श्री वीरेश्वर कर्नाटवंशीय नरपति हरिसिंहदेव (१३०४—१३२४ ई०) के महासान्धिविग्रहिक थे।

चण्डेश्वर भी इसी राजा के अमात्य तथा प्राड्विवाक (न्यायाधीश) थे। इनका सर्वमान्य स्मृति-निबन्ध 'रत्नाकर' नाम से विख्यात है जिसके क्रिया, दान, व्यवहार, शुद्धि, पूजा, विवाद तथा गृहस्थ रत्नाकर नामक सात खण्ड हैं। छः सौ वर्षों से मिथिला की धार्मिक व्यवस्था इन्हीं के 'विवाद रत्नाकर' के अनुसार आज भो परिचालित होती है। 'राजनीति-रत्नाकर' में १६ तरंग हैं जिनमें राजा, अमात्य, पुरोहित आदि राज्य के महत्त्वपूर्ण अंगों का प्रामाणिक विवरण है। बिहाररिसर्च सोसाइटी (पटना) ने इसे प्रकाशित किया है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र का विषय अत्यन्त रोचक और उपादेय है। इस शास्त्रके अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि भारतीयों के ऊपर लौकिक विषयों से पराङ्मुख होने का जो दोषारोपण किया जाता है वह नितान्त मिथ्या है। हमारे पूर्वज जिस प्रकार अध्यात्मशास्त्र के चिन्तन में लीन रहते थे, उसी प्रकार वे लौकिक शास्त्रों के मनन तथा समीक्षण में भी कुशल थे। इस संक्षिप्त परिचय से यह पता चलता है कि हमारे ऋषियों ने दर्शन की परमोन्नति के साथ ही साथ भौतिक शास्त्रों को भी चरम विकास की चोटी पर पहुँचा दिया था।

६४ कलाएँ

शुक्रनीति के कथानुसार कलाएँ अनन्त है। उसके नाम भी गिनाये नहीं जा सकते। परन्तु उनमें मुख्य ६४ है और उन्हीं का यहां संक्षेपतः दिग्दर्शनमात्र कराया जायगा। वात्स्यायनप्रणीत 'कामसूत्र' के टीकाकर जयमङ्गल ने दो प्रकारकी कलाओंका उल्लेख किया है—पहली 'कामशास्त्राङ्गभूता' और दूसरी 'तन्त्रावापौपयिकी'। इन दोनों के प्रत्येक में ६४ कलाएँ हैं। इनमें कई कलाएँ समान ही हैं और बाकी पृथक्। पहले

प्रकारमें २४ कर्माश्रया, २० द्यूताश्रया, १६ शयनोपचारिका और ४ उत्तर कलाएँ, इस तरह ६४ मूल कलाएँ हैं। इनकी भी अवान्तर और कलाएँ है जो सब मिलकर ५१८ होती हैं। दूसरे प्रकार की भी सर्वसाधारण की उपयोगिनी ६४ कलाएँ हैं। श्रीमद्भागवत के टीकाकार श्रीधर स्वामी ने भी भागवत के दशम स्कन्ध के ४५ वें अध्याय के ६४ वें श्लोक की टीका में प्रायः दूसरे प्रकार की कलाओं का नाम-निर्देश किया है। किन्तु शुक्राचार्य ने अपने 'नीतिसार' में जिन कलाओं का विवरण दिया है उनमें कुछ तो उपर्युक्त कलाओं से मिलती हैं पर बाकी सभी भिन्न हैं। यहाँ पर जयमङ्गलाटीकोक्त साधारण कलाओं का केवल नाम ही पाठकों की जानकारी के लिए देकर उसके बाद 'शुक्रनीतिसार' क्रमानुसार कलाओं का दिग्दर्शन कराया जायगा।

जयमङ्गला के मतानुसार ६४ कलाएँ ये हैं:—१ गीत, २ वाद्य, ३ नृत्य ४ आलेख्य, ५ विशेषकच्छेद्य (मस्तक पर तिलक लगाने के लिए कागज़, पत्ती आदि काटकर आकार या साँचे बनाना), ६ तण्डुलकुसुम वलिविकार (देवपूजनादि के अवसर पर तरह तरह के रंगे हुए चावल, जौ आदि वस्तुओं को तथा रङ्गबिरङ्गी फूलों को विविध प्रकार से सजाना), ७ पुष्पास्तरण, ८ दशनवसनाङ्गराग (दाँत, वस्त्र, शरीर के अवयवों को रँगना) ९ मणिभूमिका कर्म (घर के फर्श के कुछ भागों को मोती, मणि आदि रत्नों से जड़ना), १० शयनरचन, (पलंग लगाना), ११ उदकवाद्य (जलतरंग) १२ उदकाघात (दूसरों पर हाथों या पिचकारी से जल की चोट मारना), १३ चित्राश्च योगाः (जड़ीबूटियों के योग से विविध चीजें ऐसे तैयार करना या ऐसे औषध तैयार करना अथवा ऐसे मंत्रों का प्रयोग करना जिनसे शत्रु निर्बल हो या उसकी हानि हो), १४ माल्यग्रथनविकल्प, (माला गूथना) १५ शेखरकापीड़ योजन (स्त्रियों

की चोटी पर पहनने के विविध अलङ्कारों के रूप में पुष्पों को गूँथना), १६ नेपथ्यप्रयोग (शरीर को वस्त्र, आभूषण, पुष्प आदि से सुसज्जित करना), १७ कर्णपत्रभङ्ग (शंख, हाथीदाँत आदि के अनेक तरह के कान के आभूषण बनाना), १८ गन्धयुक्ति (सुगन्धित धूप बनाना) १९ भूषणयोजन, २० ऐन्द्रजाल (जादू के खेल), २१ कौचुमार योग (बल वीर्य बढ़ानेवाली ओषधियाँ बनाना), २२ हस्तलाघव (हाथोंकी काम करनेमें फुर्ती और सफाई); २३ विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकार-क्रिया (तरह-तरह के शाक, कढ़ी, रस, मिठाई आदि बनाने की क्रिया), २४ पानकरसरागासव-योजन (विविध प्रकार के शर्बत, आसव आदि बनाना) २५ सूचीवानकर्म (सूई का काम, जैसे सीना, रफू, करना, कसीदा काढ़ना, मोजे-गंजी का बुनना), २६ सूत्रक्रीड़ा (तागे या डोरियों से खेलना, जैसे कठपुतली का खेल), २७ वीणाडमरुक वाद्य २८ प्रहेलिका (पहेलियाँ जानना), २९ प्रतिमाला (श्लोक आदि कविता पढ़ने की मनोरञ्जक रीति, अन्त्याक्षरी),३० दुर्वाचक योग, (ऐसे श्लोक आदि पढ़ना जिनका अर्थ और उच्चारण दोनों कठिन हों), ३१ पुस्तक वाचन, ३२ नाटकाख्यायिका दर्शन ३३ काव्यसमस्या-पूरण, ३४ पट्टिकावेत्रवानविकल्प (पीढ़ा, आसन, कुर्सी, पलंग, मोढ़े आदि चीजें बेंत वगैरे वस्तुओं से बनाना), ३५ तक्षकर्म (लकड़ी, धातु आदि वस्तुओं को अभीष्ट विभिन्न आकारों में काटना), ३६ तक्षण (बढ़ई का काम), ३७ वास्तुविद्या, ३८ रूप्यरत्न-परीक्षा (सिक्के, रत्न आदि को परीक्षा करना), ३९ धातुवाद (पीतल आदि धातुओंको मिलाना, शुद्ध करना आदि), ४० मणिरागाकर-ज्ञान (मणि आदि का रँगना, खान आदि के विषय का ज्ञान), ४१ वृक्षायुर्वेदयोग, ४२ मेष-कुक्कुटलावकयुद्ध-विधि (मेंढ़े, मुर्गे, तीतर आदि को लड़ाना), ४३ शुक-सारिकाप्रलापन, (तोते-मैना आदि को बोली सिखाना) ४४ उत्सा-

दनसंवाहन-केशमर्दन-कौशल (हाथ-पैरों से शरीर दाबना, केशों का मलना, उनका मैल दूर करना आदि), ४५ अक्षरमुष्टिका-कथन (अक्षरों को ऐसी युक्ति से कहना कि उस संकेत का जाननेवाला ही उनका अर्थ समझे, दूसरा नहीं), ४६ म्लेच्छितविकल्प (ऐसे सङ्केत से लिखना जिसे उस सङ्केत को जाननेवाला ही समझे), ४७ देशभाषा-विज्ञान, ४८ पुष्पशकटिका, ४९ निमित्त-ज्ञान (शकुन जानना), ५० यन्त्रमातृका (विविध प्रकार के मशीन, कल, पुर्जे आदि बनाना), ५१ धारणमातृका (सुनी हुई बातों का स्मरण रखना), ५२ संपाठ्य, ५३ मानसी काव्य-क्रिया (किसी श्लोक में छोड़े हुए पद को मन से पूरा करना), ४५ अभिधान कोष, ५५ छन्दोज्ञान, ५६ क्रियाकल्प (काव्यालङ्कारों का ज्ञान), ५७ छलितक योग, (रूप और बोली छिपाना), ५८ वस्त्रगोपन (शरीर के अङ्गों को छोटे या बड़े वस्त्रों से यथा-योग्य ढँकना), ५९ द्यूतविशेष, ६७ आकर्षक्रीड़ा (पासों से खेलना), ६१ बालक्रीडनक, ६२ वैनयिकी-विद्या (अपने और पराये से विनयपूर्वक शिष्टाचार करना), ६३ वैजयिकीविद्या (विजय प्राप्त करने की विद्या अर्थात् शस्त्र-विद्या) और ६४ व्यायाम-विद्या।

शुक्राचार्य का कहना है कि कलाओं के भिन्न-भिन्न नाम नहीं है अपितु, केवल उनके लक्षण ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि क्रिया के पार्थक्य से ही कलाओं में भेद होता है। जो व्यक्ति जिस कला का अवलम्बन करता है उसकी जाति उसी कला के नाम से कही जाती है। पहली कला है नृत्य (नाचना)। हाव, भाव आदि के साथ गति नृत्य कहा जाता है। नृत्य में करण, अङ्गहार, विभाव, भाव, अनुभाव और रसों की अभिव्यक्ति की जाती है। नृत्य के दो प्रकार हैं—एक नाट्य, दूसरा अ-नाट्य। स्वर्ग, नरक या पृथ्वी के निवासियों की कृति का अनुकरण 'नाट्य' कहा जाता है। अनुकरण विरहित नृत्य 'अनाट्य' है। यह कला अति प्राचीन

काल से यहां बड़ी उन्नत दशा में थीं। श्री शङ्कर का ताण्डव नृत्य प्रसिद्ध है। आज तो इस कला का पेशा करनेवाली एक जाति ही 'कत्थक' नाम से प्रसिद्ध है। वर्षा ऋतु में घन-गर्जना से आनन्दित मोर का नृत्य बहुतों ने देखा होगा। नृत्य एक स्वाभाविक वस्तु हैं जो हृदय में प्रसन्नता का उद्रेक होते ही बाहर व्यक्त हो उठता है। कुछ कलाविद् पुरुषों ने इसी स्वाभाविक नृत्य को अन्यान्य अभिनय विशेषों से रंग कर कला का रूप दे दिया है। जंगली से जंगली, और सभ्यसे सभ्य समाज में नृत्य का अस्तित्व किसी न किसी रूप में देखा ही जाता है। आधुनिक पाश्चात्यों में नृत्य-कला एक प्रधान समाजिक वस्तु हो गयी है। प्राचीन काल में इस कला की शिक्षा राजकुमारों तक के लिए आवश्यक समझी जाती थी। अर्जुन द्वारा अज्ञातवास-काल में राजा विराट् की कन्या उत्तरा को बृहन्नला रूप में इस कला की शिक्षा देने की बात 'महाभारत' मेंप्रसिद्ध है। दक्षिण भारत में यह कला अब भी थोड़ी बहुत मौजूद है। 'कथाकलि' में उसकी झलक मिलती है। श्री उदय शंकर आदि कुछ कला-प्रेमी इस प्राचीन कला को फिर जागृत करने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। २—अनेक प्रकार के वाद्यों का निर्माण करने ओर उनके बजाने का ज्ञान 'कला' है। वाद्यों के मुख्यतया चार भेद हैं—१ तत, २ सुषिर, ३ अवनद्ध और ४ घन। तार अथवा ताँत का जिसमें उपयोग होता है वे वाद्य 'तत' कहे जाते हैं, जैसे—वीणा, तम्बूरा, सारङ्गी, बेला, सरोद आदि। जिसका भीतरी भाग सच्छिद्र (पोला) हो और जिसमें वायु का उपयोग होता हो उसको 'सुषिर' कहते हैं जैसे—बाँसुरी, अलगोजा, शहनाई, बैण्ड हार्मोनियम, शङ्ख आदि। चमड़े से मढ़ा हुआ वाद्य 'अवनद्ध' कहा जाता है जैसे—ढोल, नगाड़ा, तबला, मृदङ्ग, डफ, खँजड़ी, आदि। परस्पर आघात से बजाने योग्य वाद्य 'घन' कहलाता है, जैसे—झाँझ, मँजीरा, करताल, आदि।

यह कला गाने से सम्बन्ध रखती है। बिना वाद्य के गान में मधुरता नहीं आती। प्राचीन काल में भारत के वाद्यों में वीणा मुख्य थी। इसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। सरस्वती और नारद का वीणा-वादन, श्रीकृष्ण की वंशी, महादेव का डमरू तो प्रसिद्ध ही है। वाद्य आदि विषय के संस्कृत ग्रन्थ का वर्णन हमने संगीतशास्त्र के विवरण के अवसर किया है। उनमें अनेक वाद्यों के परिमाण, उनके बनाने और मरम्मत करने की विधियाँ मिलती हैं। राज्याभिषेक, यात्रा, उत्सव, विवाह, उपनयन आदि माङ्गलिक कार्यों के अवसरों पर भिन्न-भिन्न वाद्यों का उपयोग होता था। युद्ध में सैनिकों के उत्साह, तथा शौर्य को बढ़ाने के लिए अनेक तरह के वाद्य बजाये जाते थे।

पञ्चम परिच्छेद्

इतिहास

वैदिक साहित्य के सामान्य परिचय के अनन्तर लौकिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य की ओर दृष्टि डालना उचित प्रतीत होता है। लौकिक संस्कृत में लिखा गया साहित्य विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। वैदिक भाषा में जो साहित्य निबद्ध हुआ है उस साहित्य से इसकी तुलना करने पर अनेक नवीन बातें आलोचकों के सामने आती हैं। यह साहित्य वैदिक साहित्य से आकृति, भाषा, विषय तथा अन्तस्तत्त्व की दृष्टि में नितान्त पार्थक्य रखता है।

१—वैदिक और लौकिक साहित्य का अन्तर

(क) *विषय*—वैदिक साहित्य मुख्यतया धर्मप्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्य कर यज्ञ-याग का विधान तथा उनकी कमनीय स्तुतियाँ इस साहित्य की विशेषताएँ हैं। परन्तु लौकिक संस्कृतसाहित्य, जिसका प्रसार प्रत्येक दिशा में दीख पड़ता है, मुख्यतया लोकवृत्त-प्रधान है। पुरुषार्थ के चारो अङ्गों में अर्थ-काम की ओर इसकी प्रवृत्ति विशेष दीख पड़ती हैं। उपनिषदों के प्रभाव से इस साहित्य के भीतर नैतिक भावना का महान् साम्राज्य है। धर्म का वर्णन भी है परन्तु यह धर्म वैदिक धर्म पर अवलम्बित होने पर भी कई बातों में कुछ नूतन भी है। ऋग्वेद-

काल में जिन देवताओं की प्रमुखता थी अब वे गौणरूप में ही वर्णित पाये जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना पर ही अधिक महत्त्व इस युग में दिया गया। नये देवताओं की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार प्रतिपाद्य विषय का अन्तर इस साहित्य में स्पष्ट दीख पड़ती है।

(ख) *आकृति*—लौकिक साहित्य जिस रूप में हमारे सामने आता है वह वैदिक साहित्य के रूप से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है। वैदिक साहित्य में गद्य की गरिमा स्वीकृत की गयी है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता से ही वैदिक गद्य आरम्भ होता है। ब्राह्मणों में गद्य ही का साम्राज्य है। प्राचीन उपनिषदों में भी उदात्त गद्य का प्रयोग मिलता है। परन्तु न जाने क्यों ? लौकिक साहित्य के उदय होते ही गद्य का ह्रास आरम्भ हो जाता है। वैदिक गद्य में जो प्रसार, जो प्रसाद तथा जो सौन्दर्य दीख पड़ता है वह लौकिक संस्कृत के गद्य में दिखलाई नहीं पड़ता। अब तो गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन शास्त्र ही रह जाता है। परन्तु यह गद्य दुरूह, प्रसादविहीन तथा दुर्बोध ही है। पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्यौतिष और वैद्यक जैसे वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है। साहित्यिक गद्य केवल कथानक तथा गद्यकाव्यों में ही दीख पड़ता है। परन्तु सीमित होने के कारण यह गद्य वैदिक गद्य की अपेक्षा कई बातों में हीन तथा न्यून प्रतीत होता है। पद्य की रचना जिन छन्दों में की गयी है, वे छन्द भी वैदिक छन्दों से भिन्न ही हैं। पुराणों में तथा रामयण महाभारत के विशुद्ध 'श्लोक' का ही विशाल साम्राज्य विराजमान है। परन्तु पिछले साहित्य में नाना प्रकार के छोटे बड़े छन्दों का प्रयोग कवियों ने विषय के अनुसार किया है। वेद में जहाँ गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का प्रचलन है वहाँ उक्त संस्कृत में उपजाति, वंशस्थ, और

वसन्ततिलका विराजती है। लौकिक छन्द वैदिक छन्दों से ही निकले हुए हैं, परन्तु इनमें लघुगुरु के विन्यास को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(ग) भाषा—भाषा की दृष्टि से भी यह साहित्य पूर्वयुग में लिखे गये साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। इस युग की भाषा के नियामक तथा शोधक महर्षि पाणिनि हैं जिनकी अष्टाध्यायी में लौकिक संस्कृत का भव्य विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया गया है। इस युग के आदिम काल में पाणिनि के नियमों की पाबन्दी करना उतना आवश्यक नहीं था। इसीलिये रामायण महाभारत तथा पुराणों में बहुत से 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनि के नियमों से ठीक नहीं उतरते। पिछली शताब्दियों में तो पाणिनि तथा उनके अनुयायियों की प्रभुता इतनी जम जाती है कि अपाणिनीय प्रयोग के आते ही भाषा बेहतर खटकने लगती है। 'च्युत-संस्कारता' के नित्यदोष माने जाने का यही तात्पर्य है। आशय यह है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नपे तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, परन्तु इस युग में व्याकरण के नियमों से बँधकर वह विशेष रूप से संयत कर दी गयी है।

(घ) अन्तस्तत्त्व—वैदिक साहित्य में रूपक की प्रधानता है। प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त्त भावनाओं की मूर्त्त कल्पना प्रस्तुत की गयी है। परन्तु लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति की ओर अधिक अभिरुचि दीख पड़ती है। पुराणों के वर्णन में जो अतिशयोक्ति दीख पड़ती है वह पौराणिक शैली की विशेषता है। वैदिक तथा पौराणिक तत्त्वों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, शैली का ही भेद हैं। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध इन्द्र-वृत्र युद्ध अकाल दानव के ऊपर वर्षा के विजय का प्रतिनिधि है। पुराण में भी उसका वही अर्थ है परन्तु शैली-भेद होने से दोनों में पार्थक्य दीख पड़ता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस युग में वैदिक युग से विकसित

होकर अत्यन्त आदरणीय माना जाने लगा। ऐसी अनेक कहानियाँ मिलेंगी जिसके नायक कभी तो पशुयोनि में जन्म लेता है और वही पुण्य के अधिक सञ्चय होने के कारण देवलोक में जा विराजने लगता है। साहित्य मानव समाज का प्रतिबिम्ब हुआ करता है। इस सत्य का परिचय लौकिक संस्कृत के साहित्य के अध्ययन से भली भांति मिलता है। मानव जीवन से सम्बद्ध तथा उसे सुखद बनाने का शायद ही कोई विषय होगा जो इस साहित्य से अछूता बच गया है। पूर्वकाल में जहाँ पर नैसर्गिकता का बोलबाला था, वहाँ अब अलंकृति की अभिरुचि विशेष बढ़ने लगी। अलंकारों की प्रधानता का यही कारण है।

(२) इतिहास की कल्पना

लोगों में एक धारणा-सी फैली हुई है कि भारतवर्ष के साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थों का अस्तित्व नहीं है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि भारतीय लोग एतिहासिक भावना से परिचित ही न थे। परन्तु ये धारणायें नितान्त निराधार हैं। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास वेद के समकक्ष माना जाता है। ऋक् संहिता में ही इतिहास से युक्त मन्त्र हैं[१]। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार के साथ ब्रह्मविद्या सीखने के समय अपनी अधती विद्याओं में नारद मुनि ने 'इतिहास पुराण' को पञ्चम वेद बतलाया है[२]। यास्क ने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रंथ तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं को

---

१ त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिवभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ् मिश्रं गाथामिश्रं भवति—निरुक्त ४।६।

२ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि-यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्—छन्दोग्य ७।१।

'इतिहास-माचक्षते' ऐसा कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थ के निरूपण करनेवाले विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक अलग सम्प्रदाय था इसका स्पष्ट परिचय निरुक्त से चलता है—'इति ऐतिहासिकाः' इतना ही नहीं, वेद के यथार्थ अर्थ समझने के लिए इतिहास पुराण का अध्ययन आवश्यक बतलाया गया है। व्यास का स्पष्ट कथन है कि वेद का उपबृंहण इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिये, क्योंकि इतिहास-पुराण से अनभिज्ञ लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है[1]। राजशेखर ने उपवेदों में इतिहास वेद को अन्यतम माना है। कौटिल्य ने ही सब से पहले 'इतिहास वेद' की गणना अर्थवेद के साथ की है तथा इसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अन्तर्भाव माना है[2]। इतने पुष्ट प्रमाणों के रहते हुए भारतीयों को इतिहास की कल्पना से ही शून्य मानना नितान्त अनुचित है। हमारे प्राचीन साहित्य में इतिहास-विषयक ग्रन्थ थे जो धीरे-धीरे उपलब्ध हो रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य इतिहासकल्पना और हमारी इतिहास-कल्पना में एक अन्तर है जिसे समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य इतिहास घटना-प्रधान है अर्थात् उसमें युद्ध आदि की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना ही मुख्य उद्देश्य रहता है। परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार घटना-वैचित्र्य-विशेष महत्त्व नहीं रखता। हमारे जीवन सुधार से उनका जहाँ तक लगाव है वहीं तक हम उन्हें उपादेय समझते आये हैं।

भारतीय साहित्य में इतिहास शब्द से प्रधानतया महाभारत का ही

१ इतिहास-पुराणभ्यां वेदं समुप बृंहयेत
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति—महाभारते।

२ अथर्ववेद इतिहासवेदौ च वेदाः। पश्चिमं (अहर्भागं) इतिहासश्रवणे। पुराणमिति वृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः—अर्थशास्त्र।

ग्रहण होता है और यह ग्रहण करना सर्वथा उचित है। क्योंकि महाभारत कौरवों और पाण्डवों के युगान्तरकारी युद्ध का ही सच्चा इतिहास नहीं है प्रत्युत उसे हमारी संस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म के प्रतिपादक इतिहास होने का भी गौरव प्राप्त है। यहाँ इतिहास के अन्तर्गत हम वाल्मीकीय रामायण को भी रखना उचित समझते हैं। प्रचलित परिपाटी के अनुसार इसे 'आदि महाकाव्य' मानना ही न्याय संगत होगा परन्तु धार्मिक दृष्टि से उसका गौरव महाभारत से घटकर नहीं है। रामायण के द्वारा चित्रित भारतीय सभ्यता महाभारत से भी प्राचीन है। रामायण मर्यादा-पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र के जीवन चरित को चित्रित करनेवाला अनुपम ग्रन्थ है। रामराज्य की कल्पना जो भारतीय राजनीति में आदर्श मानी जाती है महर्षि वाल्मीकि की ही देन है। यह जानना आवश्यक है कि रामायण और महाभारत की घटनायें ऐतिहासिक हैं। ये दोनों महत्त्वपूर्ण युद्ध इसी भारतवर्षकी सीमा के भीतर लड़े गये थे। उन्हें अन्तर्जगत् के धर्म और अधर्म के द्वन्द युद्ध का प्रतीकमात्र मान लेना नितान्त अनुचित है। वैदिक साहित्य में जिस धर्मका सिद्धान्त रूप में दर्शन करते हैं उसी का व्यावहारिक रूप हमें इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। सच्ची बात तो यह है कि रामायण और महाभारत जीवित भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ हैं जिनके प्रकाश से हम अपने वैदिक धर्म के अनेक अन्धकार से आवृत तथ्यों के साक्षात् करने में समर्थ होते हैं। ये दोनों इतिहास ग्रन्थ हैं। परन्तु उस अर्थ में ये इतिहास ग्रन्थ नहीं हैं जिस अर्थ में समझा जाता है। इतिहास शब्द यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इतिहास का शब्दार्थ ही है—इति + ह + आस—जो इस तरह से था। इस प्रकार से हमारे प्राचीन धर्म तथा हमारी सभ्यता में जो कुछ था, उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन हमें इन दोनों ग्रन्थों में

उपलब्ध होता है। इतिहास के द्वारा वेदके अर्थका उपबृंहण होता है, इसका भी यही रहस्य है। वेद का अर्थ तो स्वयं सूक्ष्म ठहरा, जिसे सूक्ष्म मतिवाले लोगही भली भाँति समझ सकते हैं। परन्तु इन इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों में हम उसी सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन जन साधारण के लिए बोधगम्य, सरस तथा सरलभाषामें पाते हैं। इतिहास और पुराणों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैंवे सिद्धान्त वेद के ही है; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। परन्तु हमारे समझने योग्य भाषा में लिखे जानेके कारण ये हमारे हृदय को अधिक स्पर्श करते हैं। इस तरह वेदके सिद्धान्तों में बहुल प्रचारक होनेके कारण ही धार्मिक दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व है। व्यास ने इतिहास की महत्ता बतलाते हुए इसी बात की ओर संकेत किया है:—

इतिहासपुराणाभ्यां, वेदं समुपबृंहयेत ।
बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

इतिहास के जिस व्यापक अर्थ का हमने अभी निर्देश किया है उसका समर्थन राजशेखर की काव्यमीमांसा से भी होता है। राजशेखर का कहना है कि इतिहास दो प्रकार का है (१) परिक्रिया (२) पुराकल्प। 'परिक्रिया' से अभिप्राय उस इतिहास से है जिसका नायक एक ही व्यक्ति होता है जैसे रामायण। 'पुराकल्प' अनेक नायक वाले इतिहास ग्रन्थ का सूचक है जैसे महाभारत। राजशेखर के अनुसार भी ये दोनों ग्रन्थ रत्न 'इतिहास' के ही अन्तर्गत ठहरते हैं। राजशेखर का कथन है—

परिक्रिया पुराकल्पः, इतिहास–गतिर्द्विधा ।
स्यादेक-नायका पूर्वा, द्वितीया बहुनायका ॥ (अध्याय २)

(३) रामायण

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला ।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ॥

—त्रिविक्रमभट्ट

संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण 'आदिकाव्य' समझा जाता है तथा वाल्मीकि 'आदिकवि' माने जाते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याध के बाण से बिधे हुए क्रौञ्च के लिये विलाप करनेवाली क्रौञ्ची का करुण शब्द ऋषि ने सुना, तो उनके मुँह से अकस्मात् यह श्लोक निकल पड़ा जिसका आशय यह है कि हे निषाद ! तुमने काम से मोहित इस क्रौञ्च पक्षी को मारा है। अतः तुम सदा के लिये प्रतिष्ठा प्राप्त न करो[1]। महर्षि की करुणामयी वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने रामचरित लिखने के लिये उनसे कहा। रामायण की रचना इसी प्रेरणा का फल है। वाल्मीकि अनुष्टुप् छन्द के आविष्कारक माने जाते हैं। उपनिषदों में भी अनुष्टुप् छन्द है, परन्तु लौकिक संस्कृत में व्यवहृत होने वाले सम अक्षर से युक्त अनुष्टप् का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि ने किया जिसमें लघुगुरु का निवेश नियमबद्ध था।

बहुत से विद्वान् लोग उत्तरकाण्ड को तथा बालकाण्ड के कतिपय अंश को एकदम प्रक्षिप्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि बालकाण्ड के प्रथम और तृतीय सर्ग में जो विषय-सूची दी गई है उसमें उत्तरकाण्ड का निर्देश नहीं है। जर्मन विद्वान् ' याकोबी' मूल रामायण में अयोध्या काण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक पाँच ही काण्ड मानते हैं। लङ्काकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ के अन्त होने की सूचना सी प्रतीत होती है, इसलिये उत्तर काण्ड को पीछे से जोड़ा गया माना जाता है। इस काण्ड में कुछ ऐसे आख्यानों की चर्चा है जिनका संकेत पहले के काण्डों में नहीं मिलता है, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वह बहुत पीछे जोड़ा गया है। बौद्धों में एक प्रसिद्ध जातक है—'दशरथ जातक' जिसमें रामायण का

---

१ मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

वर्णन संक्षेप रूप में उपलब्ध होता है। इसमें पाली भाषा में रूपान्तरित उत्तरकाण्ड से एक श्लोक हूबहू मिलता है। इस जातक का समय विक्रमपूर्व तृतीय शतक माना जाता है। अतः मानना पड़ेगा कि उत्तर काण्ड की रचना उक्त तृतीय शतक से पहले की है।

इस आदिकाव्य को 'चतुर्विंशति साहस्री' कहते हैं अर्थात् इसमें २४ हजार श्लोक हैं—ठीक उतने ही हजार, जितने 'गायत्री' के अक्षर हैं। प्रत्येक हजार श्लोक का पहला अक्षर गायत्री मन्त्र के ही अक्षर से क्रमशः आरम्भ होता है, यह विद्वानों का कहना है। अनुष्टुप् श्लोकों के अतिरिक्त अन्य छन्दों में भी पद्य मिलते हैं। विद्वान् लोग इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर क्षेपक भी मानते हैं, परन्तु काव्य में एकता का कहीं भी अभाव नहीं दीख पड़ता। ग्रन्थ में पाठभेद भी कम नहीं हैं। उत्तरी भारत, बङ्गाल तथा काश्मीर में रामायण के जो संस्करण उपलब्ध होते हैं उनमें पाठभेद बहुत ही अधिक हैं। उनमें एक दूसरे से श्लोकों का ही अन्तर नही है, प्रत्युत कहीं-कहीं तो सर्ग के सर्ग भिन्न दिखाई पड़ते हैं। रामायण के अनेक टीकाकार भी हुए जिनमें नागेशभट्ट की 'तिलक' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य टीकाएँ ये हैं—'श्रृंगार तिलक' (गोविन्दराजकृत), 'रामायण कूट' (रामानन्दतीर्थकृत) 'वाल्मीकितात्पर्यतरणि' (विश्वनाथ कृत) तथा 'विवेकतिलक' (वरदराजकृत)। इन सबों से प्राचीन टीका का नाम 'कतक' है, जिसका उल्लेख नागेश ने आदरपूर्वक अपनी टीका में किया है।

रामायण के अनेक संस्करण उपलब्ध होते हैं—(१) बम्बई से प्रकाशित देवनागरी संस्करण[1]। उत्तरी भारत में इसी संस्करण का विशेष प्रचलन है। नागोजी भट्ट की लिखी हुई 'तिलक' टीका इसी संस्करण

---

१ निर्णय सागर से प्रकाशित।

पर है। (२) बङ्गाल संस्करण (कलकत्ते से प्रकाशित) इस पर लोकनाथ की प्रसिद्ध टीका है। इस संस्करण का अनुवाद डाक्टर गोरेशियो ने अनेक उपयोगी टिप्पणियों के साथ किया है[1]। (३) काश्मीर संस्करण जिसका प्रचलन उत्तर पश्चिमीय भारत में विशेष रूप से था[2]। (४) दक्षिण भारत संस्करण[3] (मद्रास से प्रकाशित) इसमें और देवनागरी संस्करण में विशेष भेद नहीं है। आरम्भ के तीनों संस्करणों में पर्याप्त भिन्नता है। वाल्मीकि का मूल रामायण कौन-सा था ? इसका निर्णय करना नितान्त कठिन है। कुछ विद्वान् बङ्गाल संस्करण को अधिक पुराना तथा विशुद्ध मानते हैं, तो कुछ देवनागरी संस्करण को। इस विषय के लिए इन संस्करणोंका विशेष मन्थन तथा अनुशीलन अपेक्षित है।

संस्करण

वाल्मीकीय रामायण के निर्माण का समय बाहरी तथा भीतरी प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। राम वैदिक, बौद्ध तथा जैन धर्मों में समभाव से मर्यादा-पुरुष माने जाते हैं। बौद्ध साहित्य में तथा जैन साहित्य में रामकथा का निर्देश स्पष्टतया किया गया है। बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०) की 'कल्पना मण्डतिका' में रामायण के सर्वसाधारण में वाचन का उल्लेख है। जैन कवि विमलसूरि ने रामकथा को 'पउम चरिय' नामक प्राकृत

समय

१ डा० गोरेशिओ (G. Gorresio) ने इस संस्करण को प्रकाशित किया है (१८४३-६७) तथा इटेलियन भाषा में इसका पूरा अनुवाद भी किया है।

२ डी० ए० वी० कालेज लाहौर के अनुसन्धान कार्यालय से प्रकाशित, १९२३।

३ मध्व विलास बुकडिपो. कुम्भकोणम् से प्रकाशित, १९२९-३०।

भाषा के महाकाव्य में निबद्ध किया है। विमलसूरि ने इस काव्य की रचना महावीर की मृत्यु से ५३० वर्ष के अनन्तर (लगभग ६२ ई०) में की है। यह काव्य वाल्मीकीय रामायण को आदर्श मानकर जैनधर्मावलम्बियों को इस मर्यादापुरुष के चरित से परिचय प्राप्त कराने के लिये ही लिखा गया है। महाकवि अश्वघोष (७८ ई०) ने अपने बुद्धचरित में सुन्दरकाण्ड की अनेक रमणीय उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को निबद्ध किया है। बौद्धों के अनेक जातकों में रामकथा का स्पष्ट निर्देश है। 'दशरथ जातक' तो रामायण का पूरा आख्यान ही है जिसमें रामपण्डित बुद्ध के ही पूर्वकालीन प्रतिनिधि माने गये हैं। वाल्मीकि रामायण का एक श्लोक भी इस जातक में पालीरूप में उपलब्ध होता है। जातकों का समय-निरूपण झमेले का विषय है। यद्यपि उनकी कथाएँ इससे भी पूर्व इस देश में प्रचलित थी। परन्तु तृतीय शतक ई० पूर्व में उनका समय साधारणतया माना जाता है। इन बाहरी प्रमाणों के आधार पर रामायण तृतीय शतक इस्वी पूर्व से भी पहले की रचना सिद्ध होता है।

वर्तमान महाभारत रामकथा ही से परिचित नहीं है, अपितु वह वाल्मीकि के रामायण से भी भली भाँति अवगत है। रामायण में महाभारत के पात्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु वनपर्व का रामोपाख्यान (अध्याय २७३–९३) वाल्मीकि में दी गई कथा का संक्षिप्त संस्करण है। रामचन्द्र से सम्बद्ध स्थान महाभारत में तीर्थरूप से माने गये हैं। श्रृंगवेरपुर[1]

१ ततो गच्छेत राजेन्द्र श्रृंगवेरपुरं महत्।
यत्र तीर्णो महाराज ! रामो दाशरथिः पुरा ॥
तस्मिन् तीर्थे महाबाहो सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

—वनपर्व ८५।६

(सिंगरौर जि० प्रयाग) तथा गोप्रतार[1] (फैजाबाद में गुप्तार घाट) वनपर्व में तीर्थ माने गये हैं। अतः महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से पहले ही रामायण अवान्तर अंशों के साथ प्राचीन तथा पुराना ग्रन्थ माना जाता था। दोनों ग्रन्थों की तुलना आगे की जायेगी। महाभारत को वर्तमानरूप ईस्वी के आरम्भ में प्राप्त हुआ है। अतः रामायण की रचना इससे भी पहले ही अवश्य की गई होगी।

रामायण का अनुशीलन उसकी रचना के समय को भलीभाँति प्रकट कर रहा है। रामायण के समय की राजनीतिक अवस्था का परिचय इस महाकाव्य के अध्ययन से भलीभाँति मिलता है:—

अन्तःप्रमाण

(१) पाटलीपुत्र नगर की स्थापना ५०० ई० पूर्व में मगध नरेश अजातशत्रु ने की। पहले यह एक साधारण ग्राम था जिसका नाम बौद्धग्रन्थों में 'पाटलिग्राम' दिया गया है। अजातशत्रु ने विज्ज लोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के निमित्त गंगा-सोन के संगम पर इस ग्राम में किला बनवाया[2]। इनके पिता बिम्बसार की राजधानी राजगृह या गिरिव्रज थी। रामायण में राम शोण और गंगा के संगम से होकर जाते हैं पर पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं मिलता[3]। इससे स्पष्ट है कि रामायण ५०० ई० पूर्व से पहले लिखा गया।

---

१ गोप्रतारं ततो गच्छेत् सरय्वास्तीर्थमुत्तमम् ॥ ७० ॥
यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः ।
देहं त्यक्त्वा महाराज ! तस्य तीर्थस्य तेजसा ॥ ७१ ॥
—वनपर्व अ० ८४

2 Rai Choudhary : Political History of Ancient India, p. 141.

३ बालकाण्ड सर्ग ३१ ।

(२) कोसल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलाई गई है,[1] परन्तु जैन और बौद्ध ग्रन्थों में अयोध्या को छोड़कर वह 'साकेत' नाम से ही प्रख्यात है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में स्थिर की[2]। रामायण की रचना उस समय की गई होगी, जब अयोध्या को छोड़कर श्रावस्ती में राजधानी नहीं लाई गई थी। बुद्ध के समय में कोशल के राजा प्रसेनजित् 'श्रावस्ती' में ही राज्य करते थे। अतः रामायण की रचना इससे पूर्वकाल में हुई।

(३) रामायण में विशाला[3] और मिथिला[4] दो स्वतन्त्र राजतंत्र राज्य थे, परन्तु बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य वैशाली राज्य के रूप में सम्मिलित कर दिये गये थे। शासन पद्धति गणतन्त्र राज्य के समान थी। अतः रामायण को बुद्ध से प्राचीन होना चाहिए।

(४) भारत का दक्षिण अंश एक विराट् अरण्यानी के रूप में

---

१ अयोध्या नाम नगरी तत्रासीत् लोकविश्रुता। —बाल ५।६

२ श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य च॥

—उत्तर १०८।४

३ गंगा पार करने पर राम 'विशाला' में पहुँचे। इसके राजा का नाम 'सुमति' था जिसने इन लोगों की बड़ी अभ्यर्थना की—गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुःपुरीम्। —बाल ४५।८ इक्ष्वाकु के 'अलम्बुसा' नामक रानी में उत्पन्न 'विशाल' नामक पुत्र ने इस नगरी को बसाया था। इसी लिए यह 'विशाला' के नाम से विख्यात थी।

द्रष्टव्य बालकाण्ड, सर्ग ४७, श्लोक ११-२०

४ मिथिला में जनक वंशी नरेशों का आधिपत्य था। उस समय मिथिला के राजा का नाम सीरध्वज जनक था।

द्रष्टव्य बाल० सर्ग ५०

अंकित किया गया है जिसमें बन्दर भालू आदि असभ्य या अर्धसभ्य जातियाँ निवास करती थीं। आर्य सभ्यता के इन देशों में प्रसार होने से पहले की यही अवस्था थी। अतः दक्षिण भारत को आर्य बनने से पहले ही रामायण का निर्माण हुआ।

(५) उत्तरी भारत आर्य अवश्य था, परन्तु बालकाण्ड से सिद्ध है कि कोशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे-छोटे राज्यों में यह बँटा था। यह राजनीतिक अवस्था बुद्ध-पूर्व भारत में ही दृष्टिगोचर होती है।

(६) सारे रामायण में केवल दो पद्यों में ही यवनों का नाम आता है। इसी सामान्य आधार पर जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि रामायण पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा है, पर डा० याकोबी ने इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। अतः यूनानी आक्रमण के अनन्तर ये पद्य रामायण में मिला दिये गये होंगे।

इन प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले ही हुई। अर्थात् रामायण को ५०० ई० पू० से पहले की रचना मानना न्यायसंगत है।

समीक्षण

महर्षि वाल्मीकि *आदिकवि* हैं और उनका रामायण *आदिकाव्य* है। कवि के सच्चे रूप की कल्पना हमने वाल्मीकि से सीखी और महाकाव्य के महत्त्वको हमने रामायण से ग्रहण किया। यदि वाल्मीकि न होते, तो कवि के वास्तव स्वरूप और अभिराम आदर्श को हम कहाँ से सीखते? और यदि उनकी प्रसन्न गम्भीर रामायण हमें नहीं मिलती तो हम महाकाव्य के माहात्म्य तथा गौरव को कैसे पहचानते? कवि और काव्य के

विशुद्ध रूप की कसौटी है—आदिकवि का परम पावन, माननीय तथा मननीय आदिकाव्य रामायण। कवि का पद ऋषि के समान है। ऋषि का भी अर्थ है—द्रष्टा। वस्तुओं के विचित्र भाव, धर्म तथा तत्त्व को भली-भाँति अवगत करनेवाला व्यक्ति ही 'ऋषि' के महनीय पद का वाच्य है। कवि का भी अर्थ है क्रान्तदर्शी—'कवयः क्रान्तदर्शिनः'—अर्थात् नेत्रों के व्यापार से दूर रहनेवाले अतीत एवं भविष्य के पदार्थों को यथार्थ रूप से देखनेवाला पुण्यात्मा पुरुष। परन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। वस्तु-तत्त्व के दर्शन होने से ऋषित्व की प्राप्ति हो जाती है; परन्तु जब तक वह अपने अनुभूत वस्तु-तत्त्व को शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं करता, तब तक वह 'कवि' नहीं कहला सकता। 'कवि' की कल्पनामें 'दर्शन' के साथ 'वर्णना' का भी मनोरम सामञ्जस्य है और इस कल्पना के जनक स्वयं महर्षि वाल्मीकि ही हैं। उन्हें वस्तुओं का निर्मल दर्शन नित्यरूप से था, परन्तु जब तक 'वर्णना' का उदय नहीं हुआ, तब तक उनकी 'कविता' का प्राकट्य नहीं हुआ। 'मा निषाद' पद्यके उच्चारण करते ही ब्रह्मा स्वयं ऋषिके सामने उपस्थित हुए और कहने लगे—महर्षे! तुम्हारी आर्ष चक्षु या प्रातिभ चक्षु का अब उन्मेष हो गया है। तुम आद्यकवि हो। भवभूति के स्मरणीय शब्दों में—

ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद् ब्रूहि रामचरितम्।
अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभाति। आद्यःकविरसि।

कवि के यथार्थ रूपको वाल्मीकि के दृष्टान्त के द्वारा प्रसिद्ध समालोचक-शिरोमणि भट्टतौत ने इस पद्य में कितनी सुन्दरता से समझाया है—

दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढ़ा लोके कविश्रुतिः।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥

संस्कृत काव्य-धारा की दिशा तो उसी अवसर पर निर्दिष्ट हो गयी, जब प्रेम-परायण सहचर के आकस्मिक वियोग से सन्तप्त क्रौञ्ची के करुण निनाद को सुनकर वाल्मीकि के हृदय का शोक श्लोक के रूप में छलक पड़ा था। काव्य का जीवन रस है, काव्य का आत्मा रस है—इसे साहित्य-संसार ने तभी सीख लिया, जब आदिकवि की आदि कविता के रसामृत का उसने पान किया; बारम्बार प्रीयमाण तथा नितान्त विस्मित शिष्योंने आश्चर्य भरे शब्दों में इस रहस्यभूत तत्त्व को पहचाना—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(रामायण १।२।४०)

महाकवि कालिदास ने भी इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है—

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

(रघुवंश १४।७०)

इन्हीं सूत्रों को पकड़कर आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दोंमें 'प्रतीयमान' अर्थ के सामान्यरुपेण काव्य में मुख्य होने पर भी रस को ही काव्य का आत्मा स्वीकार किया है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(ध्वन्यालोक १।५)

आदिकवि का यह समग्र काव्य ही कविता के सच्चे रूप को प्रकट कर रहा है। वाल्मीकीय-रामायण मनोरम उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं का एक विराट् भव्य प्रासाद है; परन्तु उसके बाह्य आवरणों में उसका विशुद्ध रसमय हृदय भली भाँति झलक रहा है, इतने स्पष्ट रूप में कि उसकी

सत्ता का परिचय हमें पद-पद पर प्राप्त होता है। रामायण का हृदय है—रस-पेशल-वर्णन और इस वर्णन में सर्वत्र विद्यमान है—समग्र-काव्यगत व्यापक औचित्य। महाकाव्य का प्रथम तथा भव्य निदर्शन है—यही वाल्मीकीय-रामायण। रामायण का ही विश्लेषण कर आलङ्कारिकों ने 'महाकाव्य' का लक्षण प्रस्तुत किया है। 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' लक्षण का प्रथम तथा सबसे सुन्दर लक्ष्य है—रामायण। दण्डी का यह प्रसिद्ध लक्षण 'रामायण' को ही आदर्श मानकर लिखा गया है—

अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति ॥

आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः 'करुण' को ही रामायण का मुख्य रस कहा है। रामायण का आरम्भ 'करुण' से होता है तथा राम के सामने सीता के पृथ्वी के भीतर अन्तर्धान होने के दृश्य से रामायण का अन्त भी 'करुण' से ही होता है—

रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूचितः 'शोकः श्लोकत्वमागत;' इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीताऽत्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।

(ध्वन्यालोक उद्योत, ४ पृ० २३७)

वाल्मीकि समग्र-कवि समाज के उपजीव्य हैं—विशेषतः कालिदास तथा भवभूति के। इन दोनों महाकवियों ने रामायण का गाढ़ अनुशीलन किया था और इनकी कविता में हमें जो रस मिलता है, उसमें रामायण की भक्ति कम सहायक नहीं रही है। कालिदास का शृंगार-रस सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु उनका 'करुण' रस कम प्रभावशाली नहीं है।

कालिदास ने उभयविधि 'करुण' को उपस्थित कर उसे साङ्गोपाङ्ग रूप से दिखलाया है। पत्नी के लिये पति की करुणा का रूप हम रघुवंश के 'अज-विलाप' में पाते हैं और पति के निमित्त पत्नी की करुण परिवेदना 'रतिविलाप' के रूप में हमें रुलाती है। ताप से लोहा भी पिघल उठता है, तब कोमल हृदय मानव-चित्त सन्ताप से मृदु बन जाय—क्या इस विषय में सन्देह के लिये स्थान है? 'अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु?' कालिदास के इन करुण वर्णनों में मानव-हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है, परन्तु भवभूति के उत्तरचरित में तो यह अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। यह भवभूति का ही काम था कि उन्होंने सीता के वियोग में राम को रोते देखकर पत्थर को रुलाया है और वज्र के हृदय को भी विदीर्ण होते दिखलाया है—

'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।'

इन करुण उक्तियों की चोट से क्षुब्ध होकर गोवर्धनाचार्य ने भवभूति की भारती को 'भूधर की कन्या' बतलाया है। तभी तो उसके करुण-क्रन्दन को सुनकर पत्थर का हृदय पिघल गया था। प्यारी पुत्री का रुदन सुनकर किस पिता का हृदय द्रवित होकर आँसुओं के रूप में नहीं बह निकलेगा?

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

भवभूति ने करुण को 'एको रसः'—मुख्य रस, अर्थात् समस्त रसों की प्रकृति माना है और अन्य रसों को उसकी विकृति माना है। 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्'—इस कथन के मूल को हमें वाल्मीकि के अन्दर खोजना चाहिये।

वाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वीतल को विदीर्ण कर उगनेवाले उस

विराट् वट-वृक्ष के समान है, जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाए हुए खड़ा है। महाकाव्य प्रधानतया वीर-रस-प्रधान हुआ करते हैं, जिनमें युद्ध का घोष, विजय-दुन्दुभिका गर्जन तथा सैनिकों का तर्जन मानवों के हृदय में उत्साह तथा स्फूर्ति को उत्पन्न किया करते हैं, परन्तु रामायण का माहात्म्य वीर-रस के प्रदर्शन में नहीं है। किसी देव-चरित्र के वर्णन में भी रामायण का गौरव नहीं है; क्योंकि महर्षि वाल्मीकि ने जब आदर्श गुणों से मण्डित किसी व्यक्ति का परिचय पूछा, तब नारदजी ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणों का भाजन बतलाया— 'तैर्युक्तः श्रूयतां नरः।' यह नर-चरित्र का ही कीर्तन है। भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन का विस्तृत चित्रण रामायण का मुख्य उद्देश्य प्रतीत हो रहा है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी—आदि जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदिकवि की शब्द-तूलिका ने खींचा है, वे सब गृहधर्म के पट पर ही चित्रित किये गये हैं। इतना ही क्यों, राम-रावण का वह भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह तो राम-जानकी—पति-पत्नी की परस्पर विशुद्ध-प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरणमात्र है। और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। रामायण को भारतीय सभ्यता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रधान साधन बना रखा है और भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा है—गृहस्थ-आश्रम। अतः यदि इस गार्हस्थ्य-धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये आदिकवि ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया तो इसमें आश्चर्य क्या है? रामायण तो भारतीय सभ्यता का प्रतीक ठहरा, दोनों में परस्पर उपकार्योपकारक-भाव बना हुआ है। एक को हम दूसरी की सहायता से समझ सकते हैं।

आदिकवि ने अपने काव्य-मन्दिर की पीठ पर प्रतिष्ठित किया है—मर्यादा-पुरुषोत्त महामानव महाराजा रामचन्द्र को। विभिन्न विकट परिस्थितियों के बीच में रहकर व्यक्ति अपने शीलके सौन्दर्य की किस प्रकार रक्षा कर सकता है, यह हमें वाल्मीकि ने ही सिखलाया है। यदि आदि कवि ने इस चरित्र का चित्रण न किया होता तो हमें मंजुल गुणों के सामञ्जस्य का परिचय कहाँ से मिलता? भारतवासी किसी मानव के आदर्श चरित्र को सुनने के लिये लालायित थे, वाल्मीकि ने उसी चरित्र को उनके सामने प्रस्तुत किया। यही कारण है कि इस काव्य की मोहकता कभी कम नहीं होती; इसके शब्दों में इतनी माधुरी है, चित्रों में इतनी चमक है कि मानव कान और मन इसके परिशीलन से एक साथ ही आप्यायित हो उठते हैं। रामायण को मैं जितनी बार पढ़ता हूँ उतनी ही बार उसमें नयी-नयी बातें सूझती हैं। इन सरल परिचित शब्दों में इतना रस-परिपाक हुआ है कि पढ़ने वाले का चित्त आनन्द से गद्गद हो उठता है। सच बात तो यह है कि रामायण के इन अनुष्टुपों को पढ़कर शताब्दियों से भारत का हृदय स्पन्दित हो रहा है और सदैव होता रहेगा।

राम के किन आदर्श गुणों के अङ्कन में यह लेखनी प्रवृत्त हो? उनकी कृतज्ञता का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? राम तो किसी तरह किये गये एक ही उपकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं; और अपकार चाहे कोई सैकड़ों ही करे, उनमें से एक का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता। अपकारों को भूलने वाला हो तो ऐसा हो—

कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

(रामायण २।१।११)

उनका क्रोध तथा प्रसाद दोनों ही अमोघ हैं। अपने पापों के कारण हनन योग्य व्यक्तियों को बिना मारे वे नहीं रहते और अवध्य के ऊपर क्रोध के कारण उनकी आँख भी लाल नहीं होती—

नास्य क्रोधः प्रसादो वा निरर्थोऽस्ति कदाचन।
हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति॥
(रामायण २।२।४६।)

राम का शील कितना मधुर है। वे सदा दान करते हैं; कभी दूसरे से प्रतिग्रह नहीं लेते। वे अप्रिय कभी नहीं बोलते। साधारण स्थिति की बात नहीं, प्राण-सङ्कट उपस्थित होने की विषय दशा में भी राम इन नियमों का उल्लङ्घन नहीं करते।

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात् किञ्चिदप्रियम्।
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः॥
(रामायण ५।३३।३६)

अपने कुटुम्बियोंके प्रति उनका व्यवहार कितना कोमल तथा सहानुभूति पूर्ण है। सीता के प्रति रामके प्रेम का वर्णन करते समय आदिकवि ने मानस-तत्त्वका बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है। राम सीता के वियोग में चार कारणों से सन्तप्त हो रहे हैं—सीता के प्रति उनके परिताप का कारण चतुर्मुखी है। धर्मशास्त्र आपत्ति में स्त्री की रक्षा करने का उपदेश देता है, परन्तु राम से यह न हो सका; अतः वह अबला स्त्री की रक्षा न कर सकने के कारण कारुण्य से सन्तप्त हैं। वन में सीता रामकी आश्रिता थीं, परन्तु राम ने अपने आश्रित की रक्षा नहीं की; अतः आनृशंस्य—आश्रित जनों के संरक्षण-स्वभाव से सन्तप्त हैं। सीता उनकी पत्नी सहधर्मिणी ठहरें। उनके नष्ट होने पर उनके (श्रीरामके) धर्म का पालन क्योंकर हो सकेगा, अतः शोक से। वे उनकी प्रिया, प्रियतमा ठहरीं,

परम सुख की साधिका ठहरीं। उस परम लावण्यमयी स्त्री के नाश ने उनके हृदय में अतीत के उस आनन्दमय जीवन की मधुर स्मृति जगा दी है— इस कारण प्रेम से। इन नाना भावों के कारण सीता के वियोग में राम सन्तप्त हो रहे हैं—

इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भिः परितप्यते।
कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च॥
स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च॥
(रामायण ५। १५। ४८-४९)

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम ने भ्रातृप्रेम के विषय में जो उद्गार निकाले हैं, उनकी समता भला किसी अन्य सुशिक्षित कहलानेवाले देश के साहित्य में भी कभी मिल सकती है? 'यदि मनुष्य चाहे तो एक देश के बाद दूसरे देश में उसे विवाहयोग्य स्त्रियाँ मिल सकती हैं, प्रत्येक देश में मित्र भी मिल सकते हैं; परन्तु मैं उस देश को नहीं देखता, जहां सहोदर भ्राता मिल सकें। धन्य हैं भगवान् रामचन्द्र। केवल इस उक्ति के अनूठेपन पर समस्त साहित्य को न्योछावर कर देने का मन होता है। यह सूक्ति हृदय पर कितना अधिक चोट कर रही है—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

रामचन्द्र की शरणागत-वत्सलता का चरम दृष्टान्त है—अपने मायावी शत्रु के भाई को उसी की नगरी में आश्रय प्रदान करना। उनके औदार्य की झलक रावणवध होने के बाद रावण के दाह-संस्कार के समय मिलती है। राम का कहना है कि रावण जिस प्रकार विभीषण का सगा सम्बन्धी

है, उसी प्रकार उनका भी है। रावण की मृत्यु के साथ-साथ उनका उसके प्रति वैर-भाव भी शान्त हो गया है। अब वैर लेने की क्या आवश्यकता रह गई ?

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥

सीता-चरित्र

भगवती जनक-नन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को शीतलता तथा शान्ति नहीं प्रदान करती ? जानकी का चरित्र भारतीय ललना के महान् आदर्श का प्रतीक है। रावण के बारंबार प्रार्थना करने पर भी सीता ने जो अवहेलना-सूचक वचन कहा है, वह भारतीय नारी के गौरव को सदा उद्घोषित करता रहेगा। इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से—नहीं-नहीं, बायें पैर से भी नहीं छू सकती—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम् ।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ॥
(रामायण ५ । २६ । १०)

रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता के चरित्र की विशुद्धि को सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिये अनेक कटु वचन कहे। उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन इतने मर्मस्पर्शी हैं कि आलोचकका हृदय आनन्दातिरेक से गद्गद हो जाता है। सीताजी के कतिपय कथनों पर दृष्टि डालिये। 'मनुष्य उसी वस्तु के लिये उत्तरदायी हो सकता है, जिसपर उसका अधिकार हो। मैं अपने हृदय की स्वामिनी हूँ। वह सदा आपके चिन्तन में निरत रहा है। अङ्गों पर मेरा अधिकार नहीं। वे

पराधीन ठहरे। रावण ने बलात्कार से उनका स्पर्श कर लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध है?—

मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरा॥

'मेरे चरित्र पर लाञ्छन लगाना कथमपि उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को आपने पकड़कर आगे किया है, परन्तु मेरे सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश हैं—उसका स्त्रीत्व और उसका सबल अंश है—उसका पत्नीत्व तथा पातिव्रत। नर-शार्दूल! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं; परन्तु क्रोध के आवेश में आपका यह कहना साधारण मनुष्यों के समान है। आपने मेरे स्त्रीत्त्व को तो दोषारोपण करने के निमित्त आगे किया है, परन्तु आपने इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया कि बालकपन में ही आपने मेरा पाणिग्रहण किया है, आपकी मैं शास्त्रानुमोदित धर्मपत्नी हूँ। मैं आपकी भक्ति करती हूँ तथा मेरा स्वभाव निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है आप जैसे नर-शार्दूल ने मेरे स्वभाव को, भक्ति को, तथा पाणिग्रहणको पीछे ढकेल दिया, केवल स्त्रीत्व को आगे रखा है—

त्वया तु नरशार्दूल! क्रोधमेवानुवर्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
मम भक्तिश्च शीलंच सर्वंते पृष्ठतः कृतम्॥

कितनी ओजिस्वता भरी है इन सीधे-सादे निष्कपट शब्दों में। अनादृता भारतीय ललना का यह हृदयोद्गार कितना हृदय-वेधक है। सुनते ही सहृदय मनुष्य की आँखों में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं।

राम और सीता का निर्मल चरित्र वाल्मीकि की कोमल काव्य-प्रतिमा

का मनोरम निदर्शन है। रामायण हमारा जातीय महाकाव्य है। यह भारतीय हृदय का उच्छ्वास है। वाल्मीकि हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। रामायण का जितना पठन किया जायेगा, रामचरित्र का जितना चिन्तन किया जायेगा, वह उतना ही मङ्गलप्रद होगा; क्योंकि सचमुच यह मानव-जीवन राम-दर्शन के बिना निरर्थक है। 'राम-दर्शन' उभय अर्थ में—राम-कर्तृक दर्शन (राम के द्वारा देखा जाना) तथा राम-कर्मक दर्शन (राम को देखना)। राम जिसको नहीं देखते, वह लोकमें निन्दित है। और जो व्यक्ति राम को नहीं देखता, उसका जीवन भी निन्दित है। उसका अन्तःकरण उसकी स्वयं निन्दा करने लगता है—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हते॥

राम की अनुकम्पा का उपाय है—राम का चिन्तन। इस राम-चरित्र के मनन की सामग्री है—वाल्मीकीय-रामायण। भगवान् करे आदि कवि की निर्मल रसामृत-तरङ्गिणी प्रत्येक भारतीय के द्वार पर सुख तथा शान्ति को बहाती हुई उसे मङ्गलमय बनाये।

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥

---

(४) महाभारत

व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे ।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति ॥ —गोवर्धनाचार्य ।

धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥ —महाभारत ।

रामायण तथा महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं। भारतीय सभ्यता का भव्य रूप इन ग्रन्थों में जिस प्रकार से फूट निकलता है वैसा अन्यत्र नहीं। कौरवों और पाण्डवों का इतिहास वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपितु हमारे हिन्दू-धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण यहाँ उपलब्ध होता है। महाभारत का शान्तिपर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों वर्षों से करता आ रहा है। इसीलिए इस इतिहास-ग्रन्थ को हम अपना धर्मग्रन्थ मानते आये हैं जिसका पठन-पाठन, श्रवण-मनन, सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है। सांस्कृतिक मूल्य भी इस ग्रन्थ का नितान्त अधिक है। सच तो यह है कि केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के स्वरूप से परिचय पा सकते हैं। भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंग है। इसके अतिरिक्त 'विष्णुसहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज', 'गजेन्द्रमोक्ष' जैसे आध्यात्मिक तथा भक्ति पूर्ण ग्रन्थ यहीं से उद्धृत किये गये हैं। इन्हीं पाँच ग्रन्थों को 'पञ्चरत्न' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं गुणों के कारण 'महाभारत' पञ्चम वेद के नाम से विख्यात है। वाल्मीकि के समान व्यास जी भी संस्कृत के कवियों के लिये उपजीव्य हैं। महाभारत

महत्त्व

के उपाख्यानों का अवलम्बन कर ही कालान्तर में हमारे कवियों ने काव्य, नाटक ,गद्य, पद्य, चम्पू, कथा, आख्यायिका नानाप्रकार के साहित्य सृष्टि की है। इतना ही क्यों, जावा सुमात्रा के साहित्य में भी महाभारत विद्यमान है। वहाँ के लोग भी महाभारत के कथानक से उसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा पाण्डव-चरित्र अभिनय कर उसी प्रकार अपना मनोरञ्जन करते हैं जिस प्रकार यहाँ के लोग। महाभारत इतना विशाल है कि व्यास जी का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है—'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।' प्राचीन राजनीति जानने के लिए हमें इसी ग्रन्थ की शरण लेनी पड़ती है। विदुरनीति जिसमें आचार तथा लोक-व्यवहार के नियमों का सुन्दर निरूपण हैं महाभारत का ही एक अंश है। इस प्रकार ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं इसलिए इसे 'शतसाहस्री संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से अवश्य है क्योंकि गुप्तकालीन एक शिलालेख में यह 'शतसाहस्री' संहिता के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का

विकास

कहना है कि महाभारत का यह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ है। बहुत प्राचीन काल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया गया था। अथर्ववेद में परीक्षित् का आख्यान उपलब्ध होता है। अन्य वैदिक ग्रन्थों में यत्रतत्र महाभारत के वीर पुरुषों की बातें उल्लिखित मिलती हैं। इन्हीं सब गाथाओं तथा आख्यानों को एकत्र कर महर्षि वेदव्यास ने साहित्य का रूप दिया और वही आजकल का

सुप्रसिद्ध महाभारत है। इसके विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं—(१) जय (२) भारत (३) महाभारत। इस ग्रंथ का मौलिक रूप 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। ग्रंथ के आरम्भ में नारायण[1], नर, सरस्वती देवी को नमस्कार कर जिस 'जय' नामक ग्रन्थ के पठन का विधान है वह 'महाभारत' का मूल प्रतीत होता है। वहीं स्वयं लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था[2]। पाण्डवों के विजय वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का ऐसा नामकरण किया गया प्रतीत होता है।

(२) *भारत*—दूसरी अवस्था में इसका नाम 'भारत' पड़ा। इसमें उपाख्यानों का समावेश नहीं था। केवल युद्ध का विस्तृत वर्णन ही प्रधान विषय था। इसी भारत को वैशम्पायन ने पढ़कर जनमेजय को सुनाया था[3]।

(३) *महाभारत*–इस ग्रन्थ का यहीं अन्तिम रूप है। इसमें एक लाख श्लोक बतलाये जाते हैं। यह श्लोक संख्या अठारह 'पर्वों' की ही नहीं है, किंतु 'हरिवंश' के मिलाने से ही एक लाख तक पहुँचती है। यह विकसित रूप भी बड़ा प्राचीन है। विक्रम से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' के साथ 'महाभारत' का नाम

---

१ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥
महाभारत—मंगल-श्लोक।

२ 'जय' नामेतिहासोऽयम्!

३ चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावत् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥
महाभारत।

निर्दिष्ट है। अतः यह रूप भी दो हजार वर्ष से पुराना ही प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ के दो प्रधान पाठ-सम्प्रदाय हैं; एक उत्तर भारत का दूसरा दक्षिण भारत का। दोनों की श्लोक संख्या, अध्यायों के क्रम, आख्यानों का सन्निवेश—आदि विषयों में महान् अंतर है। मूल महाभारत की खोज बहुत दिनों से हो रही है। आजकल भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से एक संस्करण निकल रहा है जिसमें इस ग्रंथ के विशुद्ध रूप को निश्चित् करने का उद्योग है।

इस महाभारत की रचना कब हुई? इस प्रश्न का उत्तर विद्वानों की राय में भिन्न-भिन्न है। निम्नलिखित प्रमाणों से इस ग्रंथ का समय निरूपण किया जा सकता है:—

रचना काल

(क) ४४५ ई० (५०२ वि०) के एक शिलालेख में महाभारत का निर्देश इस प्रकार है—'शतसाहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्'। इससे प्रतीत होता है कि इससे कम से कम २०० वर्ष पहले इसका अस्तित्व अवश्य होगा।

(ख) कनिष्क के सभापण्डित अश्वकोष ने 'वज्रसूची' उपनिषद् में हरिवंश के श्लोक तथा स्वयं महाभारत के भी कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं[1]। अश्वघोष का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी है। अतः उस समय यह ग्रंथ हरिवंश के साथ लक्षश्लोकात्मक था, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

(ग) आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।४।४) में 'भारत' तथा 'महाभारत' का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है[2]।

---

१ सप्तव्याध्या दशार्णेषु मृगाः कालञ्जरे गिरौ।

२ सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैल सूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्याः—आश्वलायन गृह्य०, अध्याय ३ खण्ड ४।

(घ) बौधायन के गृह्यसूत्र में 'विष्णु सहस्रनाम' का स्पष्ट उल्लेख है तथा भगवद्गीता का एक श्लोक प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है[1]। इन दोनों ग्रन्थकारों की स्थिति ईस्वी के लगभग चार सौ वर्ष पहले मानी जाती है। ये दोनों ग्रन्थकार महाभारत के विस्तृत रूप से परिचित हैं। गीता को भगवान् के वचन रूप से जानते हैं। ययाति के उपाख्यान का निर्देश करते हैं। अतः स्पष्ट है कि मूल महाभारत की रचना इससे (४०० ई० पू०) कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य हुई होगी। महाभारत बुद्ध के पहले की रचना है। परन्तु वर्तमान रूप उसे बुद्ध के पीछे प्राप्त हुआ, यही मानना न्याय-संगत है।

महाभारत के खण्डों को पर्व कहते हैं। ये संख्या में अठारह हैं (१) आदि (२) सभा (३) वन (४) विराट् (५) उद्योग (६) भीष्म (७) द्रोण (८) कर्ण (९) शल्य (१०) सौप्तिक (११) स्त्री (१२) शान्ति (१३) अनुशासन (१४) अश्वमेध (१५) आश्रमवासी (१६) मौसल (१७) महाप्रस्थानिक (१८) स्वर्गारोहण। आदि पर्व में

विषय

चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभा पर्व में है द्यूतक्रीड़ा, वन पर्व में पाण्डवों का वनवास, विराट् पर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास, उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण का दूत बन कर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना, भीष्म पर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का आरम्भ, भीष्म का युद्ध और शरशय्या

---

१ देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यात् मनसा वार्चयेत् इति तदाह भगवान्—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९।२६)

पर पड़ना; द्रोण पर्व में अभिमन्यु-वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध; कर्ण पर्व में कर्ण का युद्ध और वध, शल्प पर्व में शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और अन्त में वध, सौप्तिक पर्व में वन में पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वध, स्त्री पर्व में स्त्रियों का विलाप; शान्ति पर्व में भीष्मपितामह का युधिष्ठिर को मोक्ष धर्म का उपदेश, अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथाएँ, अश्वमेध में युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ करना, आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र गान्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना, मौसल पर्व में यादवों का मूसल के द्वारा नाश, महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय-यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है।

इसके अतिरिक्त महाभारत में अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद उपाख्यान भी है जिनमें निम्नलिखित आख्यान विशेष प्रसिद्ध हैं—

उपाख्यान

१ शकुन्तलोपाख्यान—यह उपाख्यान महाभारत के आदि पर्व में हैं जिसमें दुष्यन्त और शकुन्तला की मनोहर कथा है। महाकवि कालिदास के 'शाकुन्तल' नाटक का आधार यही आख्यान है।

(२) मत्स्योपाख्यान—यह वन पर्व में है। इसमें मत्स्यावतार की कथा है जिसमें प्रलय उपस्थित होने पर मत्स्य के द्वारा मनु के बचाये जाने का विवरण है। यह कथा 'शतपथ' ब्राह्मण में भी उपलब्ध होती है, तथा भारत से भिन्न देशों के इतिहास में भी इसका उल्लेख मिलता है।

(३) रामोपाख्यान—यह भी कथा वनपर्व में है। वाल्मीकीय रामायण की कथा का यह संक्षेपमात्र है। वाल्मीकि ने बालकाण्ड में गङ्गावतरण की जो कथा लिखी है, वह भी यहाँ उपलब्ध होती है।

इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकीय रामायण महाभारत से पहले लिखा गया।

(४) *शिवि उपाख्यान*—यह सुप्रसिद्ध कथानक वनपर्व में ही है जिसमें उशीनर के राजा शिवि ने अपना प्राण देकर शरण में आये हुए कपोत की रक्षा बाज से की थी। यह कथा जातकों में भी आती है।

(५) *सावित्री उपाख्यान*—भारतीय ललनाओं के लिए आदर्श रूप सावित्री की कथा वनपर्व में मिलती है। महाराज द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् तथा सावित्री का उपाख्यान पातिव्रत धर्म की पराकाष्ठा है। ऐसी सुन्दर कथा शायद ही किसी अन्य साहित्य में प्राप्त हो।

(६) *नलोपाख्यान*—राजा नल और दमयन्ती की कमनीय कथा इसी पर्व में मिलती है। श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' महाकाव्य का यही आधार भूत है।

हरिवंश महाभारत का ही अंश समझा जाता है। इसमें सोलह हजार श्लोक हैं जिनमें यादवों की कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई हैं। इसमें तीन पर्व हैं—(१) हरिवंशपर्व—जिसमें कृष्ण के पूर्वजों का वर्णन है (२) विष्णुपर्व—जिसमें कृष्ण की लीला का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है (३) भविष्यपर्व—जिसमें कलियुग के प्रभाव का कथन है।

संस्कृत साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि के अनन्तर महर्षि व्यास ही सर्व श्रेष्ठ कवि हुए। इनके लिखित काव्य 'आर्ष काव्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पिछली शताब्दियों में संस्कृत साहित्य की जो उन्नति हुई, जिन

विवेचन

काव्य-नाटकों की रचना की गई उसमें इन दो ग्रन्थों का प्रभाव मुख्य है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इन कवियों की ओर बड़े आदर के शब्दों में सङ्केत किया है। व्यास की प्रतिभा की परिचायक यही घटना है कि युद्धों के वर्णन में

कहीं भी पुनरुक्ति नहीं दीख पड़ती। व्यास जी का अभिप्राय महाभारत लिखकर केवल युद्धों का वर्णन नहीं है, अपितु इस भौतिक जीवन की निःसारता दिखला कर प्राणियों को मोक्ष के लिये उत्सुक बनाना है। इसी लिये महाभारत का मुख्य रस *शान्त* है[1]। वीर तो अङ्गी भूत हैं। इसमें प्राकृतिक वर्णन नितान्त अनूठे तथा नवीनता-पूर्ण हैं। व्यास जी की यह कृति महाकाव्य न होकर इतिहास कही जाती है क्योंकि वह हमारे आदरणीय वीरों की पुण्यमयी गाथा है। यह वह धार्मिक ग्रन्थ है जिससे प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। राजनीति का तो यह सर्वस्व ही है। राजा और प्रजा के पृथक् पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित वर्णन इसकी महती विशेषता है। वाल्मीकि के साथ-साथ व्यास से भी हमारे कवियों को काव्यसृष्टि के लिये प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिलती आई है और आगे भी मिलेगी। भगवद्-गीता की महत्ता का प्रदर्शन करना अनावश्यक है। कर्म-ज्ञान और भक्ति का जैसा मञ्जुल समन्वय गीता में किया गया है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। व्यास जी का कथन है कि इस आख्यान को बिना जाने हुए जो पुरुष अङ्ग तथा उपनिषदों को भले जाने, वह कभी विचक्षण नहीं कहा जा सकता[2], क्योंकि यह महाभारत एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र

१ महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसान — वैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिध्नता महामुनिना वैराग्य-जननंतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्ष-लक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया सूचितः।

—ध्वन्यालोक ४ उद्योत।

२ यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः।
चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥८२॥

है[1]। जिसने इस आख्यान का रसमय श्रवण किया है उसे अन्य कथानकों में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार, जैसे कोकिल की मधुर कूक के आगे कौए की बोली नितान्त रूखी प्रतीत होती है[2]। महाभारत की प्रशंसा में व्यास ने स्वयं इसे समस्त कविजनों के लिए उपजीव्य बतलाया है। इस ग्रन्थ के अभ्यास से कवियों की बुद्धि में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। व्यास जी का यह कथन अक्षरशः सत्य है। बाद के कवि-जनों ने सचमुच महाभारत से बहुत कुछ लिया है:--

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कवि-बुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥

× × ×

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥

महाभारत का प्रधान उद्देश्य संसार की अनित्यता दिखलाकर मोक्ष का प्रतिपादन करना है। महाभारत के पात्रों में एक विचित्र सजीवता भरी हुई है। सब अपने अपने ढंग से निराले पात्र हैं। परन्तु धर्मराज में जो धार्मिकता दिखाई पड़ती है वह एक अद्भुत वस्तु है। महाभारत सदा से धर्मशास्त्र के रूप में ही गृहीत होता आया है और वस्तुतः वह है भी धर्म का ही प्रतिपादक ग्रन्थ। व्यास ने अपना सन्देश मनुष्यों के

---

१ अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥८३॥

२ श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव ॥८४॥

महाभारत आदिपर्व अध्याय २

लिए इस सुन्दर श्लोक में निबद्ध कर दिया है[1]। यदि मनुष्य सच्चा सुख का अभिलाषी है तो उसका परम कर्तव्य धर्म का सेवन है। इसी धर्म से अर्थ और काम दोनों सिद्ध हो जाते हैं। महाभारत का वास्तविक संदेश यही है।

(५) तुलना

रामायण और महाभारत की तुलना करने से अनेक आवश्यक तथ्यों का पता चलता है। मुख्य तुलना दो विषयों में की जा सकती है। प्रथम तो उनके वर्णनीय विषय को लेकर और दूसरा उनके रचना काल को लेकर।

स्वरूपतः तुलना

रामायण आदिकाव्य माना जाता है, और महाभारत इतिहास गिना जाता है। इस साम्प्रदायिक भेद का यह अभिप्राय है कि रामायण में काव्यगत चमत्कार महत्त्व की वस्तु है। महाभारत में प्राचीनकाल के अनेक प्रसिद्ध राजाओं के इतिवृत्त का वर्णन करना ही ग्रंथकार का उद्देश्य है। इसीलिए रामायण में राम-रावण युद्ध की घटना ही सर्वतोभावेन मुख्य है। अन्य छोटे मोटे कथानक भी हैं, परन्तु वे प्रधान वृत्त को पुष्ट करने के लिए ही रचित हैं। उधर महाभारत में प्रधान घटना कौरवों तथा पाण्डवों का युद्ध है, पर इसके साथ साथ प्राचीन काल की अनेक कथायें अवान्तर रूप से दी हुई हैं जो मुख्य घटना से कम महत्त्व नहीं रखतीं।

दोनों का भौगोलिक विस्तार भिन्न भिन्न है। रामायण में जिस भारतवर्ष की चर्चा है उसकी दक्षिणी सीमा विन्ध्य और दण्डक है, पूर्वी सीमा विदेह है तथा पश्चिमी सीमा सुराष्ट्र है। परन्तु महाभारत के समय

---

१ ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते॥

महाभारत।

आर्य्यावर्त का विशेष विस्तार दीख पड़ता है। पूर्वी सीमा गङ्गा-सागर का सङ्गम है, दक्षिण में चोल तथा मालावार प्रांतों की सत्ता है। इतना ही नहीं, लङ्का के भी अधिपति उपहार लेकर युधिष्ठिर के राजसूय में उपस्थित होते हैं।

दोनों के स्वरूप में भी पर्याप्त अंतर है। रामायण में एक ही कवि की कोमल लेखनी ने अपना चमत्कार दिखलाया है। कविता में समरसता है, शब्द और अर्थ का मञ्जुल सामञ्जस्य है जिससे यह स्पष्ट है कि इसके रचना का श्रेय किसी एक ही व्यक्ति को है। परंतु महाभारत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह तो अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयासों का फल है। धीरे-धीरे अपने अल्पकलेवर से बढ़ता हुआ वह लक्षश्लोक विशालकाय ग्रंथ के रूप में आ गया है। रामायण के लेखक की चर्चा कहीं नहीं है, प्रत्युत लव तथा कुश के उसके गाये जाने की बात से हम परिचित हैं[1]। परन्तु महाभारत लिपिबद्ध किया गया ग्रन्थरत्न है, जिसके प्रथम लिपिबद्ध करने का श्रेय स्वयं गणेशजी को प्राप्त है। व्यासजी बोलते जाते थे और गणेशजी उसे लिखते जाते थे।

रामायण और महाभारत में किसकी रचना पहले हुई? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। गत शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबरने पहले पहल यह कहना प्रारम्भ किया था कि रामायण की अपेक्षा महाभारत की रचना पहले हुई थी। रामायण में सुन्दर पद-विन्यास तथा सुबोध रचना को वे अर्वाचीनता का परिचायक मानते थे। भारत के भी कतिपय विद्वानों ने भी इसी मत की घोषणा की, परन्तु भारतीय की परम्परा उक्त मत के अत्यन्त

रचना-काल की तुलना

१ ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥१३॥ —बालकाण्ड, ४ सर्ग

विरुद्ध है। वाल्मीकि आदि कवि हैं और महाभारत के रचयिता व्यास उनके पश्चाद्वर्ती द्वितीय कवि हैं। युग के हिसाब से भी अन्तर पड़ता है। वाल्मीकि त्रेता युग में होने वाले रामचन्द्र के समकालिक हैं और व्यास द्वापर युग में उत्पन्न होने वाले पाण्डवों के समसामयिक हैं। इतना ही नहीं, दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट पता चलता है कि काल-क्रम में वाल्मीकि-रामायण महाभारत से पहले की रचना है। इसके पोषक प्रमाण मुख्यः नीचे दिये जाते हैं—

(१ महाभारत के पात्रों के चरित में तथा घटनाओं में व्यावहारिकता का पुट है। जुआ खेलना, खेल में हार जाना, राज्य का न मिलना और उसके लिये युद्ध करना आदि घटनाएँ व्यवहार तथा विश्वास के क्षेत्र से बाहर नहीं है। पर रामायण में ऐसी घटनाएँ हैं जिन पर साधारण मनुष्य अपना विश्वास नहीं जमाता। सन्तान के लिये पुत्रेष्टि याग करना, रीछ और बानरों की सहायता से लड़ना, समुद्र के ऊपर पत्थर का विराट पुल बाँधना, रावण का दस सिर होना आदि घटनाएँ मानव संस्कृति की उस प्राथमिक दशा की ओर सङ्केत करती हैं जब आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास करना कोई अस्वाभाविक बात न थी।

(२) रामायण में आर्य सभ्यता अपने विशुद्धरूप में चित्रित की गई है। उसमें म्लेच्छों का जो सम्भवतः भिन्न धर्म तथा संस्कृति के अनुयायी थे, तनिक भी सम्पर्क नहीं दीख पड़ता। परन्तु महाभारत में म्लेच्छों का सम्पर्क पर्याप्त रूप से विद्यमान है। दुर्योधन की आज्ञा से जिस पुरोचन नामक मन्त्री ने लाख (लाक्षा) के घर को बनाया था वह म्लेच्छ था। महाभारत के युद्ध में दोनों ओर से लड़ने वाले अनेक म्लेच्छ राजाओं के भी नाम मिलते हैं। इतना ही नहीं, विद्वान् लोग म्लेच्छों की भाषा से भी परिचित थे। विदुर ने इसी म्लेच्छ भाषा में युधिष्ठिर को लाख के घर की

घटना की सूचना पहले ही सभा में दे रखी थी। उक्त भाषा का प्रयोग इसीलिये किया गया कि अन्य सभासद इस बात को समझ न सकें।[1]

(३) भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर भी महाभारत पीछे लिखा गया मालूम होता है। रामायण की रचना के समय में दक्षिण भारत में अनार्य जंगली जातियों का ही निवास था। आर्यों की सभ्यता विन्ध्य पर्वत तक ही सीमित थी। परन्तु महाभारत के समय में दक्षिण भारत राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थित, सुशासित तथा सभ्य दीख पड़ता है। भीष्मपर्व में दक्षिण भारत के राजाओं के प्रतिनिधि राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर उपस्थित होते हैं। दक्षिण भारत का यह राजनीतिक परिवर्तन सूचित करता है कि महाभारत की रचना पीछे हुई।

(४) महाभारत युद्ध में युद्धकला की विशेष उन्नति दिखाई पड़ती है। द्रौपदी के स्वयम्वर में सीता-स्वयम्वर के समान केवल एक धनुष को तोड़ देना ही वीरत्व का मानदण्ड नहीं है, प्रत्युत एक विशिष्ट प्रकार से लक्ष्य-भेद करना वीरता की कसौटी है। लंकायुद्ध में योद्धागण परस्पर केवल पत्थरों और वृक्षों से प्रहार करते हैं परंतु महाभारत युद्ध में सैनिक लोग विशिष्ट सेनापति की देख-रेख में लड़ते हैं। व्यूह की रचना इस युद्ध की महती विशेषता है जिसमें अल्पसंख्यक सैनिक बहुसंख्यक सेना के आक्रमण को रोकने में समर्थ होते हैं। युद्धकला का यह महाभारत-कालीन विकास इस बात को प्रमाणित कर रहा है कि महाभारत बाद की रचना है।

---

१ इस भाषा का उल्लेख निम्नलिखित श्लोक में किया गया है—जिसके अर्थ को समझने के लिये नीलकण्ठ की टीका देखनी आवश्यक है:—

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत्॥

आदिपर्व-१४५, अ २०

(५) दोनों की सामाजिक दशा में विशेष अंतर है। रामायण का समाज आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है। पिता कुटुम्ब का नेता तथा पोषक है। राम आदर्श पुत्र हैं, भरत भ्रातृत्व के गुणों के आगार हैं, सुग्रीव मित्रता की कसौटी हैं। उधर महाभारत की सामाजिक दशा में आदर्शवाद के लिए स्थान नहीं है। भरत के समान भीम पितृतुल्य अपने जेठे भाई के आदेश का पालन करना अपना कर्तव्य नहीं मानते। यदि धर्मराज संधि करने के इच्छुक हैं, तो वे उनका घोर विरोध करने पर तुले हैं। विजय की सिद्धि के लिए चोरी करना या असत्य भाषण किसी प्रकार का पाप नहीं माना जाता था।

(६) रामायण में नैतिक भावना अपने ऊँचे आदर्श पर प्रतिष्ठित है, परंतु महाभारत में यह भावना ह्रास को पाकर नीचे खिसकने लगी है। मैथिली तथा द्रौपदी के चरित्र की तुलना इसे स्पष्ट करती है। सुंदर-काण्ड में हनुमान् सीता को अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास ले चलने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीता परपुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती हैं। अतः वह इसे तिरस्कृत कर देती हैं। रावण वध के अनन्तर सीता कठिन अग्निपरीक्षा में तप्त होकर अपने पावन चरित्र को सिद्ध करती हैं। महाभारत की द्रौपदी काम्यक वन में जयद्रथ के द्वारा हरण की जाती है परन्तु उसका पुनर्ग्रहण बिना किसी रोक टोक के धीरे से कर लिया जाता है।

(७) रामायण में महाभारत की घटनाओं तथा पात्रों का उल्लेख तक नहीं है, परन्तु महाभारत रामायण की कथा तथा पात्रों से पूरी तरह परि-चित है। वनपर्व के तीर्थ-यात्रा प्रसंग में श्रृङ्गवेरपुर[1] (प्रयाग जिले का सिंगरामऊ) तथा गोप्रतार[2] (फैजाबाद में सरयू का गुप्तार घाट) तीर्थ

---

१ वनपर्व ८५।६५

२ म० भा० वनपर्व ८५।७० ।

में गिने गये हैं, क्योंकि पहले स्थान पर राम ने गंगा पार किया और दूसरे पर वे अपनी प्रजाओं के साथ भूलोक से स्वर्ग में चले गये। वन-पर्व के १९ अध्यायों में (अ० २७३-९३) रामोपाख्यान पर्व है जिसमें रामचन्द्र की कथा विस्तार से वर्णित है। इस उपाख्यान में बाल्मीकीय रामायण के श्लोक ज्यों के त्यों रखे गये हैं। उपमायें तथा कल्पनायें वाल्मीकि से ली गई हैं।

रामायण के श्लोकों की समता केवल रामोपाख्यान में ही उपलब्ध नहीं होती, प्रत्युत महाभारत के अन्य पर्वों में भी यह समता तथा निर्देश नितान्त सुस्पष्ट है। उदाहरणार्थ मायासीता के मारते समय इन्द्रजीत ने हनुमान्जी से जो वचन कहे थे, वे ही वचन द्रोणपर्व में भी अक्षरशः प्राप्त होते हैं।

न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत्॥ ।—युद्ध ८१।२८
अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवङ्गम॥
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत्॥ —द्रोणपर्व

इन प्रमाणों के अनुशीलन से किसी भी आलोचकको भारतीय परम्परा की सत्यता का पता चलेगा कि रामायण कालक्रम से महाभारत से पूर्व की रचना है।

षष्ठ परिच्छेद

पुराण

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्त्व है। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृतिको साधारण जनता में प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं पुराणों को है। आज भी हिंदूधर्म के मूलाधार ये पुराण ही हैं। परन्तु बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि आजकल पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित भारतीय विद्वानों की दृष्टि इन पुराणों के प्रति बड़ी उपेक्षापूर्ण है। वे ज्ञान के इन भण्डार पुराणों को गप्प से अधिक महत्त्व नहीं देते। जब भारतीय विद्वानों की यह दशा है, तब पाश्चात्य विद्वानों का क्या पूछना? वे तो पुराणों को नितान्त कपोल-कल्पित ही समझते है। पुराणों में जो इतिहास वर्णित है, उसे वे पुरा-तन कथा (माइथोलाजी) मानते हैं तथा उन पर तनिक भी विश्वास नहीं करते। इन्हीं पश्चिमी विद्वानों के द्वारा फैलायी गई इस भ्रान्त धारणा के अनुसार पुराणों के प्रति लोगों की उपेक्षा की प्रवृत्ति चली आ रही थी। परन्तु हर्ष का विषय है कि अब भारतीय विद्वान् ही नहीं, पाश्चात्य मनीषी भी इसकी महत्ता समझने लगे हैं और भारतीय इतिहास के लिए इनको अमूल्य निधि मानने लगे हैं।

'पुराण' शब्द का अर्थ 'पुराना आख्यान' है—'पुराणमाख्यानम्'। संस्कृत- साहित्य में 'पुराण' शब्द का अर्थ 'पुराना' है। सम्भवतः पुराणों की अत्यन्त प्राचीनता के कारण ही इनको यह नाम प्राप्त हुआ है।

'पुराण शब्द' का अर्थ

पुराणों में प्राचीन आख्यानों की ही विशेषता रही है। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास का भी नाम आता है। इतिहास उन्हीं घटनाओं का वर्णन करता है, जो भूतकाल में हो गई हैं; परन्तु पुराण का विषय इतिहास से अधिक व्यापक और विस्तृत है। इसी मौलिक पार्थक्य को लक्ष्य में रखकर इतिहास और पुराण का नामकरण अलग-अलग किया गया है।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि हमारे शास्त्रों में पुराण की कैसी कल्पना की गई है। मत्स्य, विष्णु तथा ब्रह्माण्ड आदि महापुराणों में पुराण का लक्ष्य बतलाते हुए लिखा है—

पुराण की कल्पना

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

अर्थात् (१) सर्ग या सृष्टि, (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि, (३) सृष्टि की आदि की वंशावली, (४) मन्वन्तर अर्थात् किस-किस मनु का समय कब-कब रहा और उस काल में कौन-सी महत्त्व की घटना हुई तथा (५) वंशानुचरित—सूर्य तथा चन्द्र वंशी राजाओं का वर्णन—यही पुराणों के पाँच विषय हैं। यही लक्षण साधारणतया पुराणों का है। परन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि पुराणों में इतनी ही बातों का वर्णन नहीं है, प्रत्युत इनसे भी बहुत अधिक बातें हैं। उदाहरण के लिये अग्निपुराण को ले लीजिये, यदि इसे हम 'भारतीय ज्ञानकोष' कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। कुछ ऐसे भी पुराण हैं, जिनमें इन पाँचों विषयों का यथावत् वर्णन नहीं

मिलता। फिर भी पुराण की सामान्य कल्पना यही समझनी चाहिये। हम लोगों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे पुराण ही सच्चे तथा आदर्श इतिहास हैं। किसी मानव-समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझा जायगा, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। जब तक किसी देश की कथा सृष्टि के प्रारम्भ से न लिखी जाय, तबतक उसे अधूरा ही समझना चाहिये। इतिहास की इस वास्तविक कल्पना को पुराणों में हम पाते हैं। आधुनिक विद्वानों ने इतिहास-लेखन-शैली में इस प्रणाली की चिरकाल से उपेक्षा कर रखी थी; परन्तु हर्ष का विषय है इङ्गलैंड के सुप्रसिद्ध विचारशील विद्वान् एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास की रूप-रेखा (आउटलाइन आफ हिस्ट्री) में इसी पौराणिक प्रणाली का अनुकरण किया है। उन्होंने अपने इस प्रसिद्ध इतिहास में मानव-समाज का इतिहास लिखने के पूर्व सृष्टि के प्रारम्भ से मनुष्य के विकास का इतिहास लिखा है। मनुष्य योनिको प्राप्त करने के पहले मानव को कौन-सा रूप धारण करना पड़ा था तथा उसका क्रमिक विकास कैसे हुआ? इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन उन्होंने किया है। इस प्रकार यदि मनुष्य का इतिहास लिखना हो तो सृष्टि के प्रारम्भ से ही उसके विकास की कथा लिखनी ठीक है। इतिहास लिखने का यही पौराणिक तथा आदर्श प्रकार है।

पुराणों की दूसरी विशेषता उनकी वर्णन-शैली है। कुछ लोग पुराणों में लिखी हुई किसी बात को लेकर उसे असम्भव मानकर कपोल-कल्पित कहने का दुःसाहस कर बैठते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे शास्त्रों में वस्तु-कथन के तीन प्रकार बतलाये गये हैं— जिन्हें आलङ्कारिक भाषा में स्वभाव-कथन, रूपक-कथन तथा अतिशयोक्ति-कथन कह सकते हैं। जो वस्तु जैसी हो, उसे ठीक वैसा ही कहना तथ्य-

कथन है। यह कथन वैज्ञानिक लोगों के लिए उपयुक्त है। जहाँ रूपकालङ्कार का आश्रय लेकर कुछ कहा जाय, उसे 'रूपक कथन' कहते हैं। यह कथन-प्रणाली वेदों में पायी जाती है, जहाँ सूर्य की किरणों में पाये जानेवाले सात रंगों को रंग न कहकर घोड़ों का रूपक दिया गया है। पुराणों में वस्तु-वर्णन के लिए अतिशयोक्ति अलङ्कारका आश्रय सदा लिया गया है तथा जो कुछ बात कही गयी है, उसे बड़ा ही विस्तृत रूप दिया गया है; जैसे इन्द्र-वृत्र के युद्ध में वृत्र की राजा के रूप में विस्तृत कल्पना। इस प्रकार पुराणों में जहाँ कहीं कोई बात कही गई है, वहाँ बड़े विस्तार से कही गई है। अतः पौराणिक कथाओं के सम्बन्धमें इस कथन-प्रणाली पर ध्यान रख कर ही विचार करना चाहिए। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो पुराण शुद्ध तथा आदर्श इतिहास के रूप में ही हम लोगों को दिखाई पड़ेंगे।

१—पुराणों का काल

पुराणों के समय-निर्णय के लिए निम्नलिखित प्रमाणों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) शङ्कराचार्य तथा कुमारिलभट्ट ने अपने ग्रन्थों में पुराणों से उद्धरण दिये हैं। बाणभट्ट (६२५ ई०) ने हर्षचरित में इस बात का उल्लेख किया है कि उन्होंने अपने जन्मस्थान में वायुपुराण के कथा-पारायण को सुना था। कादम्बरी में भी उन्होंने 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्' कह कर वायु-पुराण के अस्तित्व की सूचना दी है।

(२) पुराणों में कलियुग के राजाओं का जो वर्णन किया गया है उसकी परीक्षा भी समय निरूपण करने में विशेष सहायक है। विष्णु पुराण में मौर्य वंश का प्रामाणिक विवरण दिया गया है। मत्स्य पुराण

दक्षिण के आन्ध्र राजाओं (लगभग २२५ ई०) का प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत करता है। वायुपुराण गुप्त राजाओं के प्रारम्भिक साम्राज्य से परिचित है। अतः पुराणों की रचना का काल गुप्तकाल के अनन्तर कथमपि नहीं माना जा सकता।

(३) वर्तमान महाभारत और पुराणों का परस्पर सम्बन्ध एक विवेचनीय वस्तु है। महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से भी पहले पुराणों का अस्तित्व था। महाभारत कथा के वक्ता उग्रश्रवा सूत लोमहर्षण के पुत्र थे। वे पुराणों में पूर्ण रूप से निष्णात बतलाये गये हैं। शौनक ऋषि ने उग्रश्रवा को महाभारत की कथा कहने के लिये प्रार्थना करते समय कहा—"हे लोमहर्षणि! तुम्हारे पिता ने प्राचीन काल में समस्त पुराणों को पढ़ा है, तुमने इन पुराणों का अध्ययन किया है या नहीं? पुराण में देवताओं की कथाएँ तथा बुद्धिमान् ऋषियों के वंश वर्णित हैं जिन्हें हम लोगों ने आप के पिता से सुना था[1]।" हरिवंश में वायुपुराण के निर्देश ही नहीं मिलते, प्रत्युत वह वर्तमान वायुपुराण के साथ अनेक अंशों में पर्याप्त साम्य भी रखता है। बहुत से आख्यान तथा उपदेशात्मक श्लोक पुराणों तथा महाभारत में समान रूप में उपलब्ध होते हैं। डाक्टर लूडर्स ने इस बातको प्रमाणतः सिद्ध किया है कि ऋष्यशृंग का जो आख्यान पद्मपुराण में मिलता है वह महाभारत में उपलब्ध आख्यान की अपेक्षा प्राचीन है। इस परीक्षा से हम इस

---

१ पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान् पुरा।
कच्चित् त्वमपि तत् सर्वमधीषे लोमहर्षणे ॥ १ ॥
पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।
कथ्यन्ते ये पुराऽस्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ॥ २ ॥
म० भा० आदिपर्व ५ अ०

निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत के वर्तमान संस्करण होने से बहुत ही पहले पुराण वर्तमान थे। और जो पुराण इस समय उपलब्ध हो रहे हैं उनमें भी बहुत सी सामग्री महाभारत की अपेक्षा कहीं अधिक पुरानी और प्रामाणिक है।

(४) कौटिल्य का अर्थशास्त्र पुराणों से अच्छी तरह परिचित है। कौटिल्य का कथन है कि उन्मार्ग पर चलने वाले राजकुमारों को पुराणों का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाना चाहिए। इतना ही नहीं, कौटिल्य ने पौराणिक को राजा के अधिकारियों में अन्यतम स्थान दिया है। अतः पुराणों को कौटिल्य से प्राचीन मानना उचित है। परन्तु कौटिल्य के विषय में भी विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग अर्थशास्त्र को ईसा की तीसरी शताब्दी की रचना मानते हैं; परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति है कि अर्थशास्त्र में चन्द्रगुप्त मौर्य की ही शासन-पद्धति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अतः अर्थशास्त्र ईस्वी पूर्व तृतीय शतक की रचना है। अतः कहना पड़ेगा कि पुराणों की रचना ईस्वी पूर्व तृतीय से बहुत पहले ही हो चुकी थी।

(५) सूत्र-ग्रन्थों के अवलोकन से पुराणों के अस्तित्व का कुछ परिचय मिलता है। उस समय पुराण ग्रन्थरूप में निबद्ध हो चुके थे और उनका स्वरूप वही था जिस रूप में वे आजकल हमें उपलब्ध हो रहे हैं। गौतम तथा आपस्तम्ब के धर्मसूत्र कालगणना के अनुसार बहुत पुराने माने जाते हैं। इनकी रचना ईस्वी सन् के पूर्व पञ्चम शतक में सर्वसम्मति से मानी जाती है। गौतम धर्मसूत्र (११ । १९) में लिखा है कि राजा को अपनी शासन-व्यवस्था के लिए वेद, धर्मशास्त्र, वेदाङ्ग और पुराण को प्रमाण बनाना चाहिए। वेद के समकक्ष रखे जाने के कारण यहाँ पुराण से आख्यान-विशेष का अर्थ निकाला जा

सकता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में उपलब्ध निर्देश इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उसमें दो पद्य पुराण से उद्धृत किये गये हैं और तीसरा उद्धरण भविष्यत् पुराण से है। ये तीनों उद्धरण वर्तमान पुराणों में नहीं मिलते; परन्तु इन्हीं के समानार्थक श्लोक पुराणों में मिलते हैं। बहुत सम्भव है कि उस समय विरचित पुराणों का पुनः संस्करण पीछे किया गया हो। जो कुछ हो, सूत्रकाल में पुराणों की ग्रन्थरूप में सत्ता निःसंदिग्ध सिद्ध है।

(६) उपनिषद् काल में भी पुराणों का उल्लेख हमें मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार और नारद के प्रसंग में तत्कालीन प्रचलित अनेक शास्त्रों का निर्देश उपलब्ध होता है। उसमें वेदों के अनन्तर पुराणों का भी उल्लेख किया गया है[१]।

(७) इससे भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख स्वयं अथर्व-संहिता का है[२]। अथर्व के एक मन्त्र में 'उच्छिष्ट' नाम से अभिहित परमपुरुष से चारों वेदों के अनन्तर पुराण की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है। प्रसङ्ग से प्रतीत होता है कि यहाँ पुराण शब्द से केवल पुराने आख्यान का अर्थ नहीं है प्रत्युत ग्रन्थ-विशेष से है। इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की यह है कि 'पुराण' शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में दो प्रकार से मिलता है—(१) एक विशिष्ट प्रकार की साहित्यिक रचना (२) पुराने आख्यानों के वर्णन करने वाले ग्रन्थ विशेष। अतः पुराण शब्द की उपलब्धि होते ही उनसे वर्तमान पुराणों का अर्थ निकालना न्याय-संगत नहीं होगा।

---

१ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्—छान्दोग्य ७।१।२

२ ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥—अथर्व ११।७।२४

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुराण का अस्तित्व वैदिक काल में भी था। ईस्वी से छः सौ वर्ष पूर्व भी वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले पुराणों के समान ही पुराण ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। मूल पुराण उपलब्ध नहीं होता। पुराण किसी एक शताब्दी की रचना नहीं है। समय समय पर उनमें नये-नये अध्याय जोड़े गये थे। इतना तो निश्चित है कि गुप्तकाल तक पुराणों की रचना समाप्त हो गई थी।

पुराणों का महत्त्व अनेक दृष्टियों से विशेष है। धार्मिक दृष्टि से पुराण वेदविहित धर्म का सरल सुबोध भाषा में वर्णन करता है। जब वेदों की भाषा सर्वसाधारण के समझने लायक न रह गई तब उनके तत्त्वों को जनता तक पहुँचाने के लिये पुराण बनाये गये। पुराणों का

महत्त्व

सामाजिक महत्त्व भी कम नहीं है। उस समय के भारतीय समाज का स्वरूप हमें पुराण के पृष्ठों में ही उपलब्ध होता है। पुराणों में प्राचीन इतिहास प्रामाणिकरूप से भरा हुआ है, ऐसी धारणा तो अब अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों की भी होने लगी है। पुराण में दिये गये इतिहास की पुष्टि शिलालेखों से, मुद्राओं से और विदेशियों के यात्रा-विवरणों से, पर्याप्त मात्रा में होने लगी है। अतः विद्वान् ऐतिहासिकों का कथन है कि यह पूरी सामग्री प्रामाणिक तथा उपादेय है। प्राचीन राजाओं के समान यदि हमें प्राचीन ऋषियों के जीवन वृत्त का परिचय प्राप्त करना हो तो पुराणों ही की शरण में जाना पड़ेगा। पुराणों का भौगोलिक मूल्य भी कम नहीं है। पुराणों में तीर्थों का बड़ा विस्तृत विवेचन है जिससे हम इन स्थानों के विस्तृत भूगोल का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिये काशीखण्ड को ही लीजिये। यह स्कन्द पुराण का एक खण्ड है। इसमें काशी के स्थानों का और शिवलिंगों का

बड़ा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसकी सहायता से हम प्राचीन काशी के प्रसिद्ध भागों का ज्ञान भलीभाँति प्राप्त कर सकते हैं। पुराणों की रचना-शैली अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसी शैली के कारण ही पुराणों में बड़ी लम्बीचौड़ी बातें कहीं कहीं मिलती हैं। इन्हीं को देखकर सर्व-साधारण में पुराणों के प्रति अनास्था का भाव बना हुआ है। परन्तु पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन से उनके सच्चे इतिहास तथा सामाजिक वृत्त का परिचय प्रत्येक विद्वान् को लग सकता है।

२—पुराण और वेद

भगवान् के हृदय से आविर्भूत होकर वेद पहिले ऋषि, मुनि, ज्ञानी, कर्मी तथा भक्त लोगों के मानस में विचरण करने लगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के अतिरिक्त अन्यान्य साधारण मनुष्यों को उनमें दीक्षित होकर जीवन की सार्थकता सम्पादन करने का अधिकार नहीं था। वेद की भाषा समझने की तथा वैदिक मन्त्रों के तात्पर्य को हृदयङ्गम करने की योग्यता मानव समाज में थोड़े ही लोगों में थी। दीक्षा तथा उपनयन से विरहित होने के कारण समाज के निम्नस्तर के लोग अपने जीवन को वेदमय बनाने से वंचित रह गये। इस कमी की पूर्ति महर्षि वेदव्यास तथा उनके शिष्य और प्रशिष्यों ने वेदरूपिणी सरस्वती को जनता के कल्याण के लिये मानव समाज के उर्ध्वलोक से निम्नस्तर में लाने के लिये अपने को नियुक्त किया। इसी का सुभग परिणाम हुआ पुराणों की रचना। वेद और पुराण वस्तुतः अभिन्न हैं। किन्तु वेद द्विज-समुदाय में प्रतिष्ठित हैं और पुराण सभी श्रेणियों के नर नारियों में विचित्र वेश भूषा और विचित्र गतिभंगी से विचरने वाले हैं। पुराण का उद्देश्य वेद के तत्त्वों को जन साधारण तक पहुँचाना है। इसकी सिद्धि के लिये उसने सरल

संस्कृत वाणी को अपना माध्यम बनाया है। केवल भारत के प्रान्तों में ही नहीं, प्रत्युत भारत के बाहर अनेक द्वीप-द्वीपान्तर और देश-देशान्तरों में भी पुराणों ने भारतीय सनातन वैदिक विचारधारा, कर्मधारा और भावधारा को प्रवाहित किया है। पुराणों की कृपा से सनातन वेदों ने सभी श्रेणियों के नर नारियों के जीवन को नियन्त्रित करके परम कल्याण, विमल प्रेम तथा विशुद्ध आनन्द के मार्ग में प्रवृत्त कराने का अधिकार प्राप्त किया है।

पुराणों का प्रधान गौरव यह है कि वेद ने जिस परम तत्त्व को ऋषियों के भी इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अप्राप्य देश में रख दिया था, पुराणों ने उसको सर्वसाधारण के इन्द्रिय, मन और बुद्धि के समीप लाकर रख दिया है। वेदों के सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म ने पुराणों में सौन्दर्यमूर्ति तथा पतित-पावन भगवान् के रूप में अपने को प्रकाशित किया है। वेदों ने घोषणा की है कि ब्रह्म सब प्रकार के नाम, रूप तथा भावों से परे है। पुराण कहते हैं कि ब्रह्म सर्वनामी, सर्वरूपी और सर्व भावमय है। वेद कहते हैं:—एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति। पुराण कहते हैं—एकं सत् प्रेम्णा बहुधा भवति। भगवान् की अनन्त विभूतियों के मधुर रूपों का दर्शन हमें पुराणों में मिलता है। पुराणों ने यह उद्घाटित किया है कि एक ही परम तत्त्व भगवान् विभिन्न रूप और नामों में विचित्र शक्ति सामर्थ्य तथा सौन्दर्य को प्रकट कर सम्पूर्ण संसार में लीला-विलास कर रहे हैं। तथा प्रत्येक उपासक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में उसी भगवान् की ही उपासना करके कृतार्थता प्राप्त करता है। इसी कारण भारत के समग्र धार्मिक-सम्प्रदाय एकत्व के सूत्र में बँधे हुये हैं। इस प्रकार पुराणों ने सर्वातीत ब्रह्म को सबके बीच में लाकर, मनुष्य के भीतर देवत्व के बोध को तथा भगवत्ता की अनुभूति को जागृत कर

दिया है। पुराणों में मानव जाति का इतिहास और विशेषतः भारत के प्राचीन इतिहास का वर्णन है, पर साथ ही साथ पुराणों का प्रधान लक्ष्य यह दिखलाना है कि यह सब संसार भगवान् की लीला का विलास है। इस प्रकार पुराणों में वैदिक तत्त्वों को रोचक रूप से जन साधारण के सामने रखने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है। वैदिक धर्म को लोकप्रिय बनाने का श्रेय इन्हीं पुराणों को प्राप्त है।

वेद और पुराण की इस मौलिक एकता से अपरिचित होने वाले विद्वान् ही वैदिक और पौराणिक इन दो विभिन्न धर्मों की चर्चा करते हैं। जो व्यक्ति वेद में श्रद्धा रखते हुए पुराणों में आस्था नहीं रखता वह हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्तों से नितान्त अनभिज्ञ है। वेद और पुराण एक ही अभिन्न सनातन धर्म के भिन्नकाल में आविर्भूत होने वाले विशिष्ट ग्रन्थ हैं। वैदिक संहिताओं में कर्मकाण्ड का विशेष प्राबल्य हमें मिलता है। परन्तु उन्हें ज्ञान तथा भक्ति से शून्य बतलाना भी नितान्त उपहास्यास्पद है। तथ्य बात यह है कि संहिताओं में बीज रूप से निहित सिद्धान्तों का ही पल्लवीकरण हमें पिछले साहित्य में उपलब्ध होता है। भक्ति की चर्चा केवल पुराणों ही में है, उपनिषदों में नहीं, यह कथन दुःसाहसपूर्ण है। कठोपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि बिना ईश्वर की कृपा के ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्या और बुद्धि उसकी प्राप्ति में नितान्त व्यर्थ है। भगवत्कृपा का यह तत्त्व कितने सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया गया है :—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

(कठ० उप० १।२।२३)

केनोपनिषद् में कहा है कि ईश्वर भजनीय हैं, इस दृष्टि से उनकी उपासना करनी चाहिए ।:—

"तद्वनमिति उपासितव्यम्" (केन. उप.)

वरुण सूक्तों में भक्तों की भावना जिस मधुर रूप में व्यक्त की गई है वह विद्वानों से अपरिचित नहीं है । इन प्रमाणों के रहते हुए भक्ति को पुराण काल की नई उपज मानना भ्रान्ति की चरम सीम नहीं तो क्या है ?

पुराणों में भगवान् के नाना अवतार की कथाएं विस्तार के साथ वर्णित हैं। इन कथाओं को पुराणों में वर्णित होने के कारण बहुत से लोग कपोल कल्पित मानते हैं । परन्तु क्या यह बात ऐसी ही है ? क्या इन अवतार की कथाओं का प्रथम दर्शन हमें पुराणों के पृष्ठों में ही मिलता है ? नहीं, बिल्कुल नहीं । इन कथाओं का बीज रूप से उल्लेख स्वयं वेदों में उपलब्ध होता है । यह हमारे इस कथन का पुष्ट प्रमाण है कि पुराणों में वेद से किसी प्रकार की विभिन्नता या पृथक्ता नहीं है । कतिपय उदाहरणों से इस कथन को स्पष्ट किया जा सकता है:—

(१) भगवान् के मत्स्य रूप में अवतीर्ण होने की कथा बड़े विस्तार के साथ शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होती है । मत्स्य के द्वारा महाराज मनुको आगामी जलप्लावन की सूचना किस प्रकार मिली और किस तरह उन्होंने मत्स्य के अनुग्रह से इस सृष्टि के बीजों की रक्षा की तथा कालान्तर में उन्हें पल्लवित किया इसका सबसे प्राचीन वर्णन हमें यहीं उपलब्ध होता है ।

'तस्य (मनोः) अवने निजातस्य मत्स्यः पाणी आपेदे ।"

(शत. ब्रा. १।८।१।१-२)

(२) कूर्मावतार की सूचना हमें इसी शतपथ ब्राह्मण से मिलती है ।

"स यत्कूर्मो नाम एतद् वै रूपं कृत्वा प्रजा पतिः प्रजा असृजत् ।"

(शत० ब्रा० १०।५।१।५)

(३) वाराहावतार का उल्लेख अथर्ववेद में पाया जाता हैः—

वाराहेण पृथिवी संविदाना (अथर्व० १२।१।४८)

(४) वामनावतार का निर्देश ऋग्वेद के विष्णु सूक्त में स्पष्ट ही है।

"इद विष्णुर्विचक्रमे, त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुरे ।" ऋ० वे० १।२२।१७

३—पुराणों के वक्ता 'सूत'

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् पार्जिटर का यह मत है (और इस मत के मानने वालों की संख्या पूर्व और पश्चिम में कुछ कम नहीं है) कि प्राचीन भारत में दो प्रकार की ऐतिहासिक परम्परा प्रचलित थी—(१) वेद से सम्बद्ध शौर (२) पुराणों से सम्बद्ध। पहिली परम्परा के प्रचारक ब्राह्मण थे परन्तु दूसरी परम्परा का प्रचार करने का श्रेय अब्राह्मणों को प्राप्त है। इस कल्पना का मूल आधार यह है कि पुराण के प्रचारक तथा व्याख्याता सूत लोमहर्षण सूत-जाति में उत्पन्न माने जाते हैं। मनुस्मृति (१०।१७) के "क्षत्रियात् सूत एव तु" वाक्य के अनुसार क्षत्रिय से ब्राह्मणी में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होने वाला व्यक्ति 'सूत' कहलाता है। यह वस्तुतः निकृष्ट वर्ण संकर जाति थी जिसका काम प्रधानतया रथ चलाना था। इस मत के अनुयायी लोग सूत उपाधिकारी लोमहर्षण को इसी निकृष्ट वर्णसंकर जाति का व्यक्ति मानते हैं। जब वे ही पुराणों के प्रथम व्याख्याता ठहरे, तो यह मानना ही पड़ेगा कि पुराणों के प्रचार में अब्राह्मणों का हाथ है।

परन्तु इस विषय की पर्याप्त समीक्षा से यह मत नितान्त निराधार तथा निर्मूल ठहरता है। नैमिषारण्य में एकत्रित अठासी हज़ार ऋषियों की जिज्ञासा जिन लोमहर्षण ऋषि ने पुराणों के द्वारा पूर्ण की वे 'सूत' अवश्य कहलाते थे। परन्तु वे उच्च कुल के ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण थे। 'सूत' नामकरण का कारण यह था कि वेन के पुत्र महाराज पृथु के यज्ञ में वे अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुए थे। अतः अग्निकुण्ड सूत-होने के कारण वे संक्षेप में 'सूत' नाम से अभिहित किये गये थे। वायुपुराण में इस उत्पत्ति का बड़ा प्रामाणिक वर्णन है[1]। सूत लोमहर्षण के पुत्र भी पुराणेतिहास के महान् व्याख्याता थे। उनका नाम था—सौति उग्रश्रवा और इन्होंने ही महाराज जनमेजय को हरिवंश (जो महाभारत का परिशिष्ट है) सुनाया था। 'सौति' शब्द की व्याकरणलभ्य व्युत्पत्ति है—सूतस्यापत्यं सौतिः द्रौणिवत्। जिस प्रकार द्रोण के पुत्र 'द्रौणि' कहलाते हैं, उसी प्रकार सूत के पुत्र हुए सौति। ध्यान देने की बात है कि यह अपत्य प्रत्यय का योग ही सूचित करता है कि 'सूत' किसी व्यक्ति का नाम है, जाति का नहीं[2]। ब्राह्मण जाति में उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति 'ब्राह्मण' ही कहलाता है, 'ब्राह्मणि' नहीं।[3]

---

१ वैन्यस्य तु पृथोर्यज्ञे वर्तमाने महात्मनः।
सुत्यायामभवत् सूतः प्रथमं वर्णवैकृतम्॥
ऐन्द्रेण हविषा तत्र हविः पृक्तं बृहस्पतेः।
जुहावेन्द्राय दैवेन ततः सूतो व्यजायत॥
—वायु० १।३३।३४

२ सूतः 'अग्निकुण्डसमुद्भूतः सूतो निर्मलमानस' इति पौराणिक प्रसिद्धेः

३ अग्निजो लोमहर्षणः। तस्य पुत्रः सौतिः उग्रश्रवाः, न तु 'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतः' इति स्मृत्युक्तः। तद्धितानर्थक्यापत्तेः। हरिवंश १।४ की टीका।

इस विषय में महाभारत तथा भागवत के मान्य टीकाकारों का ऐकमत्य है। कौटिल्य की सम्मति भी इसी पक्ष में है। संकर जातियों के वर्णन के अवसर पर अर्थशास्त्रकार का कथन है—

वैश्यान्मागध वैदेहकौ (क्षत्रियाब्राह्मण्योः) ।
क्षत्रियात् (ब्राह्मण्यां) सूतः ।
पौराणिकस्तु अन्यः सूतो मागधश्च ।
ब्राह्मणात् क्षत्राद् विशेषः । (३।७।२९—३१)

आशय है कि वैश्य से क्षत्रिया में उत्पन्न प्रतिलोमज वर्णसंकर 'मागध' कहलाता है। ब्राह्मणी में उत्पन्न 'वैदेहक' कहलाता है। क्षत्रिय का ब्राह्मणी में उद्भूत प्रतिलोमज 'सूत' कहलाता है। पौराणिक सूत तथा मागध इनसे भिन्न होते हैं। सूत ब्राह्मण से श्रेष्ठ तथा मागध क्षत्रिय से श्रेष्ठ होता है। स्पष्टतः कौटिल्य की सम्मति में सूत ब्राह्मण से श्रेष्ठ है।[1] वह सूत जाति से सम्बन्ध नहीं रखता। यही कारण था कि सूत के मार डालने से बलरामजी को ब्रह्महत्या लगी जिसके निवारण के लिए उन्होंने भारत के समग्र तीर्थों की यात्रा सम्पन्न की थी[2]।

कहीं कहीं सूतजी 'प्रतिलोमज' कहे गये। यथा भागवत १०।७८।२४ पद्य में तथा बृहन्नारद पुराण में सूतजी ने स्वयं अपने विषय में लिखा है— विलोमजोऽपि धन्योऽस्मि यन्मां पृच्छथ सत्तमाः (२।५)। इन वाक्यों का एक रहस्य है। पृथु के यज्ञ में बृहस्पति द्वारा विहित आहुति इन्द्र की आहुति से अभिभूत हो गई थी। तब लोमहर्षण का जन्म हुआ। बृहस्पति यज्ञीय परिभाषा में ब्राह्मण ठहरे तथा इन्द्र क्षत्रिय ठहरे। इसी कारण उन्हें 'प्रतिलोमज' कहा गया है। वे 'योनिज' तो थे ही नहीं, पर उपचार से इस नाम से अभिहित किये गये हैं।

---

१ भागवत (१०।७८।२१—३२)

तथ्य बात यह है कि लोमहर्षण को व्यास जी ने इतिहास पुराण का अध्ययन कराया था और इनके प्रचार का कार्य उन्हीं को सुपुर्द किया था। वे ज्ञानी महाविद्वान् ब्राह्मण थे। पौराणिक ब्राह्मण ही होता है। इस विषय में प्राचीन सिद्धान्त स्पष्ट हैं। अग्निपुराण का कथन है—

पृषदाज्यात् समुत्पन्नः सूतः पौराणिको द्विजः।
वक्ता वेदादिशास्त्राणां त्रिकालानलधर्मवित्॥

जब 'सूत' जी उच्चकोटि के विद्वान् ब्राह्मण ठहरते हैं, तब अब्राह्मणों के द्वारा पुराणों का प्रचार, क्षत्रियपरम्परा की ब्राह्मण परम्परा से भिन्नता, पुराणों का वेद से विरोध—आदि बातें बालू की भीत के समान भूमिसात् हो जाती हैं।

४—पुराणों की संख्या

पुराण १८ हैं यह तो बात प्रसिद्ध ही है। परन्तु ये पुराण अलग अलग स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। किन्तु एक ही पुराण के १८ प्रकरण हैं। जैसे एक ग्रन्थ में कई अध्याय होते हैं, उसी प्रकार एक ही पुराण के १८ प्रकरण हैं। यही कारण है कि इनका क्रम नियत है। स्वतन्त्र ग्रन्थों में कोई नियत क्रम नहीं रहता। वक्ता की इच्छा से उनके अध्यायों में उलट फेर किया जा सकता है। किन्तु पुराणों में ऐसा नहीं हो सकता। उनका एक निश्चित क्रम है और उस क्रम का उल्लेख सर्वत्र पुराणों में उपलब्ध होता है। इन पुराणों के नाम श्लोकसंख्या के साथ इस प्रकार हैं—

क्रम संख्या	पुराण नाम	श्लोक संख्या
१	ब्रह्म पुराण	१०,०००
२	पद्म ,,	५५,०००

क्रम संख्या	पुराण नाम	श्लोक संख्या
३	विष्णु पुराण	२३,०००
४	शिव ,,	२४,०००
५	श्रीमद्भागवत ,,	१८,०००
६	नारद ,,	२५,०००
७	मार्कण्डेय ,,	९,०००
८	अग्नि ,,	१०,५००
९	भविष्य ,,	१४,५००
१०	ब्रह्म वैवर्त ,,	१८,०००
११	लिङ्ग ,,	११,०००
१२	वराह ,,	२४,०००
१३	स्कन्द ,,	८१,१००
१४	वामन ,,	१०,०००
१५	कूर्म ,,	१७,०००
१६	मत्स्य ,,	१४,०००
१७	गरुड़ ,,	१९,०००
१८	ब्रह्माण्ड ,,	१२,०००

ऊपर निर्दिष्ट यह क्रम तथा श्लोक संख्या भागवत (१२।१३।४-८श्लोक) विष्णु पुराण (तृतीय अंश, अ० ६, श्लोक), नारद पुराण (अ० ९२), एवं सूत संहिता (१।७—११ श्लो०) आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पुराणों का आरम्भ ब्रह्म से और अन्त ब्रह्माण्ड से होता है तथा मध्य में भी ब्रह्मवैवर्त में ब्रह्म की स्मृति करा दी जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि पुराण सृष्टिविद्या का प्रतिपादन करता है जो ब्रह्म से आरम्भ कर ब्रह्माण्ड तक हमारे ज्ञान

को पहुँचा देती है। वह आदि, मध्य और अन्त में ब्रह्म का कीर्तन करती हुई ब्रह्म पर हमारे ध्यान को विचलित नहीं होने देती। इसीलिये यह उक्ति प्रसिद्ध है कि:—

"आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते"

उपपुराण

जिस प्रकार पुराणों की संख्या १८ है उसी प्रकार से उपपुराणों की संख्या २० बीस है। उपपुराणों के नाम, श्लोक संख्या तथा क्रम के विषय में पर्याप्त मतभेद है। अतः यहाँ पर उपपुराणों का नाम तथा क्रम सूतसंहिता (अ० १।१३–१८) के अनुसार दिये जाते हैं:— (१) सनत्कुमार उपपुराण (२) नरसिंह (३) नान्दी (४) शिवधर्म (५) दुर्वासा (६) नारदीय (७) कपिल (८) मानव (९) उषनस् (१०) ब्रह्माण्ड (११) वरुण (१२) कालिका (१३) वसिष्ठ (१४) लिङ्ग (१५) महेश्वर (१६) साम्ब (१७) सौर (१८) पराशर (१९) मारीच (२०) भार्गव।

पौराणिकों में इस विषय को लेकर महान् मतभेद पाया जाता है कि इन पुराणों में कौन पुराण है और कौन उपपुराण? विशेषकर देवीभागवत और श्रीमद्भागवद् एवं शिव पुराण और वायु पुराण को लेकर विद्वानों में बड़ा झगड़ा है। कोई देवी भागवत को पुराण मानता है, तो कोई श्रीमद्भागवद् को। कोई वायु पुराण को पुराण कोटि में रखता है, तो कोई शिव पुराण को। इस विषय की पर्याप्त आलोचना करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नारद आदि पुराणों के द्वारा निर्दिष्ट भागवत पुराण श्रीमद्भागवद् ही है। मत्स्य पुराण के अनुसार भागवत पुराण का लक्षण नीचे लिखा है—

"यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुर–वधोपेतं तद् भागवतमुच्यते ॥"

यह लक्षण श्रीमद्भागवत में ही प्रधानतया घटित होता है। नारद पुराण में दी गई भागवत पुराण की जो विषय-सूची है वह श्रीमद्भागवद् पुराण से मिलती जुलती है। पद्म-पुराण में श्रीमद्भागवद् को सब पुराणों में श्रेष्ठ बतलाया गया है:—

पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम् ।
यत्र प्रतिपदं कृष्णो गीयते बहुदर्शिभिः ॥

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्राचीन सम्प्रदायों के अनुसार भागवत पुराण के उल्लेख का अभिप्राय श्रीमद्भागवत पुराण से ही है।

शिवपुराण तथा वायुपुराण में भी इसी प्रकार मतभेद है। वायु पुराण का वर्णन हमने पुराणों के अन्तर्गत किया है। शिवपुराण उससे भिन्न ग्रन्थ है। शिव पुराण भी एक नहीं दो हैं। एक लक्ष-श्लोकात्मक है जिसमें १२ संहितायें कही जाती हैं जो ये हैं:—

(१) विद्येश्वर संहिता (२) रौद्र सं० (३) विनायक सं० (४) औम सं० (५) मातृ सं० (६) रुद्रैकादश सं० (७) कैलाश (८) शतरुद्र (९) कोटिरुद्र सं० (११) सहस्रकोटि रुद्र (११) वायु प्रोक्त सं० और (१२) धर्म संहिता।

इन संहिताओं का उल्लेख शिवपुराण की वायुसंहिता (अ. १।४१-५२) में किया गया है। परन्तु यह द्वादशसंहितावाला शिवपुराण इस समय उपलब्ध नहीं होता। बम्बई के वेङ्कटेश्वर प्रेस से जो शिवपुराण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल ७ संहितायें और २४,००० श्लोक मिलते हैं। इन संहिताओं के नाम ये हैं:—

(१) विद्येश्वर संहिता (२) रुद्र सं० (३) शतरुद्र सं० (४) कोटिरुद्र सं० (५) उमा सं० (६) कैलाश सं० (७) वायवीय संहिता।

पण्डित ज्वाला-प्रसादजी ने अपने "अष्टादशपुराणदर्पण" (पृष्ठ० १२६—१३५ तक) में शिवपुराण की जो सूची दी है वह इससे भिन्न है। ज्वाला प्रसाद की सूची में (१) ज्ञान संहिता (२) सनत्कुमार सं० (३) धर्म सं० नामक तीन संहिताओं का वर्णन अधिक है। यहाँ शिव सम्बन्धी समग्र सिद्धान्तों का वर्णन है जिनमें बहुत से सिद्धान्त शैवतन्त्रों से लिये गये हैं। योग का वर्णन इस पुराण के अन्तर्गत विस्तृत रूप से है। इन्हीं अध्यायों का सारांश अग्नि-पुराण में भी मिलता है। श्लोक दोनों जगह एक ही हैं। शिव पुराण का वर्णन क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित है। अग्निपुराण का वर्णन उतना सुसंगठित नहीं है। अन्तिम खण्ड के ३९ वें अध्याय में 'शैवयोग' नामक एक विशिष्ट अध्याय है जिसमें योग के द्वारा भगवान् शंकर के विशिष्ट ध्यान का वर्णन है। शिव तत्त्व के जिज्ञासुओं के लिए यह पुराण अमूल्य निधि है। इन समस्त पुराणों[1] की श्लोक संख्या ४ लाख है। पुराणों में उल्लिखित है कि देवलोक में स्थित पुराणों की संख्या शतकोटि (सौ करोड़) थी परन्तु मानवों के अल्पज्ञ तथा अल्पायु होने के कारण व्यासजी ने चार लाख श्लोकों में समस्त पुराणों का संक्षेप में सारांश उपस्थित कर दिया। महाभारत हरिवंश के साथ एक लक्ष श्लोकात्मक है। रामायण में २४ ००० श्लोक हैं। पुराणों की श्लोक-संख्या महाभारत से चारगुनी है। इतिहास और पुराणों की सम्मिलित श्लोक-संख्या (टोटल) ६$\frac{१}{४}$ लाख है। इसके पश्चात् उपपुराणों की श्लोक-संख्या जोड़ लेने पर यह संख्या एक लाख (७$\frac{१}{४}$ लाख) और आगे बढ़ जाती है। इस प्रकार इतना बड़ा धार्मिक साहित्य संसार की किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है। धन्य हैं ऋषि लोग

१ इन पुराणों के विस्तृत विवरण के लिये देखिये
पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र— अष्टादश पुराण दर्पण।

जिन्होंने वैदिक धर्म के रहस्यों को, आचार तथा विचारों को, नियम तथा व्यवहारों को, जनसाधारण तक पहुँचाने के लिये इतना विराट् साहित्य रचकर हमारा परम कल्याण तथा मंगल सम्पन्न किया है।

पुराणों का परिचय

ब्रह्मपुराण

(१) ब्रह्मपुराण—यह पुराण 'आदि ब्राह्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके अध्यायों की संख्या २४५ है और श्लोकों की संख्या १४,००० के आसपास है। पुराण-सम्मत समस्त विषयों का वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। सृष्टि कथन के अनन्तर सूर्यवंश तथा सोमवंश का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण है। पार्वती आख्यान बड़े विस्तार से १० अध्यायों में—(३४ अध्याय से ४० तक)—दिया गया है। मार्कण्डेय के आख्यान (अध्याय ५२) के अनन्तर गौतमी, गंगा, कृत्तिका तीर्थ, चक्रतीर्थ, पुत्रतीर्थ, यम तीर्थ, आपस्तम्ब तीर्थ आदि अनेक प्राचीन तीर्थों के माहात्म्य गौतमी माहात्म्य के अन्तर्गत (अ० ७०—१७५) दिये गये हैं। भगवान् कृष्ण के चरित्र का भी वर्णन ३२ अध्यायों (अध्याय १८० से २१२ तक) में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। कथानक वही है जिसका वर्णन भागवत के दशम स्कन्ध में है। मरण के अनन्तर होनेवाली अवस्था का वर्णन अनेक अध्यायों में किया गया है। इस पुराण में भूगोल का विशेष वर्णन नहीं है। परन्तु उड़ीसा में स्थित कोणादित्य (कोणार्क) नामक तीर्थ तथा तत्संबद्ध सूर्य-पूजा का वर्णन इस पुराण की विशेषता प्रतीत होता है। सूर्य की महिमा तथा उनके व्यापक प्रभुत्व का निर्देश छ अध्यायों में है (अ० २८—३३)।

इस पुराण में सांख्य योग की समीक्षा भी बड़े विस्तार के साथ दस

अध्यायों (अ० २३४—४४) में की गई है। कराल जनक के प्रश्न करने पर महर्षि वसिष्ठ ने सांख्य के महनीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। ध्यान देने की बात है कि इन पुराणों में वर्णित सांख्य अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में अवान्तर कालीन सांख्य से भेद रखता है। पिछले सांख्य में तत्त्वों की संख्या केवल २५ ही है। परन्तु यहाँ मूर्धस्थानीय २६ वें तत्त्व का भी वर्णन है। पौराणिक सांख्य निरीश्वर नहीं है तथा उसमें ज्ञान के साथ भक्ति का भी विशेष पुट मिला हुआ है। इस ग्रन्थ में एक और भी विशेषता है। इसके कतिपय अध्याय महाभारत के १२ वें पर्व (शान्ति पर्व) के कतिपय अध्यायों से अक्षरशः मिलते हैं। धर्म ही परम पुरुषार्थ है; इस तत्त्व का प्रतिपादन इस पुराण के अन्त में कितनी सुन्दर भाषा में किया गया है:—

धर्मे मतिर्भवतु वः पुरुषोत्तमानां,
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्था स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना,
नैव प्रभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥
(ब्र० पु० २४५।३६)

पद्मपुराण

(२) *पद्म पुराण*—यह पुराण परिमाण में स्कन्द पुराण को छोड़ कर अद्वितीय है। इसकी श्लोकों की संख्या ५०,००० बतलाई जाती है। इस प्रकार से इसे महाभारत का आधा और भागवत पुराण से तिगुना परिमाण में समझना चाहिये। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं (१) बंगाली संस्करण और (२) देवनागरी संस्करण। बंगाली संस्करण तो अभी तक अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों में पड़ा है। देवनागरी संस्करण

आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में चार भागों में प्रकाशित हुआ है। आनन्दाश्रम संस्करण में छः खण्ड हैं:—(१) आदि (२) भूमि (३) ब्रह्म (४) पाताल (५) सृष्टि और (६) उत्तर खण्ड। परन्तु भूमिखण्ड (अध्याय १२५—४८।४९) से ही पता चलता है कि छः खण्डों की कल्पना पीछे की है। मूल में पाँच ही खण्ड थे जो बंगाली संस्करण में आज भी उपलब्ध होते हैं।

प्रथमं सृष्टिखण्डं हि, भूमिखण्डं द्वितीयकम्।
तृतीयं स्वर्गखण्डं च, पातालञ्च चतुर्थकम्॥
पञ्चमं चोत्तरं खण्डं, सर्वपापप्रणाशनम्।

अब इन्हीं मूलभूत पाँच खण्डों का वर्णन क्रमशः किया जा रहा है।

(१) सृष्टि खण्ड—इसमें ८२ अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय (श्लोक ५५–६०) से पता चलता है कि इसमें ५५,००० श्लोक थे तथा यह पुराण पाँच पर्वों में विभक्त था—(१) पौष्कर पर्व—जिसमें देवता, मुनि, पितर तथा मनुष्यों की ९ प्रकार की सृष्टि का वर्णन है। (२) तीर्थपर्व—जिसमें पर्वत, द्वीप तथा सप्त सागर का वर्णन है। (३) तृतीय पर्व—जिसमें अधिक दक्षिणा देनेवाले राजाओं का वर्णन है। (४) राजाओं का वंशानुकीर्तन है। (५) मोक्ष पर्व में मोक्ष तथा उसके साधन का वर्णन किया गया है। इस खण्ड में समुद्र मंथन, पृथु की उत्पत्ति पुष्कर तीर्थ के निवासियों का धर्मकथन, वृत्रासुर संग्राम, वामनावतार, मार्कण्डेय की उत्पत्ति, कार्तिकेय की उत्पत्ति, रामचरित, तारकासुरवध आदि कथाएँ विस्तार के साथ दी गई हैं।

(२) भूमिखण्ड—इस खण्ड के आरम्भमें शिवशर्मा नामक ब्राह्मण की पितृभक्ति के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति का वर्णन है। राजा पृथु के जन्म

और चरित्र का वर्णन है। किसी छद्मवेश धारी पुरुष के द्वारा जैनधर्म का वर्णन सुनकर बेन उन्मार्गगामी बन जाता है। तब सप्तर्षियों के द्वारा उसकी भुजाओं का मन्थन होता है जिससे पृथु की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार के नैमित्तिक तथा आभ्युदयिक दानों के अनन्तर सती सुकला की पातिव्रत सूचक कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है। ययाति और मातलि के अध्यात्म–विषयक सम्वाद, में पाप और पुण्य के फलों का वर्णन और विष्णुभक्ति की प्रशंसा की गई है। महर्षि च्यवन की कथा भी बड़े विस्तार के साथ दी गई है। यह पद्मपुराण विष्णु-भक्ति का प्रधान ग्रन्थ है। परन्तु इसमें अन्य देवताओं के प्रति अनुदार भावों का प्रदर्शन कहीं भी नहीं किया गया है। शिव और विष्णु की एकता के प्रतिपादक ये श्लोक कितने महत्त्वपूर्ण हैं:—

शैवं च वैष्णवं लोकमेकरूपं नरोत्तम।
द्वयोश्चाप्यन्तरं नास्ति एकरूपं महात्मनोः॥
शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे।
शिवस्य हृदये विष्णुः विष्णोश्च हृदये शिवः॥
एकमूर्तिस्त्रयो देवाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
त्रयाणामन्तरं नास्ति, गुणभेदाः प्रकीर्तिताः॥

(३) *स्वर्ग खण्ड*—इस खण्ड में देवता, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष आदि के लोकों का विस्तृत वर्णन है। इसी खण्ड में शकुन्तलोपाख्यान है जो महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से सर्वथा भिन्न है परन्तु कालिदास के 'अभिज्ञान-शकुन्तल' से बिल्कुल मिलता जुलता है। इससे ज्ञात होता है कि कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध नाटक की कथावस्तु महाभारत

से न लेकर इसी पुराण से ली है। 'विक्रमोर्वशी' के सम्बन्ध में भी यही बात है।

(४) पाताल खण्ड—इसमें नागलोक का विशेष रूप से वर्णन है। प्रसंगतः रावण के उल्लेख होने से पूरे रामायण की कथा इसमें कही गई है। इसमें विशेष बात यह है कि कालिदास के द्वारा 'रघुवंश' में वर्णित राम की कथा से यह कथा मिलती जुलती है। रावण के वध के अनन्तर सीता-परित्याग तथा रामाश्वमेध की कथा भी इसमें सम्मिलित है। यह कथा भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में वर्णित रामचरित से बहुत कुछ मिलती है। इस पुराण में व्यास जी के द्वारा १८ पुराणों के रचे जाने की बात उल्लिखित है जिसमें भागवत पुराण की विशेष रूप से महिमा गाई गई है।

(५) उत्तर खण्ड—इस पाँचवें खण्ड में विविध प्रकार के आख्यानों का संग्रह है। इसमें विष्णुभक्ति की विशेष रूप से प्रशंसा की गई है। 'क्रियायोगसार' नामक इसका एक परिशिष्ट अंश भी है जिसमें यह दिखलाया गया है कि विष्णु भगवान् व्रतों तथा तीर्थों के सेवन से विशेष रूप से प्रसन्न होते हैं।

पद्मपुराण विष्णुभक्ति का प्रतिपादक सबसे बड़ा पुराण है। भगवान् का नामकीर्तन किस प्रकार सुचारु रूप से किया जा सकता है? कितने नामापराध हैं? आदि प्रश्नों का उत्तर इस पुराण में बड़ी प्रामाणिकता से दिया गया है। इसीलिये अवान्तर-कालीन वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों ने इसका महत्त्व बहुत अधिक माना है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह बहुत सुन्दर है। पुराणों में तो अनुष्टुप् का ही साम्राज्य रहता है परन्तु इस पुराण में अनुष्टुप् के अतिरिक्त अन्य बड़े छन्दों का भी समावेश है। भगवान् की स्तुति के ये दोनों पद्य कितने सुन्दर हैं:—

संसारसागरमतीव गभीरपारं,
दुःखोर्मिभिः विविध-मोहमयैस्तरङ्गैः ।
सम्पूर्णमस्ति निजदोषगुणैस्तु प्राप्तं,
तस्मात् समुद्धर जनार्दन मां सुदीनम् ॥
कर्माम्बुदे महति गर्जति वर्षतीव,
विद्युल्लतोल्लसति पातकसंचयैर्मे ।
मोहान्धकारपटलैर्मयि नष्टदृष्टेः,
दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम् ॥

विष्णुपुराण

(३) *विष्णु पुराण*—दार्शनिक महत्त्व की दृष्टि से यदि भागवत पुराण पुराणों की श्रेणी में प्रथम स्थान रखता है, तो विष्णुपुराण निश्चय ही द्वितीय स्थान का अधिकारी है । यह वैष्णव दर्शन का मूल आलम्बन है । इसीलिये आचार्य रामानुज ने अपने 'श्रीभाष्य' में इसका प्रमाण तथा उद्धरण बहुलता से दिया है । परिमाण में यह न्यून होते हुए भी महत्त्व में अधिक है । इसके खण्डों को 'अंश' कहते हैं । इसके अंशों की संख्या ६ है तथा अध्यायों की संख्या १२६ है । इस प्रकार परिमाण में यह भागवत पुराण का तृतीयांश-मात्र है । प्रथम अंश में सृष्टि वर्णन के अनन्तर ध्रुव चरित और प्रह्लाद चरित का विस्तृत वर्णन है (अ० ११–२०) । द्वितीय अंश (खण्ड) में भूगोल का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन है । तृतीय अंश में आश्रम सम्बन्धी कर्तव्यों का विशेष निर्देश है । इसके तीन अध्यायों में (अ० ४–६) वेद की शाखाओं का विशिष्ट वर्णन है जो वेदाभ्यासियों के लिये बड़े काम की वस्तु है । चतुर्थ अंश विशेषतः ऐतिहासिक है जिसमें सोमवंश के अन्तर्गत ययाति का चरित वर्णित है ।

यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पुरु,—इन पाँच प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में वर्णन मिलता है। पञ्चम अंश के ३८ अध्याय में भगवान् कृष्ण का अलौकिक चरित वैष्णव भक्तों का आलम्बन है। इस खण्ड में दशम स्कन्ध के समान कृष्ण-चरित पूर्णतया वर्णित है परन्तु इसका विस्तार कम है। षष्ठ अंश केवल आठ अध्यायों का है जिसमें प्रलय तथा भक्ति का विशेषरूप से विवेचन किया गया है।

साहित्यिक दृष्टि से यह पुराण बड़ा ही रमणीय, सरस तथा सुन्दर है। इसके चतुर्थ अंश में प्राचीन सुष्ठु गद्य की झलक देखने को मिलती है। ज्ञान के साथ भक्ति का सामञ्जस्य इस पुराण में बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया है। विष्णु की प्रधान रूप से उपासना होने पर भी इस पुराण में साम्प्रदायिक संकीर्णता का लेश भी नहीं है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं महादेव (शिव) के साथ अपनी अभिन्नता प्रकट करते हुए अपने श्रीमुख से कहा है:—

योऽहं स त्वं जगच्चेदं, सदेवासुरमानुषम्।
मत्तो नान्यदशेषं यत्, तत्त्वं ज्ञातुमिहार्हसि ॥
अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः।
वदन्ति भेदं पश्यन्ति, चावयोरन्तरं हर ॥ (५।३३।४८–९)

सुन्दर भाषण के लाभ का यह कितना अच्छा वर्णन है:—

हितं, मितं, प्रियं काले, वश्यात्मा योऽभिभाषते।
स याति लोकानाह्लादहेतुभूतान् नृपाक्षयान् ॥

वायुपुराण

(४) *वायुपुराण*—इसी पुराण का दूसरा नाम शिव पुराण है। यह पुराण अत्यन्त प्राचीन है। बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी में इसका

उल्लेख 'पुराणे वायुप्रलपितम्' लिखकर किया है। अतः इससे जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ की रचना बाणभट्ट से बहुत पहले हो चुकी थी। यह पुराण परिमाण में अन्य पुराणों से अपेक्षाकृत न्यून है। इसके अध्यायों की संख्या केवल ११२ है तथा श्लोकों की ११,००० के लगभग है। इस पुराण में चार खण्ड है जो 'पाद' कहलाते हैं— १) प्रक्रिया पाद (२) अनुषङ्ग पाद (३) उपोद्घात पाद (४) उपसंहार पाद। इसके आरम्भ में सृष्टि प्रकरण बड़े विस्तार के साथ कई अध्यायों में दिया गया है। तदन्तर चतुराश्रम विभाग प्रदर्शित किया गया है। यह पुराण भौगोलिक वर्णनों के लिये विशेषरूप से पठनीय है। जम्बू द्वीप का वर्णन विशेषरूप से है ही, परन्तु अन्य द्वीपों का भी वर्णन बड़ी सुन्दरता से यहाँ किया गया है (अ० ३४—३९ । खगोल का वर्णन भी इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है (अ० ५०–५३)। अनेक अध्यायों में युग, यज्ञ, ऋषि, तीर्थ का वर्णन समुपलब्ध है। अध्याय ६० में चारों वेद की शाखाओं का वर्णन किया गया है जो साहित्यिक दृष्टि से विशेष अनुशीलन करने योग्य है। प्रजापति-वंश वर्णन (अ० ६१—६५) कश्यपीय प्रजासर्ग (अ० ६६-६९) तथा ऋषिवंश (अ० ७०) प्राचीन ब्राह्मण वंशों के इतिहास को जानने के लिये बड़े ही उपयोगी हैं। श्राद्ध का भी वर्णन अनेक अध्यायों में है। अध्याय ८६ और ८७ में संगीत का विशद वर्णन उपलब्ध है। ९९ वाँ अध्याय प्राचीन राजाओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है।

इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता शिव के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। परन्तु यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से दूषित नहीं है। विष्णु का भी वर्णन इसमें अनेक अध्यायों में मिलता है। विष्णु का महत्त्व तथा उनके अवतारों का वर्णन कई अध्यायों में यहाँ उपलब्ध है। पशुपति की

पूजा से संबद्ध 'पाशुपत योग' का निरूपण इस पुराण की महती विशेषता है। पाशुयत योग का वर्णन अन्य पुराणों में नहीं मिलता। परन्तु इस पुराण में उसकी पूरी प्रक्रिया बड़े विस्तार के साथ (अ० ११—१५) दी गई है। यह अंश प्राचीन योग शास्त्र के स्वरूप को जानने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। अध्याय २४ में वर्णित 'शार्वस्तव' साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अध्याय ३० में दक्ष प्रजापति ने जो शिव की स्तुति की है वह भी बड़ी सुन्दर है। ये स्तुतियाँ वैदिक 'रुद्राध्याय' के पौराणिक रूप हैं—

नमः पुराण-प्रभवे, युगस्य प्रभवे नमः।
चतुर्विधस्य सर्गस्य, प्रभवेऽनन्त-चक्षुषे ॥
विद्यानां प्रभवे चैव, विद्यानां पतये नमः।
नमो व्रतानां पतये, मन्त्राणां पतये नमः ॥

श्रीमद्भागवत

(५) *श्रीमद्भागवत*—संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्ति-शास्त्र का तो वह सर्वस्व है। यह निगम-कल्पतरु का स्वयं गलित अमृतमय फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधि-भाषा' कहते हैं अर्थात् भागवत के तत्त्वों का वर्णन व्यास ने समाधि-दशा में अनुभूत कर के किया था। भागवत का प्रभाव वल्लभसम्प्रदाय और चैतन्यसम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है। इन सम्प्रदायों ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण अपनी २ पद्धति से किया है। इन ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ कृत 'भागवततात्पर्यनिर्णय' से जीव गोस्वामी का 'षट्सन्दर्भ' व्यापकता तथा विशदता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भागवत

के गूढ़ार्थ को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक वैष्णवसम्प्रदाय ने इस पर स्वमतानुकूल व्याख्या लिखी है, जिनमें कुछ टीकाओं के नाम यहाँ दिये जाते हैं–रामानुज मत में सुदर्शनसूरि की 'शुकपक्षीय' तथा वीरराघवाचार्य की 'भागवतचन्द्रचन्द्रिका'; माध्वमत में विजयध्वज की 'पदरत्नावली'; निम्बार्कमत में शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्तप्रदीप', वल्लभमत में स्वयं आचार्य वल्लभ की 'सुबोधिनी' तथा गिरिधराचार्य की आध्यात्मिक टीका; चैतन्यमत में श्रीसनातन की 'बृहद्वैष्णवोषिणी' (दशमस्कन्ध पर), जीवगोस्वामी का 'क्रमसन्दर्भ', विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी'। सब से अधिक लोकप्रिय श्रीधरस्वामी की श्रीधरी है। श्री हरि नामक भक्तवर का 'हरिभक्तिरसायन' पूर्वार्ध दशम का श्लोकात्मक व्याख्यान है। इन सम्प्रदायों की मौलिक आध्यात्मिक कल्पनाओं का आधार यही अष्टादश सहस्रश्लोकात्मक भगवद्विग्रहरूप भागवत है।

श्रीमद्भागवत अद्वैततत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है श्रीभगवान् ने अपने तत्त्व के विषय में ब्रह्मा जी को इस प्रकार उपदेश दिया है:—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥ भाग० २।९।३२

'सृष्टि के पूर्व मैं ही था—मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा।' इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत् सब वही हैं। अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन

परमात्मा, और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं[1]। वही जब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अवच्छिन्न न होकर अव्यक्त, निराकाररूप से रहते हैं, तब 'निर्गुण' कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर 'सगुण' कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर 'सगुण' कहलाते हैं। "परमार्थभूत[2] ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर-भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दों के द्वारा अभिहित होता है। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुणरूप धारण करता है। शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'विष्णु' कहते हैं, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'ब्रह्मा' तमोमिश्र सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'रुद्र' और तुल्यबल रज-तम से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'पुरुष' कहते हैं। जगत् के स्थिति, सृष्टि तथा संहार व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं; 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारों ब्रह्म के ही सगुणरूप हैं। अतः भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है।

पर-ब्रह्म ही जगत् के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न भिन्न अवतार धारण करते हैं। आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य (भाग० २।६।४१)। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, मायासम्बन्ध रहित हुए भी माया से युक्त रहता

---

१ वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ भाग० १। २। ११.

२ ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥
—भाग० ५। १२। ११.

है, सर्वदा चित्-शक्ति से समन्वित रहता है, उसे 'पुरुष' कहते हैं। इस पुरुष से ही भिन्न भिन्न अवतारों का उदय होता हैः—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः॥ भाग० १ ।४।३

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र पर-ब्रह्म के गुणावतार है। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् हैं (भाग० ३।२४।३१)। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न भिन्न रूप धारण अरते हैं (भाग० ३।९।११)। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बतलाता है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥ २।९।३४.

वास्तव वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्रमण्डल में नहीं दीख पड़ता) वही 'माया' है। भगवान् अचिन्त्यशक्तिसमन्वित हैं। वह एक समय में भी एक होकर भी अनेक है। नारदजी ने द्वारिकापुरी में एक समय में ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियों के महलों में विद्यमान भिन्न भिन्न कार्यों में संलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधनमार्ग—इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भी भक्तितत्त्व

का निरूपण है। वेदार्थोपबृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होनेवाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान-वैराग्य-पुत्रों में प्राण का ही संचार नहीं हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गये। अतः भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥ ११।१४।२०.

परमभक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान, तप आदि से प्रसन्न नहीं होते। वे तो निर्मलभक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधन उपहासमात्र हैं—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥ ७।७।५१.५२,

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्तिप्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते हैं, अतः परम्परया साधक हैं, साक्षाद्रूपेण नहीं। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है (भाग० ११।२०।९)। कर्मफलों को भी भगवान् को समर्पण कर देना ही उनके 'विषदन्त' को तोड़ना है (भाग० १।५।१२)। श्रेय की मूलस्रोतरूपिणी भक्तिको छोड़कर केवल-बोध की प्राप्ति के लिए उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल

तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटने वालों का यत्न[1] (१०।१४।४)। अतः भक्ति की उपादेयता मुक्तिविषय में सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—'साधनरूपा भक्ति' तथा 'साध्यरूपा भक्ति'। साधनभक्ति नव प्रकार की होती है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। भागवत में सत्सङ्गति की महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है जिसके सामने अनन्य भगवत्पदाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविधविलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता। भगवान के साथ नित्य वृन्दावन में ललित विहार की कामना करने वाले भगवच्चरणचञ्चरीक भक्त शुष्क नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते हैं:—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्॥
भाग० ११।१०।१४.

भक्त का हृदय भगवान के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है, जिस प्रकार पक्षियों के पंखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल

---

१ श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

भक्ति की ज्ञान से श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेवाला यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वशाली है, क्योंकि आचार्य शङ्कर के दादा गुरु श्रीगौड़पादाचार्य ने 'उत्तरगीता' की अपनी टीका में 'तदुक्तं भागवते' कहकर इस श्लोक को उद्धृत किया है। अतः भागवत का समय गौड़पाद (सप्तम शतक) से कहीं अधिक प्राचीन है। त्रयोदशशतक में उत्पन्न बोपदेव को भागवत का कर्ता मानना एक भयङ्कर ऐतिहासिक भूल है।

बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है—

> अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
> प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
> भाग० ६।११।२६.

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि व्रज की गोपिकायें थीं जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यास जी ने रासपञ्चाध्यायी में किया है । इस प्रकार भक्तिशास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है । भागवत से श्लोकों में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य भरा है । अतः भाव तथा भाषा उभयदृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में अनुपम है । 'सर्ववेदान्तसार' भागवत (१२।१३।१८) का कथन यथार्थ है:—

> श्रीमद् भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
> यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
> तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
> तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥

नारद पुराण

(६) *बृहद् नारदीय पुराण*—नारद पुराण नामक एक उपपुराण भी मिलता है । अतः उससे इसे पृथक् करने के लिये इसे बृहद् नारदीय पुराण नाम दिया गया है । इस ग्रन्थ में दो भाग हैं । पूर्वभाग में अध्यायों की संख्या १२५ है और उत्तरभाग में ८२ है । सम्पूर्ण श्लोकों की संख्या २५,००० है । डाक्टर विलसन ने इस पुराण का रचना काल

१६ वीं शताब्दी बतलाते हैं तथा इसे विष्णुभक्ति का प्रतिपादक एक सामान्य ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु ये दोनों बातें सर्वथा निराधार हैं। १२ वीं शताब्दी में बल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' नामक ग्रन्थ में इस पुराण के श्लोकों को उद्धृत किया है। अलबेरुनी (११वीं शताब्दी) ने भी अपने यात्राविवरण में इस पुराण का उल्लेख किया है। अतः यह पुराण निश्चय ही इन दोनों ग्रन्थकारों के काल से प्राचीन है। इस ग्रन्थ के पूर्वभाग में वर्ण और आश्रम के आचार (अ० २४।२५) श्राद्ध (अ० २८) प्रायश्चित्त आदि का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द आदि शास्त्रों का अलग अलग एक एक अध्याय में विषयों का विवेचन है। अनेक अध्यायों में विष्णु, राम, हनुमान, कृष्ण, काली, महेश के मन्त्रों का विधिवत् निरूपण किया गया है। विष्णुभक्ति को ही मुक्ति का परम साधन सिद्ध किया गया है। इसी प्रसंग को लेकर उत्तरभाग में (अ० ७–३७ तक) विख्यात विष्णुभक्त राजा रुक्माङ्गद का चारु चरित्र वर्णित किया गया है।

यह पुराण ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अठारहों पुराणों के विषयों की विस्तृत अनुक्रमणी यहाँ दी गई है (अ० ९२–१०९ पूर्वभाग)। यह अनुक्रमणी सभी पुराणों के विषयों को जानने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसकी सहायता से हम वर्तमान पुराणों के मूल-रूप तथा प्रक्षिप्त अंश की छान-बीन बड़ी सुगमता के साथ कर सकते हैं। विष्णुभक्ति को इसमें प्रधानता होने पर भी यह पुराण पुराणों के पञ्च लक्षणों से रहित नहीं है।

मार्कण्डेय पुराण

(७) *मार्कण्डेय पुराण*—इस पुराण का नामकरण मार्कण्डेयऋषि द्वारा कथन किये जाने से हुआ है। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र भाष्य १।२।२३ में तथा ३।३।१६ में इस पुराण के दो श्लोकों का उद्धरण दिया है। इससे स्पष्ट है कि शंकराचार्य (८वीं सदी) के समय से भी यह पुराण अधिक प्राचीन है। परिमाण में यह पुराण छोटा है। इसके अध्यायों की संख्या १३८ है और श्लोकों की संख्या ९,००० है। इस पूरे पुराण का अंग्रेजी में अनुवाद पार्जिटर साहब ने किया है (विब्लोथिका इण्डिका सीरीज कलकत्ता; १८८८ से १९०५ ई०) तथा इसके आरम्भिक कतिपय अध्यायों का अनुवाद जर्मन भाषा में भी हुआ है जिसमें मरणोत्तर जीवन की कथा कही गई है। इन पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में यह पुराण बहुत प्राचीन, बहुत लोकप्रिय तथा नितान्त उपादेय है। हमारी दृष्टि में भी यह सम्मति ठीक ही जान पड़ती है। प्राचीनकाल की प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी महिषी मदालसा का पवित्र जीवन चरित्र इस ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को शैशव से ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया जिससे उसने राजा होने पर भी ज्ञानयोग के साथ कर्मयोग का अपूर्व सामञ्जस्य कर दिखाया। इसी ग्रन्थ का 'दुर्गा सप्तशती' एक विशिष्ट अंश है। इसमें देवी भक्तों के लिये सर्वस्वरूप दुर्गा का पवित्र चरित बड़े विस्तार के साथ दिया गया है।

अग्निपुराण

(८) *अग्निपुराण*—इस पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोष कहें तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। पुराणों का उद्देश्य जन साधारण में ज्ञातव्य विद्याओं का प्रचार करना भी था, इसका पूरा परिचय हमें इस पुराण के अनुशीलन से मिलता है। इस पुराण के

३८३ अध्यायों में नाना प्रकार के विषयों का सन्निवेश कम आश्चर्य का विषय नहीं है। अवतार की कथाओं का संक्षेप में वर्णन कर रामायण और महाभारत की कथा पर्याप्त विस्तार के साथ दी गई है। मन्दिर निर्माण की कला के साथ प्रतिष्ठा तथा पूजन के विधान का विवेचन संक्षेप में सुचारु रूप से किया गया है। ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद, आदि शास्त्रों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ मिलता है। छन्द-शास्त्र का निरूपण आठ अध्यायों में किया गया मिलता है। अलंकार शास्त्र का विवेचन बड़े ही मार्मिक ढंग से किया गया है। व्याकरण की भी छान-बीन कितने ही अध्यायों में की गई है। कोष के विषय में भी कई अध्याय लिखे गये हैं जिनके अनुशीलन से पाठकों को शब्द-ज्ञान की विशेष वृद्धि हो सकती है। योगशास्त्र के यम, नियम आदि आठों अंगों का वर्णन संक्षेप में बड़ा ही सुन्दर है। अन्त में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का सार-संकलन है। एक अध्याय में गीता का भी सारांश एकत्रित किया गया है। इस प्रकार इस पुराण के अनुशीलन से समस्त ज्ञान–विज्ञान का परिचय मिलता है। इसीलिये इस पुराण का यह दावा सर्वथा सच्चा ही प्रतीत होता है कि—

आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन्,
सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः। (अ० ३८३।५२)

भविष्य पुराण

(६) *भविष्य पुराण*—इस पुराण के विषय में सबसे अधिक गड़बड़ी दिखाई पड़ती है। इसके नामकरण का कारण यह है कि इसमें भविष्य में होनेवाली घटनाओं का वर्णन किया गया है। इसका दुःपरिणाम यह हुआ कि समय समय पर होनेवाले विद्वानों ने इसमें अपने समय में होने वाली घटनाओं को भी जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। और तो क्या इसमें

'इंग्रेज' नाम से उल्लिखित अंग्रेजो के आने का भी वर्णन मिलता है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र को इस पुराण की विभिन्न चार हस्त लिखित प्रतियाँ मिली थीं जो आपस में विषय की दृष्टि से नितान्त भिन्न थी। उनका कहना है कि आजकल जो वविष्य पुराण उपलब्ध होता है उसमें इन उपर्युक्त चारों प्रतियों का मिश्रण है। यही इस पुराण की गड़बड़ी का कारण है। नारदपुराण के अनुसार इसके पाँच पर्व हैं:—(१) ब्राह्म पर्व (२) विष्णु पर्व (३) शिव पर्व (४) सूर्य पर्व (५) प्रतिसर्ग पर्व। इसके श्लोकों की संख्या १४,००० है। इस पुराण में सूर्यपूजा का विशेष रूप से वर्णन है। कृष्ण के पुत्र शाम्ब को कुष्ठ रोग हो गया था जिसकी चिकित्सा करने के लिये गरुड़ शकद्वीप से ब्राह्मणों को लिवा लाये जिन्होंने सूर्य भगवान् की उपासना से शाम्ब को रोगमुक्त कर दिया। इन्हीं ब्राह्मणों को शाकद्वीपी, मग या भोजक ब्राह्मण कहते हैं। सूर्य उपासना के रहस्य तथा कलि में उत्पन्न विभिन्न ऐतिहासिक राजवंशों के इतिहास जानने के लिये यह पुराण नितान्त उपादेय है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण

(१०) ब्रह्मवैवर्त पुराण—इस पुराण के श्लोकों की संख्या १५०० के लगभग है इस प्रकार पुराण भागवत की अपेक्षा परिमाण में कुछ छोटा है। इस पुराण में चार खण्ड है—(१) ब्रह्म खण्ड (२) प्रकृति खण्ड (३) गणेश खण्ड (४) कृष्णजन्म खण्ड। इसमें कृष्णजन्म खण्ड आधे से भी अधिक है। इस खण्ड में १३२ अध्याय हैं। कृष्ण चरित्र का विस्तृत रूप से वर्णन करना इस पुराण का प्रधान लक्ष्य है। राधा कृष्ण की शक्ति हैं और इस राधा का वर्णन बड़े साङ्गोपाङ्ग रूप से यहाँ दिया गया है। इस राधा-प्रसङ्ग के कारण अनेक ऐतिहासिक इस पुराण को बहुत ही पीछे का बतलाते हैं। परन्तु राधा की कल्पना बड़ी प्राचीन है। महाकवि

भास ने अपने 'बालचरित' नाटक में कृष्णकी बाल-लीला तथा राधा का वर्णन विस्तार के साथ किया है। भास का काल तृतीय शतक है। अतः इस पुराण की रचना तृतीय शतक से पहिले हो चुकी होगी। सच पूछिए तो भागवत के दशम स्कन्ध के अनन्तर श्रीकृष्ण की लीला का इतना अधिक विस्तार और कहीं नहीं मिलता।

(१) ब्रह्म खण्ड—में केवल तीस (३०) अध्याय हैं जिसमें कृष्ण के द्वारा जगत् की सृष्टि का वर्णन है। इसका १६ वाँ अध्याय आयुर्वेद शास्त्र के विषय का वर्णन करता है। *(२) प्रकृति खण्ड* में प्रकृति का वर्णन है जो भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती सावित्री तथा राधा के रूप में अपने को समय समय पर परिणत किया करती है। इस खण्ड में सावित्री तथा तुलसी की कथा बड़े विस्तार के साथ उपलब्ध होती है। *(३) गणेश खण्ड* में गणपति के जन्म, कर्म तथा चरित का वर्णन है। गणेश कृष्ण के अवतार के रूप में दिखलाये गये हैं। इस पुराण के नामकरण का कारण स्वयं इसी पुराण में इस प्रकार दिया हुआ है कि कृष्ण के द्वारा ब्रह्म के विवृत (प्रकाशित) किये जाने के कारण इसका नाम 'ब्रह्म वैवर्त' पड़ा।

विवृतं ब्रह्म कात्स्र्न्येन, कृष्णेन यत्र च शौनक।
ब्रह्म वैवर्तकं तेन, प्रवदन्ति पुराविदः ॥ ब्र० पु० १।१।१०

दक्षिण भारत में यह पुराण ब्रह्म कैवर्त के नाम से प्रसिद्ध है। इस नामकरण का कारण स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता। नारद पुराण में जो इस पुराण की अनुक्रमणी उपलब्ध होती है, उससे वर्तमान पुराण से पूरा सामञ्जस्य है। कृष्णपरक होने के कारण से कृष्णभक्त वैष्णवों में इस पुराण की बड़ी मान्यता है। विशेषतः गौड़ीय वैष्णवों में इस पुराण का बड़ा आदर है।

लिंग पुराण

(११) लिङ्ग पुराण—इसमें भगवान् शंकर की लिङ्गरूप से उपासना विशेष रूप से दिखलाई गई है। शिवपुराण का कहना है कि—

"लिङ्गस्य चरितोक्तत्वात् पुराणं लिङ्गमुच्यते"

यह पुराण अपेक्षाकृत छोटा है क्योंकि इसमें अध्यायों की संख्या १६३ और श्लोकों की संख्या ११००० है। इसमें दो भाग है (१) पूर्व भाग (२) उत्तर भाग। यहाँ लिङ्गोपासना की उत्पत्ति दिखलाई गई है। सृष्टि का वर्णन भगवान् शंकर के द्वारा बतलाया गया है। शंकर के २८ अवतारों का वर्णन भी हमें यहाँ उपलब्ध होता है। शिवपरक होने के कारण से शैव व्रतों का, और शैव तीर्थों का यहाँ अधिक वर्णन होना स्वाभाविक ही है। उत्तर भाग में पशु, पाश तथा पशुपति की जो व्याख्या की गई है (अ० ९), वह शैव तन्त्रों के अनुकूल है। यह पुराण शिवतत्त्व की मीमांसा के लिये बड़ा ही उपादेय तथा प्रामाणिक है।

वराह पुराण

(१२) वराह पुराण—विष्णु ने वराह रूप धारण कर पृथ्वी का पाताल लोक से उद्धार किया था। इस कथा से मुख्यतः संबंध रखने के कारण इस पुराण का नाम वराह पुराण पड़ा है। हेमाद्रि ने (१३ वीं शताब्दी) अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में इस पुराण में वर्णित बुद्ध द्वादशी का उल्लेख किया है तथा गौड़ नरेश बल्लालसेन ने (१२ वीं शताब्दी) 'दानसागर' नामक ग्रन्थ में इस पुराण से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। अतः यह पुराण १२ वीं शताब्दी से प्राचीन अवश्य है। इस पुराण के दो पाठ-भेद उपलब्ध होते हैं (१) गौड़ीय (२) दाक्षिणात्य। इनमें अध्यायों की संख्याओं में भी अन्तर है। आजकल गौड़ीय पाठवाला

संस्करण ही अधिक प्रसिद्ध है। इस पुराण में २१८ अध्याय हैं। श्लोकों की संख्या २४,००० है। परन्तु कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी से इस ग्रन्थ का जो संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल १०,७०० श्लोक हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का एक बहुत बड़ा भाग अब तक नहीं मिला है। इस पुराण में विष्णु से सम्बद्ध अनेक व्रतों का वर्णन है। विशेषकर द्वादशी व्रत—भिन्न भिन्न मासों की द्वादशी व्रत—का विवेचन मिलता है तथा इन द्वादशी व्रतों का भिन्न भिन्न अवतारों से सम्बन्ध दिखलाया गया है जो निम्नांकित हैं:—

अगहन	शुक्ल द्वादशी	का नाम	मत्स्य द्वादशी
पौष	,,	,,	कूर्म ,,
माघ	,,	,,	वराह ,,
फाल्गुन	,,	,,	नृसिंह ,,
चैत्र	,,	,,	वामन ,,
वैशाख	,,	,,	परशुराम ,,
ज्येष्ठ	,,	,,	राम ,,
आषाढ़	,,	,,	कृष्ण ,,
श्रावण	,,	,,	बुद्ध ,,
भाद्रपद	,,	,,	कल्कि ,,
आश्विन	,,	,,	पद्मनाभ ,,
कार्तिक	,,	,,	×

इस पुराण के दो अंश विशेष महत्त्व के हैं:—(१) मथुरा माहात्म्य (अ० १५२-१७२) जिसमें मथुरा के समग्र तीर्थों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन दिया गया है। ये अध्याय मथुरा का भूगोल जानने के लिये बड़े ही उपयोगी हैं। (२) नाचिकेतोपाख्यान (अ० १९३-२१२) जिसमें

नचिकेता का उपाख्यान बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। इस उपाख्यान में स्वर्ग तथा नरकों के वर्णन पर ही विशेष जोर दिया गया है। कठोपनिषद् की आध्यात्मिक दृष्टि इस उपाख्यान में नहीं हैं।

स्कन्द पुराण

(१३) स्कन्द पुराण—इस पुराण में स्वामी कार्तिकेय ने शैवतत्त्वों का निरूपण किया है, इसीलिये इसका नाम स्कन्द पुराण है। सबसे बृहत्काय पुराण यही है। इसकी मोटाई का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि यह भागवत पुराण से आठगुना मोटा है। इसकी श्लोक संख्या ८१,१०० है जो लक्ष श्लोकात्मक महाभारत से केवल एक पञ्चमांश ही कम हैं! इस पुराण के अन्तर्गत अनेक संहितायें, खण्ड, तथा माहात्म्य हैं। इसी पुराण के अन्तर्गत सूतसंहिता (अ० १ श्लो० २०-२२) के अनुसार इस पुराण में छः संहिताएँ हैं जो अपने ग्रन्थ परिमाण के साथ इस प्रकार हैं:—

संहिता	श्लोक संख्या
(१) सनत्कुमार संहिता	३६,०००
(२) सूत संहिता	६,०००
(३) शंकर संहिता	३०,०००
(४) वैष्णव संहिता	५,०००
(५) ब्राह्म संहिता	३,०००
(६) सौर संहिता	१,०००
	= ८१,००० श्लोक

इन संहिताओं के विषय में विस्तृत निर्देश नारद पुराण में दिया गया है। स्कन्द पुराण के विभाजन का एक दूसरा भी प्रका रखण्डों में है। ये

खण्ड संख्या में सात हैं:—(१) माहेश्वर खण्ड (२) वैष्णव खण्ड (३) ब्रह्मखण्ड (४) काशी खण्ड (५) रेवा खण्ड (६) तापी खण्ड (७) प्रभास खण्ड ।

(१) संहिताओं में *सूत संहिता* शिवोपासना के विषय में एक अनुपम खण्ड है। यह संहिता वैदिक तथा तान्त्रिक उभय प्रकार की पूजाओं का विस्तार के साथ वर्णन करती है। इस संहिता की इसी विलक्षणता के कारण से विजयनगर साम्राज्य के मन्त्री माधवाचार्य की दृष्टि इस पर पड़ी और उन्होंने 'तात्पर्य-दीपिका' नामक बड़ी ही प्रामाणिक तथा विस्तृत व्याख्या लिखी है जो आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना (नं० २५) से प्रकाशित हुई है। इस संहिता में चार खण्ड हैं:—(१) पहला खण्ड जिसका नाम 'शिव माहात्म्य' है १३ अध्यायों में शिव-महिमा का विशेष रूप से प्रतिपादन करता है। (२) ज्ञानयोग खण्ड—२० अध्यायों में आचार-धर्मों के वर्णन करने के अनन्तर हठयोग की प्रक्रिया का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत करता है। (३) मुक्तिखण्ड—९ अध्यायों में मुक्ति के उपाय का वर्णन करता है। (४) यज्ञ वैभव खण्ड—यह सब खण्डों से बड़ा है। इसके दो भाग हैं (१) पूर्व भाग और (२) उत्तर भाग। पूर्व-भाग में ४७ अध्याय हैं जिनमें अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का शैवभक्तिके साथ सम्पुटित कर बड़ा ही सुन्दर आध्यात्मिक विवेचन किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह खण्ड बड़ा ही उपादेय प्रमेय–बहुल तथा मीमांसा करने योग्य है। इसके उत्तर भाग में दो गीतायें सम्मिलित हैं—(१) ब्रह्मगीता और (२) सूतगीता। पहली गीता १२ अध्यायों में विभक्त है और दूसरी ८ अध्यायों में। इनका भी विषय अध्यात्म ही है। आत्मस्वरूप का कथन तथा उसके साक्षात्कार के उपाय बड़ी ही सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किये गये हैं। इस संहिता में शिव के प्रसाद से ही सब कर्मों की सिद्धि

का वर्णन किया गया है। इस विषय के दो श्लोक नीचे दिये जाते हैं:—

प्रसाद-लाभाय हि धर्मसंचयः
प्रसाद-लाभाय हि देवतार्चनम्।
प्रसाद-लाभाय हि देवतास्मृतिः,
प्रसाद लाभाय हि सर्वमीरितम्॥
शिवप्रसादेन विना न भुक्तयः,
शिवप्रसादेन विना न मुक्तयः।
शिवप्रसादेन विना न देवताः,
शिवप्रसादेन हि सर्वमास्तिकाः॥

(३) शंकर संहिता—अनेक खण्डों में विभक्त है। इसका प्रथम खण्ड शिवरहस्य कहलाता है जो पूरी संहिता का आधा भाग है। जिसमें १३,००० श्लोक हैं तथा ७ काण्ड हैं जिनके नाम ये हैं:—(१) संभव काण्ड (२) आसुर काण्ड (३) माहेन्द्र काण्ड (४) युद्ध काण्ड (५) देव काण्ड (६) दत्तकाण्ड (७) उपदेश काण्ड। (६) छठवीं संहिता सौर संहिता है जिसमें शिवपूजा सम्बन्धी अनेक बातों का वर्णन किया गया है। पहली संहिता—सनत्कुमार संहिता बीस-बाइस अध्यायों की एक छोटी सी संहिता है। इन संहिताओं को छोड़कर अन्य संहितायें उपलब्ध नहीं होतीं।

अब खण्डों के क्रम से इस पुराण का वर्णन किया जाता है:—

(१) माहेश्वर खण्ड के भीतर दो छोटे खण्ड हैं (क) केदार खण्ड (ख) कुमारिका खण्ड। इन दोनों खण्डों में शिव पार्वती की नाना प्रकार की विचित्र लीलाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है।

(२) वैष्णव खण्ड – इस खण्ड के अन्तर्गत उत्कल खण्ड है जिसमें उड़ीसा के जगन्नाथजी के मन्दिर, पूजाविधान, प्रतिष्ठा तथा तत्संबद्ध अनेक

उपाख्यानों का वर्णन मिलता है। राजा इन्द्रद्युम्न ने नारदजी के उपदेश में किस प्रकार जगन्नाथजी के स्थान का पता लगाया, इसका विस्तृत वर्णन इस खण्ड में पाया जाता है। इस प्रकार जगन्नाथपुरी का प्राचीन इतिहास जानने के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

(३) *ब्रह्म खण्ड*—इसमें दो खण्ड हैं (१) ब्रह्मारण्य खण्ड (२) ब्रह्मोत्तर खण्ड। प्रथम खण्ड में तो धर्मारण्य नामक स्थान के माहात्म्य का विषद प्रतिपादन है। दूसरे खण्ड में उज्जैनी में स्थित महाकाल की प्रतिष्ठा तथा पूजन का विशेष विधान है।

(४) *काशी खण्ड*—इसमें काशी की महिमा का वर्णन है। काशी के समस्त देवताओं, शिवलिङ्गों के आविर्भाव तथा माहात्म्य का प्रतिपादन यहाँ विशेषरूप से किया गया है। काशी का प्राचीन भूगोल जानने के लिये यह खण्ड अत्यन्त आवश्यक है।

(५) *रेवा खण्ड*—इसमें नर्मदा की उत्पत्ति तथा उनके तट पर स्थित समस्त तीर्थों का विस्तृत वर्णन मिलता है। सत्यनारायण व्रत की सुप्रसिद्ध कथा इसी खण्ड की है।

(६) *अवन्ति खण्ड*—अवन्ति (उज्जैन) में स्थित भिन्न भिन्न शिवलिङ्गों की उत्पत्ति तथा माहात्म्य का वर्णन इस खण्ड में किया गया है। महाकालेश्वर का वर्णन बड़े ही विस्तृत रूप में दिया गया है। प्राचीन अवन्ति की धार्मिक स्थिति का पूरा दिग्दर्शन यहाँ मिलता है।

(७) *तापी खण्ड*—इसमें नर्मदा की सहायक नदी तापी के किनारे स्थित नाना तीर्थों का वर्णन मिलता है। नारद पुराण के मत से इसके षष्ठ खण्ड का नाम नागर खण्ड है। आजकल जो नागर खण्ड उपलब्ध होता है उसमें तीन परिच्छेद हैं। (१) विश्वकर्मा उपाख्यान (२) विश्वकर्म वंशाख्यान (३) हाटकेश्वर माहात्म्य। इस तीसरे खण्ड में नागर ब्राह्मणों

की उत्पत्ति का वर्णन है। भारत की सामाजिक दशा जानने के लिये यह खण्ड अत्यन्त आवश्यक है।

(८) *प्रभास खण्ड*—इसमें प्रभास क्षेत्र का बड़ा ही विस्तृत वर्णन है। द्वारका के आस पास का भूगोल जानने के लिये यह खण्ड अत्यन्त उपयोगी है।

इन महापुराणों में महाकाय स्कन्द पुराण का यह स्वल्पकाय वर्णन है। इस पुराण में जगन्नाथजी के मन्दिर का वर्णन होने से कुछ पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि यह पुराण १२ वीं शताब्दी में लिखा गया क्योंकि १२६४ ई० के आसपास जगन्नाथजी के मन्दिर का निर्माण हुआ था। परन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त है क्योंकि ९३० शक (१००८ ई०) में लिखी गई इसकी हस्तलिखित प्रति कलकत्ते में उपलब्ध हुई है। परन्तु इससे भी प्राचीन ७ वीं शताब्दी में लिखित इसकी हस्तलिखित प्रति नैपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है जिसका उल्लेख डा० हरप्रसाद शास्त्री ने वहाँ के सूचीपत्र में किया है। इससे सिद्ध होता है कि यह पुराण बहुत ही प्राचीन है। इसका मूलरूप क्या था और यह कैसे धीरे-धीरे इतना विशालकाय हो गया ? यह भी पुराण के पण्डितों के लिये अनुसन्धान का विषय है।

वामन पुराण

(१४) *वामन पुराण*—इस पुराण का सम्बन्ध भगवान् के वामनावतार से है। यह बड़ा ही छोटा पुराण है। इसमें केवल ९५ अध्याय हैं तथा १०,००० श्लोक हैं। विष्णु परक होने के कारण से इसमें विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों का वर्णन होना स्वाभाविक है परन्तु वामनावतार का वर्णन विशेष रूप से दिया हुआ है। इस पुराण में शिव, शिवका माहात्म्य,

शैवतीर्थ, उमा-शिव विवाह, गणेश की उत्पत्ति और कार्तिकेय चरित आदि विषयों का वर्णन मिलता है जिससे पता चलता है कि इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं है।

कूर्म पुराण

(१५) कूर्म पुराण—इस पुराण से पता चलता है कि इसमें चार संहितायें थीं–(१) ब्राह्मी संहिता (२) भागवती (३) सौरी (४) वैष्णवी। परन्तु आजकल केवल ब्राह्मी संहिता ही उपलब्ध होती है और उसी का नाम कूर्म पुराण है। भागवत तथा मत्स्य पुराणों के अनुसार इसमें १८,००० श्लोक होने चाहिये परन्तु उपलब्ध पुराण में केवल ६००० ही श्लोक मिलते हैं। अर्थात् मूल ग्रन्थ का केवल तृतीयांश भाग ही उपलब्ध हैं। विष्णु भगवान् ने कूर्म अवतार धारण कर इन्द्रद्युम्न नामक विष्णुभक्त राजा को इस पुराण का उपदेश दिया था। इसीलिये यह कूर्म पुराण के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें सब जगह शिव ही मुख्य देवता के रूप में वर्णित हैं और यह स्पष्ट उल्लिखित है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। ये एक ही ब्रह्म की पृथक् पृथक् तीन मूर्तियाँ हैं। इस ग्रन्थ में शक्तिपूजा पर भी बड़ा जोर दिया गया है। शक्ति के सहस्र नाम यहाँ दिये गये हैं (१।१२)। विष्णु शिव के रूप तथा लक्ष्मी गौरी की प्रतिकृति बतलाई गई हैं। शिव देवाधिदेव के रूप में इतने महत्त्वपूर्ण रूप से वर्णित किये गये हैं कि उन्हीं के प्रसाद से भगवान् कृष्ण जाम्बवती की प्राप्ति में समर्थ होते हैं।

इस पुराण में दो भाग हैं। पूर्वभाग ५२ अध्याय और उत्तरभाग में ४४ अध्याय हैं। पूर्वभाग में सृष्टि-प्रकरण के अनन्तर, पार्वती की तपश्चर्या तथा इनके सहस्रनाम का वर्णन है। इसी भाग में काशी और

प्रयाग का माहात्म्य (अ० ३५-३७) दिया गया है। उत्तरभाग ईश्वरी-गीता तथा व्यास गीता है। ईश्वरी गीता में भगवद्गीता के ढंग पर ध्यानयोग के द्वारा शिवके साक्षात्कार का वर्णन है। व्यास गीता में चारों आश्रमों के कर्तव्य कर्मों का वर्णन महर्षि व्यास के द्वारा किया गया है। इस पुराण के उपक्रम से ही पता चलता है कि मूल रूप में इसमें चार संहितायें थीं और आजकल केवल ब्राह्मी संहिता (६,००० श्लोक) ही उपलब्ध होती है—

ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्त्तिता।
चतस्रः संहिताः पुण्या धर्मकामार्थमोक्षदाः॥
इयं तु संहिता ब्राह्मी चतुर्वेदैश्च सम्मता।
भवन्ति षट् सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया॥ (१।२५)।

मत्स्य पुराण

(१६) मत्स्यपुराण—यह पुराण भी पर्याप्त रूप से विस्तृत है। इसमें अध्यायों की संख्या २९१ है तथा श्लोकों की संख्या १५,००० के लगभग है। इस पुराण के आरम्भ में मन्वन्तर के सामान्य वर्णन के अनन्तर पितृवंश का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। वैराज पितृवंश का १३ वें अध्याय में, अग्निष्वात्त पितरों का १४ वें में तथा बर्हिषद् पितरों का वर्णन १५ वें अध्याय में विशेष रूप से है। श्राद्धकल्प का विवेचन ७ अध्यायों (अ० १६-२३ तक) में किया गया है। सोमवंश का वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ उपलब्ध है, विशेषतः ययाति के चरित्र का (अ० २७ से ४२ तक)। अन्य राजन्य वंशों का भी वर्णन है। व्रतों का वर्णन इस पुराण की महती विशेषता है (अ० ५५-१०२) प्रयाग का भौगोलिक वर्णन तथा महिमा कथन १० अध्यायों (अ०

१०३–११२) में किया गया है। भगवान् शंकर का त्रिपुरासुर के साथ जो संग्राम हुआ था उसका वर्णन यहाँ हम बड़े विस्तार के साथ पाते हैं। (अ० १२९–१४०) तारक-वध का भी बड़ा विस्तार यहाँ मिलता है। मत्स्यावतार के वर्णन के लिये तो यह पुराण ही लिखा गया है। काशी का माहात्म्य भी अनेक अध्यायों में यहाँ विराजमान है (अ० १८०-१८५) वही दशा नर्मदा माहात्म्य की भी है (अ० १८७ से १९४)।

इस पुराण में तीन-चार बातें विशेष महत्त्व की दीख पड़ती हैं। (१) पहली बात यह है कि इस पुराण के ५३वें अध्याय में समस्त पुराणों की विषयानुक्रमणी दी गई है जिससे हम पुराणों के क्रमिक विकास का बहुत कुछ परिचय पा सकते हैं। (२) विशेषता है प्रवर ऋषियों के वंश का वर्णन—भृगु, अंगिरा, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वशिष्ठ, पराशर, अगस्त्य—इन ऋषियों के वंशों का वर्णन बड़े सुचारु रूप से हम १९५ अध्याय से लेकर २०२ अध्याय तक क्रमपूर्वक पाते हैं। (३) विशेषता है राजधर्म का विशिष्ट वर्णन। अध्याय २१५ से लेकर २४३ तक दैव, पुरुषकार, साम, दाम, दण्ड, भेद, दुर्ग, यात्रा, सहायसम्पत्ति और तुलादान आदि का वर्णन इस ग्रन्थ को राजनैतिक महत्त्व प्रदान करता है। इसी राजधर्म के अन्तर्गत अद्भुत शान्ति का खण्ड भी बड़ी नवीनता लिये हुए है (अ० २२८ से २३८)। (४) विशेषता है प्रतिमा-लक्षण अर्थात् भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रतिमा का मापपूर्वक निर्माण। हमारा प्रतिमा-शास्त्र वैज्ञानिक पद्धति पर अवलम्बित है। भिन्न-भिन्न देवताओं क. मूर्तियों की रचना तालमान के अनुसार होती है। उनकी प्रतिष्ठा-पीठ का निर्माण भी एक विशिष्ट शैली से होता है। इन सब विषय का वर्णन इस पुराण में अनेक अध्यायों में (अ० २५७–२७०) बड़े प्रामाणिक रूप से दिया गया है। राजा को अपने शत्रु पर चढ़ाई करते समय किन किन बातों

का ध्यान रखना चाहिये इसका कितना सुन्दर वर्णन इस पुराण के राजधर्म में दिया गया है:—

विज्ञाय राजा द्विजदेशकालौ,
दैवं त्रिकालञ्च तथैव बुद्ध्वा ।
यायात् परमं कालविदां मतेन,
संचिन्त्य सार्धं द्विजमन्त्रविद्भिः ॥

गरुड़ पुराण

(१७) *गरुड़ पुराण*—इस पुराण में विष्णु ने गरुड़ को विश्व की सृष्टि बतलाई थी। इसीलिये इसका नाम गरुड़ पुराण पड़ गया। इसमें १८,००० श्लोक हैं और अध्यायों की संख्या २८७ है। इसमें दो खण्ड हैं। पूर्वखण्ड में उपयोगिनी नाना विद्याओं के विस्तृत वर्णन हैं। आरम्भ में विष्णु तथा उनके अवतारों का माहात्म्य कथित है। इसके एक अंश में नाना प्रकार के रत्नों की परीक्षा है जैसे मोती की परीक्षा (अ० ६९)। पद्मराग की परीक्षा (अ० ७०) मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, करकेतन, भीष्मरत्न, पुलक, रुधिराख्य रत्न, स्फटिक, तथा विद्रुम की परीक्षा (अ० ७१–८० तक) क्रमशः की गई है। राजनीति का भी वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ (अ० १०८ से ११५ तक) उपलब्ध होता है। आयुर्वेद के आवश्यक निदान तथा चिकित्सा का कथन २६ अध्यायों में किया गया है (अ० १५०–१८१)। नाना प्रकार के रोगों के दूर करने के लिये औषधि की व्यवस्था भी यहाँ की गई है (अ० १८२–१९६ तक)। इसके अतिरिक्त एक अध्याय (१९७) में पशु चिकित्सा का भी वर्णन इसमें पाया है जो समधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दूसरा अध्याय (अ० १९९) बुद्धि के निर्मल बनाने के लिये औषधि की

व्यवस्था करता है। अच्छा होता कि आयुर्वेद के प्रतिपादक ये ५० अध्याय अलग पुस्तकाकार प्रकाशित किये जाते और अन्य आयुर्वेद के ग्रन्थों के साथ इसका भी अनुशीलन किया जाता। छन्दः शास्त्र के विषय में ६ अध्याय (अ० २११–२१६) यहाँ मिलते हैं। सांख्य योग का भी इसमें वर्णन है (अ० २३० और अ० २४३)। एक अध्याय (अ० २४२) में गीता का सारांश भी वर्णित है। इस प्रकार गरुड़ पुराण का यह पूर्व अंश अग्निपुराण के समान ही समस्त विद्याओं का विश्वकोष कहा जाय तो अनुचित न होगा।

इस पुराण का उत्तर खण्ड 'प्रेत कल्प' कहा जाता है जिसमें ४५ अध्याय हैं। मरनेके बाद मनुष्यकी क्या गति होती है? वह किस योनिमें उत्पन्न होता है तथा कौन कौन सा भोग भोगता है? इसका वर्णन अन्य पुराणों में यत्र तत्र पाया जाता है परंतु इस पुराण में इस विषय का अत्यन्त विस्तृत तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इसमें गर्भावस्था, नरक, यम नगर का मार्ग, प्रेतगण का वास-स्थान, प्रेत लक्षण तथा प्रेत योनि से मुक्ति, प्रेतोंका रूप, मनुष्यों की आयु, यमलोक का विस्तार, सपिण्डीकरणकी विधि, वृषोत्सर्ग–विधान आदि विषयों का भिन्न भिन्न अध्यायों में बड़ा रोचक तथा विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। श्राद्ध के समय इस पुराण का पाठ किया जाता है। इस 'उत्तर खण्ड' का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ है।

ब्रह्माण्ड पुराण

(१८) ब्रह्माण्ड पुराण—इस पुराणमें समस्त ब्रह्माण्ड के वर्णन होने के कारण से इसका नाम ब्रह्माण्ड पुराण पड़ा है। भुवन कोष का वर्णन प्रायः हर एक पुराण में उपलब्ध होता है, परन्तु इस पुराणमें पूरे विश्व का

साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। आजकल उपलब्ध पुराणमें—जो वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है—प्रक्रियापाद तथा उपोद्घात पाद ये दो ही पाद उपलब्ध हैं। नारद पुराण से पता चलता है कि प्रारम्भ में इसके १२,००० श्लोक थे तथा प्रक्रिया, अनुषङ्ग, उपोद्घात और उपसंहार नामक चार पाद[१] थे। इन चारों पादों की विषय सूची भी नारद पुराण में दी हुई है। परन्तु आजकल दूसरा (अनुषङ्ग) और चौथा (उपसंहार) पाद उपलब्ध नहीं होता। कूर्म पुराण की विषय सूचीमें इस पुराण को 'वायवीय ब्रह्माण्ड पुराण' कहा गया है। इस नामकरण ने अनेक पश्चिमी विद्वानों को भ्रम में डाल दिया है। उनके मतसे इस पुराणका मूल वायु पुराण है और ब्रह्माण्ड पुराण उसी वायु पुराणका विकसित रूप है। परन्तु यह धारणा नितान्त निराधार है। नारद पुराण के वचन से हम जानते हैं कि व्यासजीको वायु ने इस पुराण का उपदेश दिया था। इसलिये इसका वायु-प्रोक्त ब्रह्माण्ड पुराण नाम पड़ना उचित ही है। नारद पुराण का महत्त्वपूर्ण वाक्य यह है:—

व्यासो लब्ध्वा ततश्चैतत्, प्रभञ्जनमुखोद्गतम्।
प्रमाणीकृत्य लोकेऽस्मिन्, प्रावर्तयदनुत्तमम्॥

इस पुराण के प्रथम खण्डमें विश्वके भूगोल का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। जम्बू द्वीप तथा उसके पर्वत, नदियोंका वर्णन अनेक अध्यायों में है (अ० ६६-४२ तक)। भद्राश्व, केतुमाल, चन्द्र द्वीप, किंपुरुषवर्ष,

---

१—शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि, ब्रह्माण्डाख्यं पुरातनम्।
यच्च द्वादश साहस्रं, भाविकल्प-कथायुतम्॥
प्रक्रियाख्योऽनुषङ्गाख्यः उपोद्घातः तृतीयकः।
चतुर्थं उपसंहारः, पादाश्चत्वार एव हि॥

कैलाश, शाल्मली द्वीप, कुश द्वीप, क्रौञ्च द्वीप, शाक द्वीप, पुष्कर द्वीप आदि समग्र वर्षों तथा द्वीपोंका भिन्न भिन्न अध्यायों में बड़ा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। इसी प्रकार ग्रहों, नक्षत्रों तथा युगोंका भी विशेष विवरण इसमें दिया गया है। इस पुराण के तृतीय पाद में भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों का वर्णन इतिहासकी दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है।

इस पुराणके विषयमें एक विशेष बात उल्लेखनीय है। ईसवी सन् ५ वीं शताब्दी में इस पुराण को ब्राह्मण लोग जावा द्वीप ले गये थे जहाँ उसका जावा की प्राचीन 'कवि भाषा' में अनुवाद आज भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार इस पुराणका समय बहुत ही प्राचीन सिद्ध होता है।

सप्तम परिच्छेद

दर्शन-शास्त्र

भारतवर्ष स्वभाव से ही विचारप्रधान देश है। अन्य देशों में जीवन-संग्राम इतना भीषण है, प्रतिदिन व्यावहारिक जीवन की ही समस्यायें इतनी उलझी हुई हैं कि उन देशों के निवासियों का सारा समय इन्हीं के सुलझाने में व्यतीत हुआ करता है। जगत् के आध्यात्मिक तत्त्वों की छानबीन करना उनके जीवन की आकस्मिक घटनाएँ हैं। परन्तु इस भारतभूमि को जीवन की समग्र आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण बनाकर प्रकृति ने यहाँ के निवासियों को ऐहिक चिन्ताओं से निर्मुक्त कर पारलौकिक चिन्तन की ओर स्वतः अग्रसर कर दिया है। भारतवासी निसर्गतः विचार-प्रधान हैं। यहाँ समग्र विद्याओं में अध्यात्मविद्या (दर्शनशास्त्र) को नितान्त सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। मुण्डक (१।१) उपनिषद् में ब्रह्मविद्या सब विद्याओं की प्रतिष्ठा (सर्वविद्या-प्रतिष्ठा) बतलाई गई है। गीता (१०।३२) में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' कहकर दर्शन-शास्त्र को अपनी ही माननीय विभूति स्वीकार किया है। अर्थ-शास्त्र के कर्ता की दृष्टि में भी आन्वीक्षिकी विद्या सब विद्याओं के प्रकाशक होने से ही दीपकस्थानीय है; सब कर्मों के अनुष्ठान का उपाय है तथा सब धर्मों का आश्रय है—

प्रदीपः सर्व-विद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥ (अर्थशास्त्र १।२)

जो महत्ता तथा स्वतन्त्रता विचारशास्त्र को इस देश में प्राप्त है वैसी इसे किसी भी अन्य देश में प्राप्त नहीं हुई ।

भारतवर्ष में दर्शन का महत्त्व बहुत ही अधिक है । उसका सम्बन्ध हमारे जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं के साथ नितान्त घनिष्ठ है । पाश्चात्य देशों में दर्शन (फिलासफी) विद्या का अनुराग-मात्र है— विद्वज्जनों के मनोविनोद का साधनमात्र है, परन्तु भारत में इसका मूल्य नितान्त व्यावहारिक है । त्रिविध—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधि दैविक–ताप से सन्तप्त जनताके क्लेशों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए ही दर्शन का उदय हुआ है—दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ (सांख्यकारिका १) । यह पण्डितजनों की रमणीय कल्पना का विजृम्भणमात्र नहीं है, अपितु दिन प्रतिदिन की जागरूक विपदाओं से सदा के लिये मुक्ति प्रदान करने के निमित्त ही आर्षचक्षु वाले ऋषियों की यह महती देन है । इसीलिए दर्शन का धर्म के साथ भारतभूमि पर इतना घनिष्ठ मेल-जोल है । दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ प्रतिष्ठा है । विचार तथा आचार में गहरा सम्बन्ध है । जैसा विचार होता है, वैसा ही आचार होता है । दार्शनिक विचार की आधारशिला के विना धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है और धार्मिक आचार के रूप में कार्यान्वित बिना किये दर्शन की स्थिति निष्फल है । धर्म तथा दर्शन में जितना सामञ्जस्य यहाँ दृष्टिगोचर होता है, उतना अन्य किसी देश में नहीं होता ।

उदय

सत्य के अन्वेषण के प्रति भारत के विद्वज्जनों का आग्रह अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। दार्शनिक प्रवृत्ति का उदय संहिताकाल में ही हो गया था। ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतीय विचार धारा में द्विविध प्रवृत्ति तथा द्विविध लक्ष्य के दर्शन हमें होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति *प्रतिभा मूलक* अथवा प्रज्ञा-मूलक है जो प्रातिभ चक्षु के सहारे तत्त्वों के विवेचन करने में समर्थ होती है। द्वितीय प्रवृत्ति *तर्क मूलक* है जो तार्किक बुद्धि का प्रयोग कर तत्त्वों की समीक्षा करने में कृतकार्य होती है। लक्ष्य भी दो प्रकार के हैं—धर्म का उपार्जन और ब्रह्म का साक्षात्कार। ऋग्वेद के एक महर्षि-प्रजापति परमेष्ठी—प्रातिभज्ञान के बल पर जगत् के मूल-तत्त्व की व्याख्या करते हुए अद्वैत-तत्त्व पर आ टिकते हैं। वे कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से श्वास लेती थी—आनीदवातं स्वधया तदेकम् (ऋ० १०।१२९।२), तो दूसरे 'संवनन आङ्गिरस' ऋषि वस्तुतत्त्व को पहचानने के लिए तर्क की उपयोगिता बतला रहे हैं—संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् (ऋ० १०।१९१।२) = आपस में मिलो, विषय का विवेचन करो तथा एक दूसरे के मन को जानो। इन उभय प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मेलन से उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का जन्म हुआ। औपनिषद तत्त्वज्ञान का पर्यवसान आत्मा तथा परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध करनेवाले प्रज्ञामूलक वेदान्त में हुआ। साथ ही साथ उस काल में तर्क मूलक तत्त्वज्ञान का भी ऊहापोह सुचारुरूप से होता था जिससे आगे चलकर कालान्तर में अन्य दर्शनों की उत्पत्ति हुई। जगत् के मूल में प्रकृति तथा पुरुष के द्वैत को मानने वाला सांख्य,

श्रुतिकालीन द्विविध प्रवृत्ति

समाधि के द्वारा परम तत्त्व की प्राप्ति बतलाने वाला योग, परमाणु, जीव तथा ईश्वरादि मौलिक तत्त्वों को माननेवाला बहुत्ववादी वैशेषिक तथा प्रमाणशास्त्र की विशद व्याख्या करनेवाला न्याय—इसी तर्क-मूलक प्रवृत्ति के उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। इन दर्शनों के वीज उपनिषदों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इन्हीं का उपयोग कर पीछे के आचार्यों ने अपने मत को प्रामाणिक रूप दिया। उपनिषद् ही भारतीय विचार धारा के मूल स्रोत हैं। वे ऐसे आध्यात्मिक मानसरोवर हैं जहाँ से भिन्न-भिन्न ज्ञानधारायें निकल कर इस भारत भूमि को उर्वर तथा आप्यायित करती आ रही हैं।

उपनिषत्कालीन तत्त्वज्ञान का संकेत 'तत्त्वमसि' महावाक्य में है। इस वाक्य के द्वारा ऋषि लोग डंके की चोट प्रतिपादित करते हैं कि त्वं = जीव तथा तत् = ब्रह्म पदार्थों में नितान्त एकता है। इस तत्त्व का साक्षात्कार उपनिषद् के पश्चात् युगों के लिए एक विषम पहेली थी। इसकी समीक्षा के अवसर पर कुछ दार्शनिक लोग कहने लगे कि जीव तथा जगत्—पुरुष तथा प्रकृति के परस्पर विभिन्न गुणों के न जानने से ही यह संसार है (अनात्म ख्याति) और प्रकृति-पुरुष के स्वरूप को भली भाँति जानने पर ही तत्-त्वं की एकता सिद्ध हो सकती है। इस ज्ञान का नाम हुआ सम्यक् ख्याति—विवेक ज्ञान अथवा सांख्य। यह तो हुआ अलौकिक साक्षात्कार। परन्तु इससे काम चलता न देखकर अन्य दार्शनिक को व्यावहारिक रूप से साक्षात्कार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसकी पूर्ति 'योग' से की गई। इस प्रकार सांख्य-योग एक ही तत्त्वज्ञान के दो रूप हैं—अलौकिक पक्ष का नाम है *सांख्य* तथा व्यवहार पक्ष का नाम है *योग*। कुछ दार्शनिकोंने जीव-जगत के गुणों (विशेष) की छानबीन करना

षड्दर्शनों का उदय-क्रम

आवश्यक समझा । इस प्रकार आत्मा तथा अनात्मा के गुण विवेचन से वैशेषिक की उत्पत्ति हुई तथा ज्ञानप्राप्ति की प्रणाली को निश्चित रूप से बतलाने के लिए *न्याय* का जन्म हुआ । तर्कमूलक प्रणाली का रूप 'न्याय' में इतनी उग्रता से दृष्टिगोचर होने लगा कि यह भावना बद्धमूल हो गई कि केवल शुष्क तर्क की सहायता से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो ही नहीं सकता । अतः विचारकों ने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी तथा वैदिक कर्म-काण्ड की विवेचना आरम्भ कर दी जिसका फल हुआ *मीमांसा* का उदय । परन्तु मानवों की आध्यात्मिक भावना केवल कर्म के अनुष्ठान से तृप्त नहीं हो सकी । अतः वेदों के ज्ञानकाण्ड की मीमांसा होने लगी जिससे *वेदान्त* का जन्म हुआ । इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिए उक्त क्रम से षड्दर्शनों की उत्पत्ति हुई । इन सबकी अपनी विशेषतायें हैं, परन्तु लक्ष्य एक ही है—तापत्रय से संतप्त जनता के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति। भिन्न-भिन्न मार्ग का अवलम्बन करने पर भी हम एक ही गन्तव्य स्थान पर किस प्रकार पहुँचते हैं, इसका पता इन दर्शनों के विकास की ओर दृष्टिपात करने से भली भाँति लग सकता है ।

वेद के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को प्रमाणिक तथा सर्वथा सत्य मानने वाले इन दर्शनों को 'आस्तिक' दर्शन कहते है । मुख्य दर्शन छः हैं–न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त । इनके उदय

विकाश का कालक्रम

तथा अभ्युदय का इतिहास भारतीय विचारशास्त्र की विभिन्न प्रवृत्तियों का मार्मिक समीक्षण है । यह इतिहास तीन विभगों में बाँटा जा सकता है—सूत्रकाल, भाष्य-काल तथा वृत्तिकाल । सूत्रकाल में इन दर्शनों का उदय हुआ । प्रत्येक दर्शन का मूल ग्रन्थ सूत्ररूप में उपलब्ध होता है जो किसी एक महान्

विचारक के नामसे सम्बद्ध है—न्यायसूत्र महर्षि गौतम की रचना है, वैशैषिक सूत्र कणाद की, सांख्य कपिल की, योग पतञ्जलि की; मीमांसा जैमिनि की तथा वेदान्त बादरायण व्यास की। इन सूत्रों की रचना तो विक्रमादित्य से पहले ही हो चुकी थी, इनका विकास विक्रम की लगभग १५ वीं शताब्दी तक होता आया। इसी विकास-काल को हमने 'भाष्य-काल' का नाम दिया है। भाष्यकाल को अलंकृत करने वाले दार्शनिकों की गणना संसार के महान् दार्शनिकों की श्रेणी में की जा सकती है। इन्हों ने मूल अल्पाक्षर सूत्रों में निहित तथ्यों का विशदी-करण अपनी तार्किक बुद्धि से निष्पन्न कर एक महान् साहित्य का जन्म दिया है। भाष्यकाल के अनन्तर पिछली पाँच शताब्दियों को 'वृत्तिकाल' कह सकते हैं क्योंकि इस समय में भाष्यकाल की विशाल ग्रन्थिराशि तथा विचार-धारा को बोधगम्य बनाने के लिए छोटे-मोटे वृत्ति-ग्रन्थों की रचना की गई।

(क) गीता-दर्शन

महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ का श्रीमद्भगवद्गीता सारतम अंश है। इसके सात सौ श्लोकों के भीतर निःश्रेयस प्राप्ति के उपाय इतनी सुबोध तथा सरल भाषा में अभिव्यक्त कर दिये गये हैं कि सर्व-साधारण उन्हें आसानी से समझ सकते हैं और बिना किसी झगड़ा टंटा के इस राजमार्ग का अनुसरण कर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकते हैं। गीता दलबन्दी के दलदल से कोसों दूर है। अध्यात्म-तत्त्व के निरूपणार्थ जितने भिन्न-भिन्न मतों की उद्भावना उस समय तक हो चुकी थी उन सब का उपयोग कर गीता एक परम रमणीय

महत्त्व

साधन-मार्ग की व्यवस्था करती है जो भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले प्राणियों के लिए भी नितान्त सुखकर है। इसीलिए केवल सात सौ श्लोकों की लघुकाय गीता को कामधेनु तथा कल्पवृक्ष से उपमा दी गई है। गीता के महत्त्व का कारण है उसकी समन्वय दृष्टि। गीता के समय में मानव जीवन के लक्ष्य के विषय में अनेक सिद्धान्तों का प्रचार था। आत्मा की अपरोक्षानुभूति का प्रतिपादक था उपनिषद्, प्रकृति पुरुष की विवेक ख्याति से मोक्ष-लाभ का उपदेशक था सांख्य; समाज तथा धर्म के द्वारा प्रतिष्ठित विधिविधानों के अनुष्ठान से परम सुखभूत स्वर्ग की शिक्षा देने वाली थी कर्म-मीमांसा; अष्टाङ्ग साधन के द्वारा प्रकृति के बन्धन से जीव को निर्मुक्त कर कैवल्य का प्रतिपादक था योग तथा रागात्मिका भक्ति के द्वारा अखिल कर्मों का परमात्मा में समर्पण सिद्धान्त को बतलाने वाला था पांचरात्र। इन समस्त दार्शनिक तत्त्वों का जैसा मनोरम सामञ्जस्य गीता में प्रदर्शित किया गया है वह परम रमणीय है, नितान्त उपादेय है। प्राञ्जल तथा सुबोध भाषा में यह आध्यात्मिक समन्वय उपस्थित करने के कारण गीता का इतना गौरव है। भारतीय दर्शनकारों ने गीता की गणना द्वितीय प्रस्थान में कर इसकी महिमा का पूरा आभास दिया है तथा अवान्तर काल के धार्मिक मतों के संस्थापक आचार्यों ने इसे भाष्य से सुशोभित कर इसके गूढ़तम तात्पर्य को अपनी दृष्टि से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। भारत के बाहर भी गीता का प्रचार कम नहीं है। शायद ही ऐसी कोई सभ्य भाषा होगी जिसमें गीता का अनुवाद न मिलेगा। गीता के कितने ही सुन्दर अनुवाद हैं तथा कितने ही पाण्डित्यपूर्ण विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। गीता की अपील सार्वजनिक है, सब देश तथा सब काल के लिए समान है।

जिस परिस्थिति में गीता का उपदेश दिया गया था, वह विलक्षण थी।

महाभारत का प्रलयंकारी संग्राम होने जा रहा था जिसमें भाई के सामने भाई उसका खून पीने के लिये खड़ा था। ऐसी दशा में अर्जुन का विषाद होना नितान्त स्वाभाविक है। अर्जुन महाभारतकालीन योद्धाओं में परम प्रसिद्ध, नितान्त वीर्यशाली था। इस प्रकार सांसारिक परिस्थितियों के बीच पड़ कर कर्म के विषय में संशयालु-चित्त मानवमात्र का प्रतिनिधित्व हमें अर्जुन में दृष्टिगोचर होता है। गीता ज्ञान के वक्ता थे स्वयं श्रीकृष्ण, जो उस युग के परममेधावी विद्वान् तथा कर्तव्यपरायण पुरुष थे। अर्जुन के सामने समस्या थी—युद्ध करूँ या न करूँ? इस विकट प्रश्न के उत्तर की मीमांसा करने में ही गीता का उदय होता है। अतः गीता के उपदेशों की दिशा सुस्पष्ट है। वह आचार-मीमांसा का प्रतिपादन करती है। इसीलिए गीता 'योगशास्त्र' कहलाती है। योग के अनेक अर्थों में एक अर्थ है व्यवहार। 'सांख्य' का अर्थ है तत्त्व ज्ञान तथा 'योग' का अर्थ है व्यवहार या कर्ममार्ग। प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' कहने से तात्पर्य यही है कि गीता का मुख्य विषय ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित व्यवहार-प्रतिपादन है। तत्त्व समीक्षा के आधार पर ही आचार-मीमांसा की सुन्दर प्रतिष्ठा होती है। अतः गीतार्थ के विवेचन के लिए इन उभय पक्षों का निरूपण नितान्त आवश्यक है।

गीता का स्वरूप

गीता का अध्यात्मपक्ष

अध्यात्मतत्त्व का विवेचन गीता में बड़ी ही साफ सुथरी भाषा में स्थान स्थान पर किया गया है, परन्तु इन सब का समन्वय कर एक निश्चित सिद्धान्त का स्थापित करना कुछ कठिन कार्य है। इसीलिए आचार्य शंकर गीता को दुर्विज्ञेयार्थ बतलाते हैं (तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्—

ब्रह्मतत्त्व

गीताभाष्य का उपोद्घात)। चरमतत्त्व के निर्देश भिन्न भिन्न अध्यायों में किये गये हैं, परन्तु आठवें तथा तेरहवें अध्याय में इसका वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। गीता ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण उभय रूप से परिचित है। परन्तु वह जानती है कि दोनों एक ही अभिन्न तत्त्व हैं। इस सुन्दर श्लोक में इन दोनों रूपों की एकता स्पष्टतः प्रतिपादित की गई है:—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ (१३। १४)

ब्रह्म समग्र इन्द्रिय-वृत्तियों के द्वारा विषयों की उपलब्धि में समर्थ होता है—आन्तर तथा बाह्य इन्द्रियों के व्यापारों के द्वारा वह प्रतिभासित होता है। अथच वह स्वयं समस्त इन्द्रियों से हीन है। वह सब प्रकार के देहादिक सम्बन्ध से रहित है, परन्तु सब को धारण करता है। वह निर्गुण है तथापि गुणों का भोक्ता है—सत्त्वादि गुणों के परिणामरूप शब्द स्पर्शादि विषयों का उपभोक्ता है। वह सत् है, असत् भी है तथा इन दोनों से परे भी है। (सदसत् तत्परं यत्—११।३७); अनादिमान् परब्रह्म न तो सत् न असत् कहा जाता है (न सन्नासदुच्यते—१३।१२); ब्रह्म भूतों के भीतर तथा बाहर दोनों ओर है। वह अचर, चर, दूरस्थ तथा अन्तिकस्थ है (१३।१५); इन वर्णनों में विरोध की कल्पना न करनी चाहिए, क्योंकि देश-काल-निमित्तादि उपाधियों से विरहित परम तत्त्व समस्त विरोधों का पर्यवसान है, यह विचारशास्त्र का गूढ़ अथच महत्त्वपूर्ण मान्य सिद्धान्त है। भगवान् जगत् का प्रभव (उत्पत्ति) तथा प्रलय (लयस्थान) है (७।६); वह समस्त प्राणियों में वास करता है। जिस तरह डोरे में मणियों का समूह पिरोया हुआ रहता है, उसी तरह

भगवान् में समग्र जगत् ओत-प्रोत, अनुस्यूत, गूँथा हुआ है (७।७)। उसके हाथ पैर चारों ओर हैं, आँख, सिर, कान तथा मुँह चारों तरफ हैं, वह इस पूरे विश्व को आवरण कर स्थित है (१३।१३)।

ब्रह्म के दो भाव

गीता भगवान् के दो प्रकार के भावों की सत्ता बतलाती है। भगवान् के दो भाव हैं—अपर भाव तथा पर भाव। ईश्वर एक ही अंश से योगमाया से युक्त रहते हैं तथा उसी अंश से जगत् में अभिव्यक्त होते हैं। वह एक अंश से जगत् को व्याप्त कर स्थित होते हैं (विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्—१०।४२); इसका नाम है—अपर भाव या विश्वानुग रूप। परन्तु भगवान् केवल जगन्मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत वह इसे अतिक्रमण करनेवाले हैं। यह उनका वास्तव रूप है। इस अनुत्तम, अव्यय रूप का नाम है—पर भाव (विश्वातिग रूप; परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्–७-२४)। गीता की यह कल्पना ठीक पुरुषसूक्त के अनुरूप है। "पुरुष का यह जगत् केवल पादमात्र है; उसके अमृत तीन पाद आकाश में स्थित हैं[1]।" ब्रह्म के उभयभाव भी इसी प्रकार हैं। भगवान् विश्व के घट घट में व्याप्त हो रहे हैं। ऐसा कौन पदार्थ है जिसमें उनका अंश न हो? फिर भी विभूतिमान्, शोभायुक्त तथा ऊर्जित पदार्थों में भगवच्छक्ति का प्राकट्य समधिक दृष्टिगोचर होता है[2]। दशम अध्याय में भगवान् की विभूतियों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

---

१. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

—ऋ० वे० १०।६०।३

२. यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ १०।४१

यह स्थावर तथा जंगम विश्व भगवदाकार ही है, इसमें सन्देह-लेश भी नहीं है। इसीलिए गीता भगवान् की दो प्रकृतियों का वर्णन करती है। इस विषय में सांख्य तथा गीता के तत्त्वविवेचन के पार्थक्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। सांख्य-शास्त्र में सृष्टि के मूल में अचेतन जड़ प्रकृति तथा चेतन पुरुष को प्रतिपादित कर यह बतलाया गया है कि समस्त पदार्थ इन्हीं दोनों तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं–इनसे पृथक् तीसरा तत्त्व नहीं है। परन्तु गीता इससे सहमत नहीं है। उसकी दृष्टि में इन दोनों से परे भी एक सर्वव्यापक अव्यक्त तथा अमृत तत्त्व है जिससे चराचर सृष्टि का उदय होता है। सांख्याभिमत प्रकृति-पुरुष उस व्यापक ब्रह्म के विभूतिमात्र हैं। परमेश्वर की प्रकृतियाँ दो प्रकार की हैं—अपरा तथा परा (७।४–५)। अपरा प्रकृति का ही दूसरा नाम है क्षेत्र तथा क्षर पुरुष। परा प्रकृति की अन्य संज्ञा है 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'अक्षर पुरुष'। परा उत्कृष्ट प्रकृति से तात्पर्य जीव से है (७।५) तथा अपरा, चैतन्य के अभाव से निकृष्टा, प्रकृति से अभिप्राय जीवेतर समस्त पदार्थों से है। समस्त भौतिक पदार्थों का ग्रहण 'क्षर' पुरुष के रूप में किया गया है (क्षरः सर्वाणि भूतानि—१५।१६) जिसका विकास अष्टविधा प्रकृति तथा चतुर्विंशति प्रकार के क्षेत्र के रूप में अन्यत्र प्रदर्शित किया गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यही अष्टधा भिन्ना अपरा प्रकृति है (७।४) तथा पञ्च महाभूत अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति), पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन तथा शब्द-स्पर्शादि पञ्च इन्द्रिय-विषय—यही चौबीस प्रकार का क्षेत्र है (१३।५)। इस प्रकार सांख्यों के २४ तत्त्वों का अन्तर्भाव गीतानुसार क्षेत्र, अपरा प्रकृति अथवा क्षर पुरुष में किया गया है। एक विषय और ध्यान देने योग्य है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (देह तथा इन्द्रियों

दो प्रकृतियाँ

का समूह), चेतना (प्राण शक्ति) तथा धृति—इन्हें गीता क्षेत्र का विकार मानती है (१३।६)। इनमें से इच्छा-द्वेषादिकों को वैशेषिक दर्शन आत्मा (क्षेत्रज्ञ) का गुण मानता है, परन्तु गीता की सम्मति में इनका सम्बन्ध क्षेत्रज्ञ से न होकर क्षेत्र से ही है।

चैतन्यात्मक होने से जीव परमेश्वर की परा प्रकृति अर्थात् उत्कृष्ट विभूति है। वही 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है। कृत कर्मों के फल धारण करने के

२ जीवतत्त्व

कारण या भोगायतन होने के हेतु शरीर की ही क्षेत्र (खेत) संज्ञा है। क्षेत्र के ज्ञाता को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। आत्मा चरण से लेकर मस्तक-पर्यन्त समग्र शरीर को स्वाभाविक अथवा उपदेश-द्वारा प्राप्त अनुभव से विभागपूर्वक स्पष्टतः जानता है, अतः उसे क्षेत्रज्ञ कहना उचित ही है। आत्मा का वर्णन भिन्न-भिन्न अध्यायों में किया गया है, विशेषतः द्वितीय अध्याय में। आत्मा षड्विकारों से रहित है। न तो वह जनमता है, न मरता है, वह सत्ता का अनुभव कर कभी अभाव को प्राप्त नहीं होता (भूत्वा न अभविता), वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुराण अर्थात् प्राचीन होने पर भी नवीन ही है। हन्यमान शरीर में कभी उसका हनन नहीं किया जा सकता (२।२०); अतः जो व्यक्ति उसे मारनेवाला, या मारे जानेवाला समझता है, वे दोनों उसके तत्त्व से अपरिचित हैं, क्योंकि वह न तो मारता है, न मारा जाता है (२।१९)। जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर नवीन वस्त्रों का ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव प्रारब्ध-भोग द्वारा जीर्ण (क्षीणकर्म) शरीरों को छोड़कर नये शरीरों को पाता है (२।२२)। वह स्वयं अविकार है; वह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य तथा अशोष्य है; वह नित्य सर्वव्यापी, स्थिर, अचल तथा सनातन है (२।२४)।

यह जीव नाना न होकर एक ही है। गीता में इस विषय में एक

उपमा की अवतारणा की गई है। जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्र को—शरीर को—प्रकाशित करता है (१३।३३); इस श्लोक में क्षेत्री की उपमा सूर्य से देकर उसकी एकत्व-भावना का सुस्पष्ट समर्थन है। जीव परमेश्वर का सनातन अंश है (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः—सनातनः—१५।७) भगवान् अंशी है तथा जीव अंश है। ब्रह्मसूत्र (२।३।४३–५३) का भी यही तात्पर्य है जिसमें यही गीतावाक्य स्मृति कहकर प्रमाणरूप में उल्लिखित किया गया है। यह अंशांशीभाव गीता के अनुसार किस प्रकार है? इसका स्पष्ट पता नहीं चलता। परवर्ती अद्वैती टीकाकारों ने प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेद-वाद का आश्रय लेकर इस कल्पना की उपपत्ति दिखलाई है, परन्तु ये सब कल्पनायें पीछे की जान पड़ती हैं।

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय भगवान् के कारण है। गीता के शब्दों में भगवान् सब भूतों का सनातन—अविनाशी बीज है (सनातनं बीजम् ७।१०) या अव्यय बीज है (बीजमव्ययम् ९।१८)। बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है तथा अन्त में फिर वह बीजमें लीन हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत् भगवान् से उत्पन्न होता है तथा फिर उन्हीं में लीन हो जाता है। जगत् के अवान्तर आविर्भाव काल को पौराणिक कल्पनानुसार ब्रह्मा का दिन कहते हैं तथा अवान्तर तिरोभाव-काल को ब्रह्मा की रात्रि कहते हैं (८।१८, १९)। गीता में सांख्यों की 'प्रकृति' स्वीकृति की गई है। गीता में प्रकृति को कहीं 'अव्यक्त' (८।१८; ८।२०) तथा कहीं 'महद् ब्रह्म' (१४।३) की संज्ञा दी गई है। सांख्य 'प्रकृति' से ही जगत् की उत्पत्ति मानता है, परन्तु गीता इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उसके मतानुसार प्रकृति का अध्यक्ष ईश्वर है। उसी की अध्यक्षता में प्रकृति जगत् को पैदा करती है,

३ जगत् तत्त्व

नहीं तो अचेतन जडात्मिका प्रकृति में इतना सामर्थ्य कहाँ से आता ?

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते ॥ (९·१०)

सब पशु-पक्षी आदि योनियों में उत्पन्न होने वाली मूर्तियों की योनि (उत्पत्ति स्थान) महद् ब्रह्म है तथा ईश्वर बीज रखनेवाला है (१४।४); अतः स्पष्ट है कि प्रकृति विश्व की मातृस्थानीया है तथा ईश्वर पितृस्थानीय है । इस प्रकार प्रकृति का स्थान ईश्वर से न्यून है । गीता 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' का प्रतिपादन करती है । यह सत्कार्यवाद है । अतः गीता की दृष्टि में जगत् मायिक तथा काल्पनिक न होकर सर्वथा सत्य तथा वास्तविक है ।

पुरुषोत्तम तत्त्व भगवद्गीता का परम रहस्य तथा महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्व माना जाता है । सांख्य की आलोचना के अनुसार जगत् की कारणभूता अजन्मा प्रकृति ही सबसे 'अव्यक्त' है । अतः सांख्य-ग्रन्थों में उसी के लिए 'अव्यक्त' का प्रयोग पाया जाता है । परन्तु गीतानुशीलन के अवसर पर याद रखना चाहिए कि 'अव्यक्त' तथा 'अक्षर' का प्रयोग व्यक्ताव्यक्त से परे, प्रकृति-पुरुष के ऊपर एक विशिष्ट तत्त्व के लिए भी किया गया है । वह तत्त्व है अक्षर ब्रह्म, परब्रह्म, जिसकी प्रकृति (अव्यक्त) निकृष्ट विभूति है । गीता में चञ्चला प्रकृति को क्षर तथा कूटस्थ अविकारी पुरुष को अक्षर कहा गया है, परन्तु वह परमतत्त्व जो प्रकृति को अतिक्रमण करने वाला है तथा अक्षर से उत्तम है 'पुरुषोत्तम' कहा गया है:—

४ पुरुषोत्तम

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (१५।१८)

अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम का पार्थक्य जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। जड़ जगत् से भिन्न चेतन ब्रह्म को या अव्यक्त प्रकृति भी से परे विद्यमान रहनेवाले सचेतन तत्त्व को 'अक्षर ब्रह्म' कहते हैं (८।२०–२१); परन्तु जो ईश्वर इस विश्व को व्याप्त करता हुआ भी इससे परे है, जगत् के समस्त पदार्थों में स्थित है अथ च उनसे पृथक् भी है—जो विश्वानुग होकर भी विश्वातिग है—वही ईश्वर 'पुरुषोत्तम' पद-वाच्य है। पूर्वोक्त श्लोक में पुरुषोत्तम क्षर को अतिक्रमण करनेवाले तथा अक्षर से उत्तम बतलाये गये हैं। 'अतीतः' उनके विश्वातिक्रमणकारी स्वरूप का परिचायक है तथा 'उत्तम' शब्द 'अक्षर' से उनकी उत्तमता का द्योतक है। गीता इसी पुरुषोत्तमको सर्वकर्मसमर्पण कर देने की शिक्षा देती है। इस प्रकार गीता में औपनिषद ब्रह्मवाद, सांख्य-सम्मत प्रकृति-पुरुषवाद तथा भागवतधर्माभिमत ईश्वरवाद का हृद्य समन्वय उपस्थित किया गया है।

गीता का व्यवहारपक्ष

गीता का अध्यात्मपक्ष जितना युक्तियुक्त तथा समन्वयात्मक है उसका व्यवहारपक्ष भी उतना ही मनोरम तथा आदरणीय है। गीता के जन्मकाल की परिस्थितियों के अध्ययन से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि गीता का प्रधान उद्देश्य व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करना था। परन्तु गीता के इस चरम लक्ष्य के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। श्रीशङ्कराचार्य के मत में गीता का मुख्य प्रयोजन निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादन है तथा ज्ञान ही उसका केवल उपाय है। श्रीरामानुजाचार्य भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्य के लिए भक्ति को ही सब श्रेष्ठ गीताभिमत उपाय बतलाते हैं। उनके मत में गीता का सारांश ज्ञान-दृष्टि से विशिष्टाद्वैत तथा आचार-दृष्टि से वासुदेव-भक्ति ही

विभिन्न मार्गों का सामञ्जस्य

है। वे भी कर्मसंन्यास के ही समर्थक माने जा सकते हैं, क्योंकि कर्माचरण से चित्तशुद्धि के सम्पन्न हो जाने पर प्रेमपूर्वक वासुदेवभक्ति में तत्पर रहने से सांसारिक कर्म का निष्पादन सिद्ध नहीं होता। इधर लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक ने 'गीतारहस्य' की रचना कर प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों में अरुचि दिखला कर भागवतधर्माभिमत प्रवृत्तिमार्ग को[1] गीता का लक्ष्य तथा कर्मयोग को तत्साधन बतलाया है। ग्रन्थकार ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण, व्यापक तथा प्राञ्जल युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। इन विद्वान् भाष्यकारों की युक्तियाँ अपने दृष्टिकोण से नितान्त सारगर्भित हैं, इसे कोई भी आलोचक मानने से नहीं हिचक सकता। परन्तु पूर्वोक्त मतों में गीता के उपदेशों की समता तथा व्यापकता पर पूर्णतः ध्यान नहीं दिया गया है। शास्त्रों ने मानवीय प्रकृति की भिन्नता का विचार कर चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विविध उपायों की व्यवस्था की है। चिन्तन का प्रेमी साधक ज्ञानमार्ग से; सांसारिक विषयों की अभिरुचि वाला पुरुष कर्ममार्ग से तथा अनुरागादि मानसिक वृत्तियों का विशेष विकास वाला व्यक्ति भक्ति की सहायता से अपने उद्देश्य पर पहुँच सकता है। इन भिन्न-भिन्न मार्गों के अनुयायी साधक अपने ही मार्ग की विशिष्टता तथा उपादेयता पर जोर देते हैं तथा अन्य मार्गों को नितान्त हेय बतलाते हैं। गीता के अध्ययन से ही पता चलता है कि उस समय भारतवर्ष में चार प्रकार के पृथक्-पृथक् मार्ग प्रचलित थे (१३।२४-२५)। इन चारों के नाम हैं—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। जो जिस मार्ग का पथिक था वह उसे ही सबसे बढ़िया मानता था; उसकी

---

१ नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः॥
—महाभारत (शान्तिपर्व ३४७।८०)

दृष्टि में मुक्ति का दूसरा मार्ग था ही नहीं। परन्तु भगवान् ने गीता का प्रचार कर इन विविध साधनाओं का अपूर्व समन्वय कर दिया है जिसका फल यह है कि जिस प्रकार प्रयागमें गंगा, यमुना तथा सरस्वतीकी धारायें भारतभूमि को पवित्र करती हुई त्रिवेणी के रूप में बह रही हैं, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति की धारायें मिल कर तत्त्वजिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा मिटाती हुईं भगवान् की ओर अग्रसर हो रही हैं। यह समन्वय गीता की अपनी विशिष्टता है। इस समन्वय को अच्छी तरह न समझने से गीता के अर्थ का महत्त्व ध्यान में नहीं आ सकता।

१ गीता तथा कर्मयोग

गीता से बहुत पहले पूर्व-मीमांसा कर्म के महत्त्व को स्वीकार करती है। मीमांसा के मत से वेद का कर्मकाण्ड ही सार्थक है, ज्ञानकाण्ड निरर्थक है। जैमिनि ने स्पष्ट शब्दों में कहा[१] है कि आम्नाय (वेद) का मुख्य प्रयोजन कर्म का प्रतिपादन है, अतः अतदर्थक—ज्ञानप्रतिपादक—वाक्य निरर्थक हैं। कर्म से अभिप्राय यज्ञ से है और यह यज्ञ है क्या? देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः अर्थात् किसी देवता-विशेष के लिए हविष्यादि द्रव्य का समर्पण करना। गीता ज्ञानकाण्ड की निरर्थकता से न सहमत है और न यज्ञका यह संकुचित अर्थ ही उसे पसन्द है। वह 'यज्ञ-चक्र' की उपादेयता को मानती है (३।१०–१६) क्योंकि इस चक्र में अन्न से लेकर ब्रह्म तक सब पदार्थ एक साथ अनुस्यूत हैं। परन्तु गीता ने 'यज्ञ' का प्रयोग एक विस्तृत अर्थ में किया है। निःस्वार्थ बुद्धि से लिये गए, परमात्मा की ओर ले जानेवाले, समस्त कर्मों की सामान्य संज्ञा 'यज्ञ' है। यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं—द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञान-यज्ञ आदि (४।२५–३२)। परन्तु गीता का कहना है

१ आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानाम्।
—मीमांसा सूत्र १।२।१

कि फलाकांक्षा की दृष्टि से न किये गये कर्म कभी बन्धन उत्पन्न नहीं कर सकते। कर्मचक्र से भला कभी कोई भाग सकता है ? यह जीवनयात्रा का प्रधान आधार कर्म ही है। एक क्षण के लिए भी कोई आदमी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृति के तीनों गुण ही बलात्कार उस प्राणी से कर्म कराते ही हैं (३।५)।

परन्तु कर्म के बीच एक दुर्गुण का निवास है जो कर्ता को बन्धन में डालने के लिए तैयार रहता है। इसका नाम है—वासना = फलाकांक्षा या आसक्ति। इस विषदन्त को तोड़ना आवश्यक है। जिस वस्तु की कामना से कर्म का निष्पादन किया जाता है, उस फल को तो भोगना ही पड़ेगा। उससे किसी प्रकार कर्ता को छुटकारा नहीं मिल सकता; परन्तु फलरूप बन्धन से मुक्ति भी पाई जा सकती है। कार्यों का इस प्रकार कुशलता से सम्पादन करना कि वे बन्धन न उत्पन्न करें 'योग' कहलाता है (योगः कर्मसु कौशलम्)। कर्मसंन्यास से बढ़कर कर्मयोग है (गीता ५।२) परन्तु साधारण कर्मवाद को कर्मयोग में प्रवर्तित करने के लिए तीन सोपानों की आवश्यकता है—(१) फलाकांक्षा का वर्जन, (२) कर्तृत्वाभिमान का परित्याग; (३) ईश्वरार्पण। गीता का उपदेश है कि मानव का अधिकार कर्म करने में है, फल में कभी नहीं है; फल की आकांक्षा से कभी कर्म मत करो तथा अकर्म में—कर्म के न करने में—कभी तुम्हारी इच्छा न होनी चाहिए—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गी० २।४७)

कर्मयोग का यही महामंत्र है। इस श्लोक के चारों पदों को हम कर्मयोग की 'चतुःसूत्री' कह सकते हैं। अतः आसक्ति को परित्याग कर

कर्म करने में किसी प्रकार की बुराई का तनिक भी डर नहीं है। (क) गीता का मान्य सिद्धान्त है कि प्राणी को *कर्म का* त्याग न करना चाहिये, प्रत्युत *कर्म के फल* का त्याग करना आवश्यक है। इसीलिए कुछ पण्डित लोग काम्य कर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं, परन्तु चतुर पण्डितों की सम्मति में सर्वकर्मों के फल का त्याग ही वास्तव संन्यास है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ (१८।२)

(ख) कर्ता को कर्म करने में कर्तृत्वाभिमान को भी छोड़ना चाहिए, क्योंकि समस्त जीव त्रिगुणात्मिका प्रकृति के गुणों का दास है, जो बलात्कार से प्राणियों से अनिच्छया भी कार्य कराया करते हैं। तब कर्तृत्व का अभिमान कहाँ? तीसरा सोपान यह है कि समस्त कार्यों को निष्पत्ति भगवदर्पण बुद्धि से करनी चाहिए। (ग) कर्मों के फल को भगवान् को समर्पण करना चाहिए। गीता (९।२७) में श्रीकृष्ण की स्पष्ट उक्ति है— "जीव जो कुछ करे, खावे, आहुति दे, दान करे या तपस्या करे, उन सब को भगवान् के समर्पण कर दे, इसका फल यह होगा कि वह कर्म-बन्धन शुभाशुभ फलों से मुक्त हो जावेगा।" इस प्रकार कर्मयोग की निष्पत्ति होती है। अज्ञ तथा पण्डित के कर्म करने में यही तो सुस्पष्ट अन्तर है। अज्ञ आसक्ति से कर्मों का आचरण करता है, परन्तु ज्ञान-सम्पन्न पुरुष आसक्ति से रहित होकर कार्यों का आचरण कर्तव्य-बुद्धि से 'लोक संग्रह' के निमित्त करता है (३।२५) 'लोक संग्रह' गीता का एक सारगर्भित विशिष्ट शब्द है। इस शब्द से अभिप्राय लोककार्यों का यथावत् रूप से निर्वाह करना है।

संक्षेप में कर्म तथा फल के विषय में चार सिद्धान्त हो सकते हैं—

(१) आलस्यवश फलाकांक्षा न रखना और न उसके लिए कर्म सम्पादन करना। यह प्राकृत जन-सम्मत-मार्ग निकृष्ट, निन्द्य तथा हेय है। (२) फल की आकांक्षा रखना तथा तदुचित कर्मों का निष्पादन करना—यह 'सकाम' मार्ग है जिसमें कर्मबन्धन उत्पन्न करते हैं। (३) फल की अनावश्यकता के कारण आकांक्षा न रखना तथा कर्मों का सम्पादन न करना—यह निष्काम-मार्ग है, परन्तु इसमें लोक-यात्रा का निर्वाह भली भाँति नहीं हो सकता। (४) फल की आकांक्षा न रखना, तथापि कर्मों का सम्पादन करना—यही गीता-सम्मत कर्मयोग है। इसमें द्वितीय तथा तृतीय मतों का समन्वय है जिसमें 'फल की आकांक्षा का अभाव' तृतीय मार्ग से गृहीत है तथा 'कर्मनिष्पत्ति' द्वितीय मार्ग से। इस उभय-विलक्षण मार्ग की सुचारु योजना उपस्थित करने में गीता की विशिष्टता है।

पक्के कर्मयोगी होने के लिए ज्ञान तथा भक्ति के मिश्रित साधन की नितान्त आवश्यकता है। ज्ञानी पुरुष ही कर्म से कर्तृत्वाभिमान का परिहार कर सकता है तथा ईश्वर में कर्मों का समर्पण भक्तिप्रवण चित्त से ही किया जा सकता है। गीता ज्ञानमार्ग के महत्त्व को स्वीकार करती है। परन्तु उसका ज्ञानयोग अन्य ज्ञानमार्ग से विलक्षण है। ज्ञानवादी (जैसा सांख्य) जिसे मोक्षप्राप्ति का साधन बतलाते हैं वह चित्-अचित्, प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान है, परन्तु गीतासम्मत ज्ञान आत्मा के एकत्व का सम्पूर्ण अनुभव है। इस ज्ञान की दो दिशायें हैं (६।२९)—सर्वभूतों में आत्मा का दर्शन (सर्वभूतस्थमात्मानं) एक दिशा है, जिसमें सर्वभूत आधार तथा आत्मा आधेय है; परन्तु इतना ही ज्ञान आत्मैकत्व की उन्नत भावना के लिए पर्याप्त नहीं है। इसकी दूसरी दिशा भी है—आत्मा में सब भूतों को देखना (सर्वभूतानि चात्मनि) इसमें आधारभूत आत्मा में आधेयभूत सर्वभूतों का

२ गीता तथा ज्ञानयोग

अनुभव करना है। गीताज्ञान की ये दोनों दिशायें परस्पर पूरक हैं। ऐसा पुरुष 'समदर्शन' कहलाता है। सर्वभूतस्थमात्मानं' का दृष्टान्त जगत में सर्वत्र उपलब्ध होता है, परन्तु 'सर्वभूतानि चात्मनि' के दृष्टान्त को भगवान् ने अर्जुन को अपने देवदुर्लभ विराट् रूप में दिखलाया है। एक विराट् आत्मा के भीतर एक जगह पर अनेकधा विभक्त कृत्स्न जगत् को अर्जुन ने दिव्य चक्षु से देखा। विराट् दर्शन का रहस्य 'एकस्थं कृत्स्नं जगत्' के प्रत्यक्ष दिखलाने में है। तब अर्जुन का आत्मैकत्व ज्ञान यथार्थ हुआ। परन्तु ऐसा सच्चा ज्ञानी महात्मा होना बिल्कुल दुर्लभ बात है जो सब किसी को वासुदेव समझे, स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक प्राणियों में एक ही अन्तर्यामी पुरुष का साक्षात्कार करे (वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः—७।१९)। ऐसे समदृक् पुरुष को विद्याविनय-सम्पन्न ब्राह्मण में, बैल में, हाथी में, कुत्ते में तथा चाण्डाल में समदृष्टि रहती है (५।१८)। 'समदर्शिनः' शब्द का प्रयोग कर गीता समस्त प्राणियों से एक प्रकार के व्यवहार करने का, समवर्ती बनने का निषेध करती है। इसे भूलना न चाहिए कि गीता समदर्शिनः' शब्द का प्रयोग करती है, 'समवर्तिनः' शब्द का नहीं।

३ गीता तथा ध्यानयोग

गीता ने ध्यानयोग को भी अपनाया है। छठे अध्याय में ध्यानयोग का विशद वर्णन उपनिषद्-पद्धति के अनुसार है। इस वर्णन में श्वेताश्वतर (२।८–१५) की झलक साफ़ तौर से दीख पड़ती है। गीता चञ्चल मन को एकाग्र करने के लिए आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि समस्त योग-साधनों का उपदेश देती है (६।११–१८), परन्तु ध्यान के द्वारा एकसंस्थ चित्त का उपयोग क्या है ? अखिलाधार भगवान् में उसका अर्पण करना। विषय-पंक से अशुद्ध, कलुषित चित्त को भगवान् को मनुष्य द्वारा अर्पण करना

ठीक नहीं, परन्तु प्राणायामादि से परिष्कृत शुद्ध चित्त को ही भगवान् के आश्रय में लगाना चाहिए। गीता (६।३१) कहती है कि जो योगी एकत्व की भावना कर सब भूतों में निवास करने वाले भगवान् को भजता है, वह जिस किसी अवस्था में रहने पर भी भगवान् के ही साथ रहता है। अतः गीता शुष्क ध्यान का पक्षपात नहीं रखती है। उसके अनुसार तो ध्यानयोग का उपयोग एकाग्र चित्त से सर्वत्र वर्तमान, घटघट में व्यापक भगवान् के भजन करने में है (६।२८)। भगवान् ने (६।४६) योगी का स्थान तपस्वी, ज्ञानी तथा कर्मी—इन तीनों से बढ़ कर बतलाया है तथा योगी होने का उपदेश दिया है। योगी भी गीता के अनुसार दो प्रकार का होता है—युक्त तथा युक्ततम। ज्ञान विज्ञान से तृप्त अन्तःकरण वाला, मिट्टी, पत्थर तथा सोने को एक समान समझने वाला, जितेन्द्रिय, विकार-रहित योगी 'युक्त' कहलाता है (६।८), परन्तु इन 'युक्त' योगियों में भी वही सर्वश्रेष्ठ—युक्ततम है जो अपने अन्तरात्मा को भगवान् में लगाकर पूरी श्रद्धा रखता हुआ भगवान् का निरन्तर भजन करता है:—

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना !
> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६।४७)

ध्यानयोग का यही निष्कर्ष है। श्रद्धापूर्वक अन्तर्निविष्ट हृदय से बिना भगवान् के भजन किये ध्यानयोग केवल शारीरिक व्यायाममात्र है, काया को कष्ट पहुँचाना है। अतः गीता को ध्यान तथा भक्ति का सामञ्जस्य अभीष्ट है।

भक्तियोग गीता-ज्ञान का अमृत फल है। यह सब विद्याओं का राजा है (राजविद्या) तथा समस्त रहस्यों का रहस्य (राजगुह्य—९।२) है। गीता का हृदय भक्ति है। विविध साधनों की आलोचना से हम इसी

तत्त्व पर पहुँचते हैं कि बिना भक्तिसे सम्पुटित हुए उनका आचरण अधूरा है, अपूर्ण है। विराट् रूप के दर्शन के अन्त में इस रूप के दर्शक की साधना बतलाते समय श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रतिपादित किया है कि यह देव-दुर्लभ रूप न वेद, न तपस्या, न दान, न इज्या के द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है (११।५३)। इसका एकमात्र साधन है—अनन्या भक्ति। इसी के द्वारा जीव भगवान् को प्रत्यक्ष देख सकता है, तत्त्वतः जान सकता है तथा प्रवेश कर सकता है–भगवान् के साथ ऐक्य भावको प्राप्त हो सकता है (८।२२, ११।५४)। पर अनन्या भक्ति किसे कहते हैं? गीता ने इस भक्ति को इस श्लोक में समझाया है:—

४ गीता तथा भक्तियोग

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ (११।५५)

यज्ञ, दान, तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को भगवान् का ही समझ कर करने वाला, भगवान् को परम आश्रय मानकर उनकी प्राप्ति के लिए सतत उद्योगशील (मत्परमः), भगवान् की सच्ची भक्ति करने वाला, आसक्ति रहित, सम्पूर्ण प्राणियों में बैरभाव से रहित पुरुष अनन्य भक्त कहलाता है। ऐसे भक्ति का फल भगवत्-प्राप्ति ही है। गीता सकाम (९।२०, २१) तथा निष्काम उपासना[1] (९।२२) के भेद को मानकर

१ 'उपासना' के तात्पर्य को शङ्कराचार्य ने बड़े सुबोध शब्दों में समझाया है—उपासनं नाम यथाशास्त्रं उपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यद् आसनं तद् उपासनमाचक्षते अर्थात् उपास्य वस्तुको शास्त्रोक्त विधिसे बुद्धि का विषय बनाकर उसके समीप पहुँचकर तैलधारा की तरह समान-वृत्तियों के प्रवाह से जो दीर्घकाल तक उसमें स्थित रहना है उसे 'उपासना' कहते हैं। द्रष्टव्य गी० १२।३ पर शाङ्कर भाष्य।

अन्तिम को श्रेष्ठ बतलाती है (९।२६, २७); वह निराकार उपासना को नितान्त क्लेशकर बतलाकर (१२।५) सगुण उपासना का उपदेश देती है (१२।६–८)। गीता के भक्तियोग में अन्य साधनों से भी अविरोध है। आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्तों से कहीं बढ़कर ज्ञानी भक्त का स्थान है। ज्ञानी भक्त तो भगवान् का आत्म-स्वरूप है (ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्—७।१८) अतः भक्तों में वही सर्वश्रेष्ठ होता है (तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते—७।१७)।

इस प्रकार गीता भिन्न-भिन्न मार्गों में समन्वय प्रदर्शित कर साधनमार्ग को सुगम तथा सुलभ बना देती है। गीता की सम्मति में कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्तियोग भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र साधन-सरणी न होकर एक ही मार्ग के विभिन्न टिकान हैं जिन्हें आध्यात्मिक पथिक को पार करना आवश्यक होता है। अठारहवें अध्याय में इन मार्गों का परस्पर सामञ्जस्य संक्षेप में दिखलाया गया है। गीता के साधन-मार्ग का आरम्भ निष्काम-कर्म से तथा पर्यवसान शरणागति से है। निष्काम-कर्म करने से तथा नियमपूर्वक ध्यानयोग के अभ्यास से साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है जिस दशा में वह प्रसन्न-चित्त होकर समस्त प्राणियों में समता का भाव रखता है (१८।५१–५३)। इस ब्राह्मी स्थिति के उदय होने पर साधक परा भक्ति—परमेश्वर में उत्कृष्ट भक्ति—को प्राप्त करता है (१८।५४) तथा भक्ति के उदय होने से वह 'पर ज्ञान' का अधिकारी होता है जिसके द्वारा वह भगवान् के स्वभाव तथा स्वरूप (यश्चास्मि), विभूति तथा गुण को (यावान्) यथार्थ रूपेण जानता है। इसका फल भगवत् प्रवेश—ईश्वरोपलब्धि है (१८।५५); परन्तु इस अन्तिम फल के लिए प्रपत्ति की नितान्त उपयोगिता है। गीता का 'सर्वगुह्यतम' ज्ञान यही है कि हृदयस्थित अन्तर्यामी ईश्वर के शरण में जाकर सब धर्मों का

५ समन्वय-मार्ग

परित्याग कर दे। कर्मोंका स्वरूपतः परित्याग न करे, अपितु ईश्वर को समर्पण-बुद्धि से उनका निष्पादन करे (१८।६६)। प्रपत्ति-मार्ग अन्य मार्गों का एक नैसर्गिक पर्यवसान है। गीता का गुह्यतम ज्ञान यही है:—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ (९।३४)

गीता के साधन-मार्ग की जानकारी के लिए यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किञ्चित् पाठभेद से यह श्लोक गीता में दो बार आया है (९।३४; १८।६५)। एक प्रकार से यह गीता का सार है। इसका तात्पर्य यह है कि जितने विभिन्न साधन विद्यमान हैं, ईश्वर उनके केन्द्र में स्थिर रहने वाला है। उसी को लक्ष्य में रखने से विभिन्न साधनों का अपूर्व सामञ्जस्य निष्पन्न होता है। श्लोक का तात्पर्य यह है कि मन लगाना चाहिए भगवान् में (ज्ञानयोग), भक्ति करनी चाहिए भगवान् की (भक्ति-योग), यज्ञ करना चाहिए भगवान् के निमित्त (कर्मयोग) तथा आश्रय देना चाहिए भगवान् का ही (शरणागति)—इस प्रकार इन विविध मार्गों का अविरोध भगवन्निष्ठ होने से ही होता है। गीताकार "मत्परायण" शब्द को श्लोकान्त में रख कर तथा इसे 'सर्वगुह्यतमं वचनं' कह कर (१८।६४) शरणागति की श्रेष्ठता स्पष्टतः प्रतिपादित करते हैं।

इन साधनों के फल का भी वर्णन गीता ने विस्तार के साथ किया है। आत्मा को जानने वाले, परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने वाले

६ सिद्धावस्था

ज्ञानी को गीता भिन्न भिन्न नामों से पुकारती है। वह स्थित-प्रज्ञ है (२।५२), भक्त है (१२।१३), त्रिगुणातीत है (१४।२२–२७), ब्रह्मभूत है (१८।५४)। ऐसे ब्रह्मभूत की स्थिति ब्राह्मी स्थिति (२।७२) कहलाती है। साधनाओं का चरम लक्ष्य चरमतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान है। यह ज्ञानमार्ग से, भक्तिमार्ग से, सांख्य से समभावेन

प्राप्य है। इसी लिए गीता में सिद्ध पुरुष के लिए भिन्न भिन्न संज्ञाओं का व्यवहार किया गया है। पर तत्त्व है एक ही। सिद्ध पुरुष सब प्राणियों का अद्वेष्टा, सब का निःस्वार्थ प्रेमी, दयालु, ममता तथा अहंकार से रहित सुख तथा दुःख की प्राप्ति में सम, शान्तचित्त तथा क्षमावान् होता है (१२।१३) वह अपने मनोगत समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है, अपने से ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, दुःखों के बीच वह उद्वेग-रहित रहता है तथा सुखों की प्राप्ति होने पर वह स्पृहा नहीं रखता, सर्वत्र आत्मस्वरूप को देखने के कारण राग, भय तथा क्रोध के भावों से वह सर्वदा उन्मुक्त रहता है। ऐसे पुरुष की ही संज्ञा है—स्थितप्रज्ञ, स्थितधी तथा प्रतिष्ठितप्रज्ञ (२।५५–५८)। गीता के अनुसार मानवजीवन के लिए यही आदर्श है। सफल जीवन के परखने की यही कुञ्जी है। 'जीवन्मुक्ति' के औपनिषद आदर्श का वर्णन क्या इससे सुन्दर, सरल तथा रोचक शब्दों में मिल सकता है?

भगवान् को स्मरण करते हुए इस संसार-युद्ध में प्रवृत्त होने तथा अपने समस्त धार्मिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का यथावत् पालन करते रहने–मामनुस्मर युध्य च—की गीता-शिक्षा आज भी उसी प्रकार उपयोगी तथा उपादेय है जिस प्रकार महाभारतकाल में थी। भारतीय धर्म तथा दर्शन का यह इतना प्रामाणिक तथा प्राञ्जल, सरल तथा सरस सारांश है कि शास्त्र इसी के अध्ययन करने का उपदेश देते हैं। शास्त्र-विस्तार से लाभ क्या? 'गीता' को ही 'सुगीता' करना चाहिए। (गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः—गीतामाहात्म्य)। गीता का ज्ञान पुण्यसलिला गङ्गा के जल के समान पावन, पवित्र तथा कलिकल्मषनाशन है जिसमें स्नान कर कौन मनुष्य विधूतपाप नहीं हो जाता? गीताकल्पद्रुम की शीतल छाया के आश्रय लेने पर सब की मनोवाञ्छा सफल होती है।

नास्तिक दर्शन

दर्शन के दो प्रधान भेद हैं—(१) आस्तिक और (२) नास्तिक। आस्तिक वह है जो वेद में श्रद्धा रक्खे और नास्तिक वह है जो वेद का निन्दक हो। 'नास्तिको वेदनिन्दकः'। वेद को प्रमाण न मानने वाले दर्शन 'नास्तिक' और वेद में श्रद्धा रखने वाले दर्शन 'आस्तिक' कहलाते हैं। नास्तिक दर्शन में तीन मुख्य हैं—(१) चार्वाक (२) जैन (३) बौद्ध।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन नितान्त भूतवादी है। खाओ-पीओ मौज उड़ावो—इस सिद्धान्त का प्रचार करने के कारण इसे 'चार्वाक' संज्ञा प्राप्त हुई है। परन्तु अधिक सम्भव है कि चारु वाक् से 'चार्वाक' शब्द बना। चार्वाक वह हुआ जो सांसारिक सुख को ही जीवन का अन्तिम ध्येय बतला कर अपनी चारु वाक् से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करे। इसके मूलसूत्र के रचियता कोई *आचार्य बृहस्पति* हैं। ये सूत्र दर्शन ग्रन्थों में उद्धृत किये गये मिलते हैं। चार्वाक लोग प्रत्यक्षवादी हैं। वे अनुमान या शब्द-प्रमाण की सत्ता नहीं मानते। पृथ्वी, जल, तेज, वायु—इन चार भूतों से ही यह जगत् बना हुआ है। पृथ्वी आदि चार भूतों के सम्मिश्रण से इस शरीर की उत्पत्ति हुई है और चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः'। जिस प्रकार पान, सुपारी, खैर, चूना के संयोग से पान में लालिमा स्वयं उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार जड़ भूतों के मिलने से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। ये लोग ईश्वर नहीं मानते। ये पक्के स्वभाववादी हैं। स्वभाव से ही जगत् उत्पन्न होता और नष्ट होता है। मरण को ही मोक्ष मानते हैं। इस जगत् के बाद स्वर्ग नामक

लोक में आस्था नहीं रखते। वे आधिभौतिक सुखवाद के अनुयायी हैं। चार्वाकों का यह सिद्धान्त सर्वत्र प्रसिद्ध है कि जब तक जीवो सुख से जीवो। ऋण लेकर भी घी पीओ। क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर भला जीव का पुनरागमन होता है ?—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

जैन दर्शन

जैनमत बौद्धमत से भी प्राचीन है। जैनियों के अनुसार इनके धर्म के प्रथम प्रचारक (तीर्थङ्कर) *ऋषभदेव* थे। जैनीलोग चौबीस तीर्थङ्कर मानते हैं जिनमें अन्तिम दो तीर्थङ्कर *पार्श्वनाथ* और *महावीर* निःसन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति थे। पार्श्वनाथ का जन्म ईस्वी पूर्व अष्टम शताब्दी में तथा महावीर का काल ई० पूर्व षष्ट शताब्दी माना जाता है। जैनधर्म का मूल सिद्धान्त अर्धमागधी भाषा में निबद्ध है। सिद्धान्त ग्रन्थों की संख्या ४५ है जिनमें ११ अंग, १२ उपाङ्ग, १० प्रकीर्ण, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र तथा २ स्वतन्त्र ग्रन्थ (नन्दीसूत्र तथा अनुयोग द्वार-सूत्र) हैं। जैनों का दार्शनिक साहित्य भी बड़ा विशाल तथा विद्वतापूर्ण है। आरम्भ काल के आचार्यों में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति, प्रपञ्चसार आदि के निर्माता कुन्दकुन्दाचार्य तथा आप्तमीमांसा के कर्ता समन्तभद्र मुख्य हैं। इनका समय ईसा की तीसरी शताब्दी तक समाप्त हो जाता है। मध्ययुग के आचार्यों में सिद्धसेन दिवाकर (५ श०), हरिभद्र (८ श०), भट्ट अकलङ्क (८ श०), तथा विद्यानन्द (९ श०) हैं। हेमचन्द्र (१०८८–११७२ ई०) ने निखिल-शास्त्र-निपुणता तथा बहुज्ञता के कारण 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि प्राप्त की थी। उनका 'प्रमाण-मीमांसा' नितान्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है।

जैन दर्शन में मोक्ष के तीन साधन हैं—(१) सम्यग् दर्शन (श्रद्धा) (२) सम्यग् ज्ञान (जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष इन सात पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान), (३) सम्यग् चारित्र। चारित्र की सिद्धि के लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतों का पालन नितान्त आवश्यक है। जैन धर्म की आचारमीमांसा बड़ी ही मार्मिक तथा उपादेय है। प्रकारान्तर से जैन दर्शन ६ द्रव्यों को मानता है। एक देशव्यापी द्रव्य 'काल' है। बहु-प्रदेशव्यापी द्रव्यों को 'अस्तिकाय' कहते हैं। सत्ता धारण करने के कारण वे 'अस्ति' तथा शरीर के समान विस्तार से समन्वित होने के कारण वे 'काय' कहलाते हैं। ऐसे द्रव्य पाँच हैं—जीव, पुद्गल (भूत), आकाश, धर्म तथा अधर्म। स्यादवाद् तथा सप्तभङ्गीनय जैन न्याय की विशेषता है।

बौद्ध दर्शन

भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रतिष्ठित धर्म 'बौद्ध' कहलाता है। उसका विशाल साहित्य है। बुद्ध ने अपने उपदेश उस समय की लोकभाषा पाली में दिया था। उनके मूल ग्रन्थ त्रिपिटक के नाम से विख्यात है। महायान धर्म के ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये। इस ग्रन्थ के प्रधान चार सम्प्रदाय हैं—(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार और (४) माध्यमिक।

सत्ता के सिद्धान्त के विषय में भिन्न-भिन्न मत रखने के कारण इन चार सम्प्रदायों का उदय हुआ है। वैभाषिक लोगों के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ—चाहे वे बाहरी जगत् से सम्बन्ध रखते हों या भीतरी जगत् से सम्बद्ध हों—सब सच्चे हैं। और इस बात का पता प्रत्यक्ष के

द्वारा लगता है। इसका दूसरा नाम है 'सर्वास्तिवाद'। सौत्रान्तिक मत भी बाहरी पदार्थों को सत्य मानता है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि अनुमान के द्वारा। योगाचार का दूसरा नाम 'विज्ञानवाद' है क्योंकि वह विज्ञान अथवा चित्त को ही एकमात्र सत्य मानता है। माध्यमिक का दूसरा नाम है 'शून्यवाद' क्योंकि इस मत में जगत् के समस्त पदार्थ शून्यरूप हैं। इन चारों मतों के सिद्धान्तों को एकत्र जानने के लिये यह श्लोक बड़ा उपयोगी है:—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

बौद्ध साहित्य

इन संप्रदायों का बड़ा विशाल साहित्य है और वह संस्कृत में ही निबद्ध है। कुछ ग्रन्थ तो मूल संस्कृत में उपलब्ध हैं। परन्तु अधिकांश साहित्य संस्कृत में नष्ट हो गया है। उसका परिचय हमें चीन तथा तिब्बत की भाषाओं में किये गये अनुवादों से ही चलता है। वैभाषिक सिद्धान्तों का परिचय हमें वसुबन्धु के विख्यात ग्रन्थ 'अभिधर्म्मकोष' से चलता है। ये पेशावर के कौशिकगोत्री ब्राह्मण के पुत्र थे। प्रौढ़ावस्था में अयोध्या में ही रहते थे। पहले वे सर्वास्तिवादी थे परन्तु अपने ज्येष्ठ भ्राता असङ्ग के उपदेश से ये अन्त में विज्ञानवादी हो गये। इस विज्ञानवाद के प्रवर्तक आर्य मैत्रैय या मैत्रेयनाथ थे जिनके पाँच ग्रन्थों में 'अभिसमयालंकार' तथा 'मध्यान्त-विभाग' मूल संस्कृत में प्रकाशित हो गये हैं। परन्तु विज्ञानवाद का प्रसार किया 'असङ्ग' तथा 'वसुबन्धु' ने।

आचार्य वसुबन्धु तृतीय शतक के बड़े भारी प्रौढ़ तथा प्रसिद्ध दार्शनिक थे। इनके सबसे प्रसिद्ध शिष्य 'दिङ्नाग' थे जिनका 'प्रमाण समुच्चय' बौद्धन्याय की प्रतिष्ठा करने वाला नितान्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसी सम्प्रदाय में सप्तम शताब्दी के प्रथमार्द्ध में 'धर्मकीर्ति' नामक विख्यात बौद्ध दार्शनिक हुए, जिनका 'प्रमाणवार्तिक' विज्ञानवाद के सिद्धान्त जानने के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

शून्यवादियों में आचार्य नागार्जुन (तृतीय शतक) आर्यदेव (तृतीय शतक), स्थविर बुद्धपालित (पञ्चम शतक), भाव-विवेक, चन्द्रकीर्ति (सप्तम शतक) तथा शान्तरचित (अष्टम शतक) आदि मुख्य हैं। ये आचार्य लोग बौद्ध दार्शनिक जगत् की बड़ी विभूति हैं जिनके ग्रन्थ शून्यवाद के गूढ़ सिद्धान्तों को प्रतिपादन करनेवाले हैं। महायान संप्रदाय ही पिछली शताब्दियों में मंत्र-शास्त्र के योग से मंत्र-यान, वज्रयान तथा कालचक्रयान के रूप में विकसित हो गया। इन संप्रदायों में मन्त्र तथा यन्त्र की बहुलता है। इनका प्रचार तिब्बत तथा नैपाल में विशेष रूप से हुआ जहाँ वे आज भी विद्यमान हैं। इन संप्रदायों के आचार्यों के द्वारा लिखा गया महत्त्वपूर्ण साहित्य है। यह साहित्य नैपाल तथा तिब्बत में उपलब्ध है और धीरे धीरे प्रकाशित हो रहा है।

आस्तिक दर्शनों का अभ्युदय

(१) न्याय-दर्शन

न्याय दर्शन का अध्ययन विक्रम के जन्म के पूर्व से लेकर आजतक निरवच्छिन्न रूप से चल रहा है। इस दर्शन का साहित्य इतना विशाल

हैं कि प्रकाशन के इस युग में भी उसका एक बड़ा भाग अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया है। इस दर्शन के अभ्युदय-काल को उन मनीषियों ने अलंकृत किया था जिनकी तार्किक बुद्धि की तुलना करना नितान्त दुरूह है।

न्याय के दो रूप

इसकी दो धारायें हैं—पहली धारा सूत्रकार गौतम से आरम्भ होती है जिसे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि सोलह पदार्थों के यथार्थ विवेचन होने के कारण 'पदार्थ-मीमांसात्मक' (कैटेगोरिस्टिक) प्रणाली कहते हैं। दूसरी प्रणाली को 'प्रमाण-मीमांसात्मक' (एपिस्टोमोलाजिकल) कहते हैं जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाणों के अङ्ग-प्रत्यंग का खूब सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस धारा का उदय पहले पहले मिथिला के गङ्गेश उपाध्याय (१२ शताब्दी विक्रमी) के युगप्रवर्तक ग्रन्थ 'तत्त्व-चिन्तामणि' से होता है। पहली धारा को 'प्राचीन-न्याय' तथा दूसरी को 'नव्यन्याय' के नाम से पुकारते हैं।

न्यायसूत्रों की रचना विक्रम से पूर्व चतुर्थ शतक में हुई थी। *वात्स्यायन* (वि० द्वितीय शतक) न्याय के भाष्यकार हैं जिन्होंने अपना भाष्य लिखकर न्यायसूत्रों के दुरूह अर्थों को बोधगम्य बनाया। यह समय ब्राह्मण तथा बौद्धन्याय के संघर्ष का युग था। उभय पक्ष के तार्किक अपने प्रतिपक्षियों की युक्तियों का खण्डन कर अपने सिद्धान्त के मण्डन में व्यस्त थे। भाष्य का खण्डन बौद्ध के नैयायिक दिङ्नाग ने अपने प्रमाण-समुच्चय आदि ग्रन्थों में जिसका खण्डन *उद्योतकर* (षष्ठ शतक) ने भाष्य के ऊपर 'वार्तिक' लिखकर दिङ्नागीय आक्रमणों से क्षीणप्रभन्याय-विद्या की विमल आभा को सर्वत्र विस्तार कर दिया। धर्मकीर्तिने 'न्याय-वार्तिक' की शैली पर 'प्रमाण-वार्तिक' लिखा और उद्योतकर के मत का खण्डन

न्याय दर्शन का साहित्य

किया। तब *वाचस्पति मिश्र* (नवम शतक) ने वार्तिककार की 'अतिजरती' वाणी के मर्म को समझाने के लिए 'तात्पर्य-टीका' का प्रणयन किया तथा *जयन्त* भट्ट ने चुने हुए सूत्रों के ऊपर 'न्यायमञ्जरी' नामक प्रमेय-बहुला वृत्ति लिखी जिसमें चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त का खण्डन प्रबल तथा पाण्डित्यपूर्ण युक्तियों के द्वारा अत्यन्त मनोरम तथा रोचक भाषा में किया गया है। दशम शतक में आचार्य *उदयन* ने 'तात्पर्य-परिशुद्धि' में वाचस्पति के तात्पर्य को व्यक्त करने का सफल उद्योग किया। वाचस्पति तथा उदयन दोनों मिथिला के निवासी थे तथा ये अपनी मौलिक चिन्ता तथा अलौकिक शेमुषी के लिए विद्वत्समाज में गौरवपूर्व स्थान रखते हैं। 'नव्यन्याय' के जन्मदाता *गङ्गेश उपाध्याय* (१२श०) भी मिथिला के ही निवासी थे। उनका 'तत्त्व चिन्तामणि' वस्तुतः न्याय-तत्त्वों के प्रकाशन के लिए चिन्तामणि ही है। गङ्गेश के ही हाथों में पुराना 'पदार्थशास्त्र' अब सर्वाङ्गपूर्ण 'प्रमाणशास्त्र' बन गया। अवच्छेदक-अवच्छिन्न, निरूपक-निरूप्य आदि विचार-मापक शब्दावली की उद्भावना कर शास्त्रीय भाषा की वह शैली निर्धारित की गई जो सचमुच दार्शनिक जगत् में युगान्तरकारिणी सिद्ध हुई। १५ वीं शताब्दी में बंगाल में नवद्वीप के विद्यापीठ की स्थापना हुई। तब से लेकर १७ वीं तक का काल नव्यन्याय का सुवर्णयुग माना जाता है। इसी युग में *रघुनाथ शिरोमणि* (१६श०) ने 'तत्त्वचिन्तामणि' को 'दीधिति' से विभूषित किया, *मथुरानाथ तर्क-वागीश* ने चिन्तमणणि तथा दीधिति पर 'रहस्य' नाम्ना टीकायें लिखीं, *जगदीश भट्टाचार्य* (१७ श०) ने 'जागदीशी' तथा *गदाधर भट्टाचार्य* ने (१७ श०) वृहत्काय 'गादाधरी' लिखकर दीधिति के निगूढ अर्थ का प्रकाशन भली भाँति किया। इस प्रकार नव्यन्याय के अवान्तर इतिहास में यदि रघुनाथ शिरोमणि तार्किक वादवृषभों के मुकुटमणि हैं, तो गदाधर

तार्किकों में वह सम्राट् हैं जिनके मस्तक को यह मणिमण्डित मुकुट सुशोभित कर रहा है।

न्याय दर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान–इन षोडश पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के द्वारा निःश्रेयस का अधिगम मानवजीवन का परम लक्ष्य माना गया है।

न्याय की दृष्टि

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, परन्तु शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति का साधन कौन सा है? इन साधनों की यथार्थ मीमांसा न्याय-दर्शन की दार्शनिक जगत् को महती देन है। न्याय ने प्रमाणों का तथा हेत्वाभासों का बड़ा ही प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है जिसका उपयोग अन्य दर्शन भी पर्याप्त मात्रा में करते हैं। न्याय की दार्शनिक दृष्टि बहुत्व-संवलित यथार्थवाद की है। इस विश्व के मूल में परमाणु, आत्मा, ईश्वर ऐसे नित्य पदार्थ विद्यमान हैं जिनके कारण ही इस जगत की सत्ता होती है। हमारी इन्द्रियों के सहारे जो जगत् दृष्टिगोचर होता है, वह वस्तुतः सत् है। परमाणु इसका समवायी कारण है तथा ईश्वर निमित्त कारण है। ईश्वर अनुमान के द्वारा गम्य है। उसकी इच्छा होने पर एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर 'द्व्यणुक' की सृष्टि करता है तथा तीन द्व्यणुकों के परस्पर योग से 'त्रेणुक' या त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है और इसी प्रकार आकाशादिक्रम से पञ्चतत्त्व उत्पन्न होते हैं। न्यायमत में मुक्ति में सुख तथा दुःख उभय मनोवृत्तियों का नाश होने पर मन साम्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। सुख के साथ राग का संबंध रहता है तथा यही राग बन्धन का कारण बनता है। अतः मोक्ष में न दुःख विद्यमान रहता है, न सुख। जीवन्मुक्ति को अपर निःश्रेयस तथा विदेहमुक्ति को पर-

निःश्रेयस कहते हैं। मिथ्याज्ञान के कारण ही दोष, प्रवृत्ति, जन्म तथा दुःख की उत्पत्ति होती है। इस मिथ्याज्ञान का नाश तत्त्वज्ञान से होता है। आत्मा का साक्षात्कार नितरां आवश्यक है तथा इसके लिए यम, नियम आदि योगप्रसिद्ध उपायों का अवलम्बन श्रेयस्कर है। ध्यान धारणादि उपायों के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार तथा चित्त की सुख-दुःख से विरहित साम्यावस्था को प्राप्त करना न्याय का चरम लक्ष्य है।

(२) वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन न्यायदर्शन के साथ अनेक सिद्धान्तों में समानता रखने के कारण 'समान तन्त्र' स्वीकृत किया गया है। इसमें 'सत्य' की जो मीमांसा प्रस्तुत की गई है वह भौतिक विज्ञान की दृष्टि को सामने रखकर

वैशेषिक की दृष्टि

की गई है। न्याय का प्रधान लक्ष्य अन्तजगत् तथा ज्ञान की मीमांसा है, तो वैशेषिक का मुख्य तात्पर्य बाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा है। वैशेषिक के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव—ये सात पदार्थ होते हैं। आत्मा का यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब आत्मेतर पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न हो। तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति आत्मा तथा आत्मेतर द्रव्यों के परस्पर साधर्म्य तथा वैधर्म्य के जानने पर ही हो सकती है। द्रव्य संख्या में नव हैं तथा इन नव द्रव्यों के आश्रित धर्म हैं गुण और कर्म। द्रव्य, गुण तथा कर्म के समानधर्मों के योग का नाम 'सामान्य' है तथा वस्तुओं के पारस्परिक वैधर्म्य का ज्ञान 'विशेष' से होता है। सामान्य तथा विशेष जैसे नित्य पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए 'समवाय' नामक नित्यसम्बन्ध की सत्ता मानी गई है। इन षड्भाव पदार्थों के समान ही 'अभाव' भी वास्तव, यथार्थ

तथा महत्त्वशाली है। इस दर्शनके अनुसार निष्काम कर्मों का सम्पादन भी नितान्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में परम्परया कारण है।

वैशेषिक दर्शन बड़ा पुराना है। कणादसूत्र गौतमसूत्र से भी प्राचीन है। वैशेषिकों पर बौद्धों की बड़ी आस्था थी। प्रचीन वैशेषिक लोग किसी समय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण मानते थे। यही कारण है कि ये लोग आधे बौध (अर्ध वैनाशिक) माने गये हैं।

वैशेषिक का साहित्य

इस दर्शन की साहित्य-सम्पत्ति न्याय की अपेक्षा बहुत ही कम है। कणादसूत्र विक्रम से प्राचीन हैं। विक्रम से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व इनकी रचना हो चुकी थी परन्तु विकाश विक्रम के अनन्तर ही सम्पन्न हुआ। प्रशस्तपाद ने अपने 'पदार्थधर्मसंग्रह' में वैशेषिक तत्त्वों का नितान्त प्रामाणिक समीक्षण प्रस्तुत किया। इसे साधारण रीति से 'भाष्य' कहते हैं, परन्तु यह तत्त्व-प्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। वसुबन्धु ने इनके सिद्धान्तों का खण्डन किया है तथा वात्स्यायन ने 'न्याय भाष्य' में इसका उपयोग किया है। अतः इन दोनों से प्राचीन होने से यह ग्रन्थ द्वितीय शतक विक्रमी का प्रतीत होता है। चन्द्र (५ शतक) का 'दशपदार्थी शास्त्र' अपने समय में विशेष विख्यात था। इसका पता चीनी भाषा में ७०५ वि० (६०८ई०) में किये गये अनुवाद से चलता है। अवान्तर आचार्यों ने कणादसूत्र तथा प्रशस्तपादभाष्य के ऊपर सुन्दर टीकायें लिखी हैं। व्योमशिवाचार्य (८ म शतक) की 'व्योमवती', उदयाचार्य की 'किरणावली', श्रीधराचार्य की न्याय-कन्दली (रचनाकाल ९१३ शतक = ९९१ ई०), वल्लभाचार्य (१२ शतक) की 'न्यायलीलावती', पद्मनाभ मिश्र का 'सेतु' (केवल द्रव्य ग्रन्थ तक), जगदीश भट्टाचार्य की सूक्ति (द्रव्यग्रन्थ तक)—प्रशस्त-

प्रसिद्ध था कि छठी शताब्दी में किसी वृत्ति के साथ पूरे ग्रन्थ का अनुवाद परमार्थ ने चीनी भाषा में किया। यह अनुवाद आज भी उपलब्ध है। चीनी भाषा में इसका नाम 'हिरण्य सप्तति' या 'सुवर्ण सप्तति' है। कालान्तर में इसकी अनेक व्याख्यायें लिखी गईं जिनमें आचार्य माठर (२ श०) की 'माठरवृत्ति', गौडपाद (५ श०) का भाष्य, 'युक्तिदीपिका', वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी', शङ्कराचार्य के नाम से उपलब्ध 'जयमंगला' विख्यात टीकायें हैं। विन्ध्य के जंगल में रहने वाले आचार्य विन्ध्यवासी भी प्रसिद्ध सांख्याचार्य हैं जिनके मत का उल्लेख कुमारिल ने अपने श्लोकवार्तिक (पृ० ३७३, ७०४) में किया है। विज्ञानभिक्षु (१६ श०) काशी के एक विद्वान् संन्यासी थे। इन्होंने सांख्यसूत्रों पर 'सांख्यप्रवचनभाष्य' लिखकर सांख्य का वेदान्त के साथ हृदयङ्गम सामञ्जस्य दिखलाया है। सांख्य के अनेक ग्रन्थ इन्हीं की प्रेरणा से लिखे गये।

(४) योग दर्शन

योग हिन्दूजाति की सबसे प्राचीन और सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यह ऐसी विद्या है जिसके विषय में वादविवाद के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। ऋषियों के प्रातिभ ज्ञान या अन्तर्दृष्टि की उत्पत्ति में योग ही प्रधान कारण माना जाता है। योग के अभ्यास से नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, इस विषय में शायद ही किसी विवेचक को संशय होगा।

योग की व्यापकता

योग भारतीयों की विशिष्ट सम्पत्ति है जिसे इन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि से अनुशीलन कर उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में अनेक योगासन में बैठी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। प्राणविद्या की महत्ता श्रुति में स्पष्ट अक्षरों में प्रतिपादित की है—अद्वयतारक, अमृत-

नाद आदि २१ उपनिषदों में तो योग का ही सर्वाङ्गीण विवेचन किया गया है। जैन 'अंगों' तथा बौद्ध त्रिपिटक में योग की महिमा गाई गई है। योग के प्रकार भी अनेक हैं। तन्त्रयोग की पद्धति विलक्षण है। नाथ-पन्थी सिद्धों ने 'हठयोग' का खूब अनुशीलन किया था। गोरखनाथ के नाथसम्प्रदाय में योग का इतना आदर है कि इस सम्प्रदाय को ही 'योग' नाम से पुकारते हैं।

योग के सिद्धान्त

महर्षि पतञ्जलि ने उपनिषत्प्रतिपादित योगविधियों का अनुशीलन कर 'राजयोग' का विस्तृत विवेचन अपने सूत्रों में किया है जिनकी रचना विक्रमादित्य से दो सौ वर्ष पूर्व ही की गई थी। पतञ्जलि के द्वारा प्रतिपादित योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन अंगों के अभ्यास से चित्त—वृत्तियों के विलीन हो जाने पर एकाग्र हो जाता है। जहाँ ध्यान ध्येयवस्तु के आवेश से मानो अपने रूप से शून्य हो जाता है, और ध्येय वस्तु के आकार को ग्रहण कर लेता है, वहाँ 'समाधि' का उदय होता है। वह द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और कैवल्य स्थिति का अनुभव करता है। सांख्य के पचीसों तत्त्व योगदर्शन को अभीष्ट हैं। यहाँ ईश्वर छब्बीसवाँ तत्त्व माना जाता है। इसीलिए योग को 'सेश्वर सांख्य' कहते हैं। योग के शब्दों में जो पुरुषविशेष क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय (विपाकानुरूप संस्कार) के सम्पर्क से शून्य रहता है वही 'ईश्वर' कहलाता है। मुक्तपुरुष पूर्वकाल में बन्धन में रहता है तथा प्रकृतिलीन को भविष्यकाल में बन्धन की सम्भावना बनी रहती है परन्तु ईश्वर तो सदा ही मुक्त रहता है और सदा ही ईश्वर रहता है। ऐश्वर्य और ज्ञान की जो पराकाष्ठा है वही ईश्वर है। इस ईश्वर के प्रणिधान से—चित्त के

एकत्र लगाने से अथवा समग्र कर्मफलों के समर्पण से—समाधि की सिद्धि होती है। भगवान् में प्रेमपूर्वक चित्त लगाने से वे प्रसन्न होते हैं तथा क्लेशों को शीघ्र नष्ट कर समाधि की सिद्धि कर देते हैं। मन को अलौकिक तथा अज्ञात शक्तियों की सिद्धि दिखला कर भारतीय राजयोग ने पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों तथा डाक्टरों की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट की है। इसी कारण योग का प्रचार पाश्चात्य जगत में भी बड़ी शीघ्रता के साथ होता जा रहा है।

योगदर्शन के ग्रन्थों की संख्या अत्यन्त अल्प है। याज्ञवल्क्य स्मृति के कथन (हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः) के आधार पर 'हिरण्यगर्भ' योग के आद्य प्रकाशक माने जाते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने

विकास

योग का केवल अनुशासन किया अर्थात् प्रतिपादित शास्त्र का उपदेशमात्र किया। यह विक्रम के दो सौ वर्ष की बात है। विक्रम के अनन्तर तृतीय शतक में व्यास ने इन सूत्रों पर 'भाष्य' लिखा। ये भाष्यकार व्यास पुराणकार से भिन्न प्रतीत होते हैं। बौद्ध सिद्धान्तों के भाष्य में उल्लेख मिलने के कारण इन्हें ऐतिहासिक लोग तृतीय शतक विक्रमी का मानते हैं। योगभाष्य के निगूढ अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए वाचस्पति (नवम शतक) ने 'तत्त्व-वैशारदी' की रचना की जो ग्रन्थकार की विद्वत्ता के अनुरूप ही गूढार्थ-प्रकाशिनी है। राघवानन्द सरस्वती ने इस ग्रन्थ की 'पातञ्जल-रहस्य' नामक टीका लिखी है। १६ शतक में विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-योग के पुनरुत्थान के लिए महान यत्न किया। योगभाष्य की गुत्थियों को सुलझाने के लिए इन्होंने 'योगवार्तिक' की रचना की। यह 'योगवार्तिक' भाष्य के विवेचन के अतिरिक्त 'तत्त्ववैशारदी' के व्याख्यानों की भी पर्याप्त समालोचना करता है। आजकल के प्रसिद्ध सांख्ययोगाचार्य हरिहरानन्द ने 'भास्वती'

नामक टीका भाष्य पर लिखी है तथा बंगला भाषा में भाष्य का बड़ा ही प्रामाणिक तथा विस्तृत अनुवाद प्रस्तुत किया है । स्वामी बालराम उदासीन का भाष्य का हिन्दी-अनुवाद भी बहुत ही सुन्दर तथा उपादेय है। योगभाष्य के समान योगसूत्रों पर भी अनेक टीकायें लिखी गईं जिनमें भोजकृत 'राजमार्तण्ड' (प्रसिद्ध नाम ओजवृत्ति), भावागणेश (१६ श०) की 'वृत्ति' रामानन्दयति की 'मणिप्रभा', अनन्त पण्डित की 'योगचन्द्रिका', सदाशिवेन्द्र सरस्वती का 'योगसुधाकर', तथा नागोजी-भट्ट (१८ श०) की लघ्वी तथा बृहती टीकायें प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक हैं। पातञ्जल दर्शन पर इतना ही साहित्य विख्यात है ।

(५) मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन का प्रधान उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड के विधानों में दृश्यमान विरोधों का परिहार (एकवाक्यता) उत्पन्न करना है। श्रुतिकाल में ही इस प्रकार के विरोध के परिहार की ओर ऋषियों की दृष्टि गई थी। 'मीमांसते' आदि क्रियापद तथा 'मीमांसा' संज्ञापद का प्रयोग वैदिक संहितादिकों में किया गया मिलता है। तैत्तिरीयसंहिता (७—५।७।१), ताण्ड्य ब्राह्मण (६।५।९), छान्दोग्य (५।११।१) में 'मीमांस्' धातु का विचार अर्थ में प्रयोग मिलता है। कौषीतकि ब्राह्मण (२।९) तो स्पष्टतः उदित होम तथा अनुदित होम के विषय में समीक्षा का उल्लेख करता है (उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते)। इसी समीक्षण के कारण "मीमांसा' का प्राचीन नाम 'न्याय' है । मीमांसक लोग ही हमारे प्रथम नैयायिक हैं । मीमांसा का विषय धर्म का विवेचन है (धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्—श्लोकवार्तिक श्लो० ११)।

मीमांसा का उद्देश्य

वेद के द्वारा विहित इष्टसाधन धर्म है तथा अनिष्टसाधन अधर्म है । वेद स्वयं नित्य है । किसी के द्वारा उसकी रचना नहीं हुई । अतः वह 'अपौरुषेय' है । इस विश्व में कर्म ही सबसे प्रधान वस्तु है । आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफलों का दाता मानते हैं, परन्तु जैमिनि की सम्मति में यज्ञ से ही तत् तत् फलों की उपलब्धि होती है। अनुष्ठान तथा फल के समयों में अन्तर दिखलाई पड़ता है । कर्म का अनुष्ठान आज हो रहा है, परन्तु उसका स्वर्गादि फल कालान्तर में संपन्न होगा । इस वैषम्य को दूर करने के लिए मीमांसकों ने 'अपूर्व'का सिद्धांत स्थिर किया है । कर्मों से उत्पन्न होता है अपूर्व (पुण्यापुण्य) तथा अपूर्व से होता है फल । मीमांसकों ने 'शब्द' की नित्यता पर खूब मौलिक विचार किया है । कुमारिल का 'अभिहितान्वयवाद' तथा प्रभाकर का 'अन्विताभिधानवाद' शब्दार्थ के समझने के लिये नितान्त माननीय हैं । 'बाल मनोविज्ञान' की जानकारी की भी बड़ी सामग्री मीमांसाग्रथों में भरी पड़ी हैं । विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता दिखलाने के लिए मीमांसा ने जिस पद्धति को खोज निकाला है, वह बड़ी ही उपादेय है । जिस प्रकार पद का ज्ञान व्याकरण से होता है तथा प्रमाण का ज्ञान न्याय से होता है, उसी प्रकार वाक्य का ज्ञान मीमांसा के ही सहारे होता है । मीमांसा के तात्पर्यविषयक सिद्धान्तों का उपयोग धर्मशास्त्रों में अर्थनिर्णय के लिए आज भी किया जाता है । बौद्ध धर्म के दार्शनिकों के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड पर किये गये आक्षेपों को ध्वस्त करने का सारा श्रेय इन्हीं मीमांसकों को प्राप्त है । यदि ये अनूठे ग्रंथों के द्वारा कर्मकाण्ड की इतनी मार्मिक समीक्षा नहीं करते, तो वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति जो श्रद्धा और आस्था इस समय दीख पड़ती है वह न जाने कब की समाप्त हो चुकी होती ।

मीमांसादर्शन की साहित्य सम्पत्ति नितान्त विशाल है । विक्रम से पाँच-छः सौ वर्ष पहले ही महर्षि जैमिनि ने मीमांसासूत्रों की रचना की थीं । इस दर्शन के सूत्र अन्य सब दर्शनों के सूत्रों से संख्या में कहीं अधिक हैं । महाभाष्य में *काशकृत्स्न आचार्य* की लिखी मीमांसा का उल्लेख मिलता है, परन्तु न तो इनके सूत्रों का ही पता चलता है, न इनके विशिष्ट मत का । आचार्य उपवर्ष तथा भवदास (२ शतक) के वृत्तिग्रन्थों का उल्लेख ही मिलता है । विक्रम के तीन सौ वर्ष पीछे शबर स्वामी ने द्वादशलक्षणी मीमांसा पर विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य लिखा । शाबर-भाष्य के इन तीनों टीकाकारों ने तीन विभिन्न सम्प्रदाय चलाये—

मीमांसा की साहित्य-सम्पत्ति

(१) भाट्टमत, (२) गुरुमत, तथा (३) मुरारिमत ।

भाट्टमत के उद्भावक आचार्य *कुमारिलभट्ट* (सप्तम शतक) हैं। इनके समान प्रखर बुद्धिवाला तार्किक मिलना नितान्त दुष्कर है । इन्होंने मीमांसा को बौद्धों के कर्कश तर्क-प्रहारों से ही नहीं बचाया, परन्तु अपने ग्रन्थों में साम्प्रदायिक व्याख्या को स्थान देकर उसे नास्तिक होने से भी रक्षा की । 'श्लोकवार्तिक' (प्रथम अध्याय की व्याख्या) तथा 'तन्त्रवार्तिक' (प्रथम अध्याय के द्वितीयपाद से लेकर तृतीय अध्याय तक के शाबरभाष्य की गद्यात्मक व्याख्या) इनके अलौकिक पाण्डित्य तथा तर्ककुशलता के ज्वलन्त उदाहरण हैं । इन्हीं के शिष्य मण्डनमिश्र ने विधिविवेक, भावनाविवेक, विभ्रमविवेक आदि प्रामाणिक ग्रन्थों को लिखकर भाट्टमत को खूब पुष्ट किया । वाचस्पतिमिश्र ने विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नामक टीका लिखी तथा शब्दार्थ के विषय में 'तत्त्वबिन्दु' बनाया । कुमारिल के दूसरे शिष्य 'उम्बेक' ने 'भावना-विवेक' तथा 'श्लोकवार्तिक' की तात्पर्य टीका लिखी । ये ही उम्बेक

कुमारिल

उत्तररामचरित आदि नाटकों के रचयिता भवभूति माने जाते हैं। भट्ट कुमारिल ने अपने शिष्यों के साथ वैदिकधर्म के पुनरुत्थान तथा प्रतिष्ठा करने में जो अश्रान्त परिश्रम कर विपुल सफलता प्राप्त की वह सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

भाट्टमत के आचार्यों में तीन प्रधान माने जाते हैं:—

(क) *पार्थसारथि मिश्र* (१२ श०)—मिथिला के निवासी माने जाते हैं। इन्होंने टुप्टीका की व्याख्या 'तर्करत्न' तथा श्लोकवार्तिक की मान्य टीका 'न्यायरत्नाकर' लिखी। इनका मौलिक प्रकरणग्रन्थ 'शास्त्र दीपिका' भाट्टमत का नितान्त प्रामाणिक, उपादेय तथा प्रमेयबहुल माना जाता है। (ख) *माधवाचार्य*—विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक, वेदभाष्यकार श्री सायणाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता थे। इनका 'न्यायमालाविस्तर' मीमांसा-सूत्रों के अधिकरणों की विशद व्याख्या है। (ग) *खण्डदेव मिश्र*—१८वीं विक्रमी में काशीस्थ पण्डितों के रत्न थे। अधिकरणप्रस्थान पर निर्मित इनकी 'भाट्टदीपिका' भाट्टसिद्धांतों के प्रकाशन के निमित्त वस्तुतः दीपिका ही है। इनके गुरु *विश्वेश्वरभट्ट* थे जो गागाभट्ट के नाम से विशेष विख्यात हैं और जिन्होंने छत्रपति शिवाजी महाराज का राज्याभिषेक कराया था। इनका 'भाट्टचिन्तामणि' मीमांसासूत्रों की सरल टीका है। इन्हीं के समकालीन *अप्पयदीक्षित* ने 'विधिरसायन', 'उपक्रमपराक्रम' आदि ग्रंथों की रचना कर मीमांसा-साहित्य की खूब श्रीवृद्धि की। इनके अतिरिक्त *आपदेव* का 'मीमांसान्यायप्रकाश' भी खूब लोकप्रिय मीमांसा-ग्रंथ है जिसकी विस्तृत व्याख्या ग्रंथकार के पुत्र सुप्रसिद्ध *अनन्तदेव* ने 'भाट्टालङ्कार' नाम से की। ये खण्डदेव के ही समकालीन थे।

गुरुमत के संस्थापक का नाम *प्रभाकर मिश्र* था। प्रसिद्धि है कि ये कुमारिल के ही शिष्य थे, जिन्होंने इनकी अलौकिक कल्पना-शक्ति से

प्रसन्न होकर इन्हें 'गुरु' की उपाधि दी थी, परंतु नवीन खोज से इनका समय कुमारिल से भी पूर्व ठहरता है। इन्होंने 'बृहती' नामक टीका में शाबरभाष्य के सिद्धांतों को भलीभांति समझाया है। इनका समय विक्रमीय सप्तम शतक माना जा सकता है। आचार्य *शालिकनाथ* ने गुरु के ग्रंथों पर प्रामाणिक व्याख्यायें लिखकर इस मत का खूब गौरव बढ़ाया। इन्होंने बृहती पर 'ऋजुविमला' टीका तथा 'लघ्वी' पर 'दीपशिखा' टीका लिखी, परन्तु इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है—प्रकरणपञ्चिका। ये उदयनाचार्य के पूर्ववर्ती थे। अतः इनका समय दशम शतक के लगभग है।

तृतीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक *मुरारि मिश्र* के विषय में हमारा ज्ञान बहुत ही कम है। ये मध्ययुग के एक माननीय मीमांसक थे। मीमांसा के प्रधान सिद्धांतों के विषय में भट्ट तथा गुरु से भिन्न इनका एक स्वतन्त्र मत था। इसीसे यह कहावत चल पड़ी—मुरारेस्तृतीयः पन्थाः। गंगेश उपाध्याय ने 'तत्त्वचिन्तामणि' में इनके मत का उल्लेख किया है। अतः इनका समय १२ वीं शताब्दी विक्रमी सिद्ध होता है। इन्हीं आचार्यों के अश्रान्त परिश्रम के कारण मीमांसा का साहित्य इतना सम्पन्न तथा समृद्ध हो सका है। अधिकांश मीमांसक लोग मध्ययुग की विभूति हैं।

६—वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। 'वेदान्त' शब्द का अर्थ है उपनिषद्। इन उपनिषदों का वेदों के सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के कारण से 'वेदांत' (वेद का अंत = सिद्धांत) शब्द से अभिहित करना नितांत युक्तियुक्त है परंतु उपनिषद् अनेक हैं और उनके सिद्धांतों में भी आपाततः विरोध प्रतीयमान होता है। इस विरोध के परिहार के लिए महर्षि

ब्रह्मसूत्र

बादरायण व्यास ने जिन सूत्रों की रचना की उन्हें 'ब्रह्मसूत्र' के नाम से पुकारते हैं। 'ब्रह्मसूत्र' पाणिनि से भी प्राचीन हैं क्योंकि उन्होंने 'पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षु नटसूत्रयोः' (४।३।११०) सूत्र में पाराशर्य (पराशर के पुत्र = व्यास) निर्मित जिन भिक्षुसूत्रों का निर्देश किया है वे इन ब्रह्म-सूत्रों से भिन्न प्रतीत नहीं होते। श्रीधर स्वामी की सम्मति में "ब्रह्मसूत्र-पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" (१३।४) इस पद्यांश में गीता ब्रह्मसूत्रों का ही निर्देश करती है। अतः इन सूत्रों का निर्माण काल विक्रमपूर्व षष्ठ शतक के लगभग है। इन ब्रह्मसूत्रों की ही व्याख्या करके कालांतर में वेदांत के नये-नये सम्प्रदाय खड़े हुए जिनमें कतिपय प्रसिद्ध विद्वानों के नाम, उनके भाष्य तथा सिद्धांतों के साथ दिये जाते हैं :—

आचार्य	समय	भाष्य	मत
१ शंकर	(७०० ई०)	शारीरकभाष्य	अद्वैत
२ भास्कर	(१००० ई०)	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३ रामानुज	(११४० ई०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४ मध्व	(१२३८ ई०)	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
५ निम्बार्क	(१२५० ई०)	वेदांतपारिजात	द्वैताद्वैत
६ श्रीकण्ठ	(१२७० ई०)	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
७ श्रीपति	(१४०० ई०)	श्रीकरभाष्य	वीरशैवविशिष्टाद्वैत
८ वल्लभ	(१५०० ई०)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९ विज्ञानभिक्षु	(१६०० ई०)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१० बलदेव	(१७२५ ई०)	गोविंदभाष्य	अचिंत्यभेदाभेद

मूल ब्रह्मसूत्र में लगभग ५५० सूत्र हैं। सूत्र इतने छोटे हैं कि बिना किसी व्याख्या या भाष्य के उनका अर्थ स्पष्टरूप से प्रतीत नहीं होता। यही कारण है कि भिन्न भिन्न आचार्यों ने अपनी अपनी दार्शनिक दृष्टि

के अनुकूल इन सूत्रों की विशद व्याख्यायें लिखी हैं । इन भाष्यकारों में सबसे अधिक भेद का विषय जीव और ईश्वर का सम्बन्ध है। शंकराचार्य की दृष्टि में जीव और ब्रह्म में नितांत अभिन्नता है । इसी कारण इसका मत अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है । उनके सिद्धांत का प्रतिपादक यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है ।

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः"

आचार्य शंकर ने इस जगत् की सृष्टि माया के अनुसार सिद्ध मानी है; ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है; जगत् की सत्ता व्यावहारिक है । माया के द्वारा विरचित होने के कारण जगत् का स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह

मतों के समान सिद्धान्त

सिद्धांत पीछे के वैष्णव आचार्यों को युक्तियुक्त नहीं प्रतीत हुआ । उनकी दृष्टि में भक्ति ही जीव को इस दुःखमय जगत् से उद्धार करने का महान् साधन है । इस भक्तिवाद की पुष्टि के निमित्त इन वैष्णव आचार्यों ने मायावाद का खण्डन बड़ी सतर्कता तथा ऊहापोह के साथ किया है। अद्वैत के खण्डन करने वाले आचार्यों में सबसे पहले 'भास्कर' हुए । इनकी दृष्टि में जीव और ईश्वर संसारदशा में भिन्न हैं, परन्तु परमार्थदशा में बिल्कुल अभिन्न हैं । इसी कारण इस मत को 'भेदाभेद' के नाम से पुकारते हैं । भास्कर ने अपना कोई धार्मिक मत नहीं चलाया, अतः इस मत के पोषक विद्वानों की कमी है। रामानुजाचार्य ने इन सूत्रों की व्याख्या में विशिष्टाद्वैत को, निम्बार्क ने द्वैताद्वैत मत को, माध्व ने द्वैतमत को, वल्लभ ने शुद्धाद्वैत मत को तथा चैतन्य-मतानुयायी बलदेव विद्याभूषण ने अचिंत्यभेदाभेद मत को दिखलाने का भरसक उद्योग किया है । ये पाँचों मत वेदांत के ही हैं । इन मतों में जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को ही लेकर महान् अन्तर है । परन्तु अन्य सिद्धान्तों में एकता

है। ये सब वेदान्त सम्प्रदाय इन सिद्धान्तों को समभावेन मानते हैं—(१) ब्रह्म ही इस जगत् का मूल कारण है अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय एक चेतनतत्त्व के कारण है। किसी अचेतन तथा जड़ पदार्थ (जैसे सांख्यों की प्रकृति) से इसकी उत्पत्ति नहीं हुई।

(२) ब्रह्म सर्वत्र व्यापक तथा नित्य है।

(३) मुख्यतः उपनिषद् ही सिद्धान्त-ग्रन्थ हैं तथा उपनिषन्मूलक होने से भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र भी सिद्धांत के प्रतिपादक हैं। इन तीनों को *प्रस्थानत्रयी* के नाम से पुकारते हैं।

(४) ब्रह्म जैसे इन्द्रियातीत आध्यात्मिक विषयों के निरूपण में वेद ही सबसे अधिक प्रमाण है। तर्क की प्रामाणिकता तभी तक ग्राह्य है जब तक वह श्रुति के अनुकूल रहता है। तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। इसलिये इन सूक्ष्म विषयों के विवेचन के निमित्त हमें श्रुति का आश्रय लेना नितान्त श्रेयस्कर है।

(५) कर्म ज्ञान की अपेक्षा गौण है। कर्म की उपयोगिता इतनी ही है कि वह चित्त की शुद्धि करता है तथा मुक्तिमार्ग की तैयारी करने का प्रधान साधन है। व्यावहारिक जगत् के निमित्त कर्म की अपेक्षा है ही, परन्तु मुक्ति के निमित्त कर्म का संन्यास ही श्रेयस्कर है।

(६) इस अनादि संसार से मुक्ति पाना ही हमारा अन्तिम उद्देश्य है।

शङ्करमत की विशेषता

अन्य मतों की अपेक्षा शङ्करमत के अनेक सिद्धान्तों में विशिष्टता है—

(१) शङ्कर मायावाद को मानते हैं, परन्तु अन्य सब आचार्यों ने मायावाद को भक्ति से नितान्त विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य माना है।

आचार्य शङ्कर को मायावाद का उद्भावक मानना कथमपि उचित नहीं है। माया का वर्णन संहिताओं में भी है, शङ्कर ने तो अपने परमगुरु गौडपादाचार्य के द्वारा 'माण्डूक्यकारिका' में निर्धारित इस सिद्धान्त को ग्रहण तथा पुष्ट किया है। ब्रह्म सत्य है तथा जगत् मायिक है, मायाजन्य है। इस सिद्धान्त को समझने में हमने बड़ी भूल की है। आचार्य की दृष्टि में 'सत्ता' के तीन प्रकार हैं—(क)पारमार्थिक सत्ता (ब्रह्म ही एकमात्र सत्य पदार्थ है); (ख) व्यावहारिक सत्ता इस जगत् की। जगत् बिलकुल सच्चा है। विज्ञानवादी बौद्धों ने जगत् को असत्य बतलाया है, परन्तु आचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में इसका युक्तियुक्त खण्डन कर जगत् की सत्यता प्रतिपादित की है, परन्तु यह सत्यता व्यवहार के ही निमित्त है। (ग) प्रातिभासिक सत्ता—शुक्ति में रजत की सत्ता है। मायाजन्य होने पर भी यह जगत् आकाशकुसुम की भांति अलीक नहीं है। अलीक तथा मिथ्या एक ही वस्तु नहीं हैं।

(२) ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—निर्गुण तथा सगुण। मायाविशिष्ट ब्रह्म को 'सगुण' कहते हैं। यही 'ईश्वर' है। यही इस जगत् का कर्ता-धर्ता है; परन्तु निर्गुण ब्रह्म माया के सम्बन्ध से नितान्त शून्य है। वह अखण्ड, सर्वत्र व्यापक, सच्चिदानन्द स्वरूप है। निर्गुण ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ तथा सत्यरूप है। ईश्वर उससे शून्य है तथा मायिक है। अन्य दार्शनिक ब्रह्म तथा ईश्वर में इस प्रकार पार्थक्य नहीं मानते।

(३) ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति होती है, कर्म का संन्यास करना ही पड़ता है। कर्म का उपयोग केवल चित्त-शुद्धि के निमित्त है। वास्तव में क्लेशनाश ब्रह्म के साक्षात्कार करने से ही होता है।

इसके विरुद्ध वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्त हैं जिनमें सबसे प्राचीन आचार्य रामानुज (१२ शतक) का मत 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है।

उनकी दृष्टि में ईश्वर अखिल सद्गुणों का निकेतन है । ब्रह्म सगुण ही होता है, निर्गुण नहीं। जीव तथा जगत् उसी के दो प्रकार हैं या विशेषण हैं । इन जीव तथा जगत् रूप विशेषणों से विशिष्ट ईश्वर एक है। इसलिए इस सिद्धान्त को अद्वैत न कह कर *विशिष्टाद्वैत* कहते हैं। आचार्य निम्बार्क के मत में जीव और ईश्वर व्यवहार-काल में भिन्न भिन्न हैं। इसी कारण इस मत को *द्वैताद्वैत* कहते हैं। माध्व के मत में (१) जीव और ईश्वर में कभी भी एकता नहीं है। वे सदा से भिन्न हैं, और सदा भिन्न रहेंगे। अन्य सिद्धांत वाले अनेकता तथा एकता का कथमपि समन्वय करने का उद्योग करते हैं, परन्तु माध्वमत में यह समन्वय होता ही नहीं—सदा अविच्छिन्न द्वैत बना रहता है। (२) ईश्वर इस जगत् का केवल निमित्त कारण ही है, उपादान कारण नहीं, परन्तु अन्य आचार्यों की दृष्टि में वह दोनों है—जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण वह स्वयं है। इस मत को इसी कारण *द्वैतमत* कहते हैं। वल्लभाचार्य मायावाद को न मानकर केवल अद्वैत को मानते हैं। अतः उनका मत *शुद्धाद्वैत* है, माया से मिश्रित अद्वैत नहीं। चैतन्य सम्प्रदाय माध्वमत की ही ऐतिहासिक दृष्टि से एक शाखा है; परन्तु दार्शनिक मत में नितान्त भिन्न है। इस मत में ईश्वर जीव का भेद तथा अभेद दोनों हैं परन्तु वह अचिन्त्य है। अलौकिक शक्ति-सम्पन्न ईश्वर की यह अचिन्तनीय लीला है।

वैष्णव दार्शनिकों के मत

इन वैष्णव मतों की इन बातों में एकता है—

(क) भक्ति ही मोक्ष की साधिका है।

(ख) ब्रह्म ही ईश्वर है जो अनन्त शुभ्र गुणों का निकेतन है।

(ग) चेतन जीव तथा जड़ जगत् उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार ईश्वर। इनकी सत्यता में किसी प्रकार का भेद नहीं।

(घ) जीव तथा ईश्वर का परस्पर भेद किसी भी अवस्था में बिल्कुल नष्ट नहीं हो जाता। पृथक् व्यक्तित्व बना ही रहता है।

(ङ) जीव स्वरूपतः अणु है (विभु नहीं) तथा वह संख्या में अनन्त है। ज्ञान तथा क्रिया की शक्ति से वह सर्वथा सम्पन्न है।

(च) विष्णु ही ईश्वर हैं। अतः विष्णु की भिन्न-भिन्न अवतार मूर्तियों की उपासना इन मतों में प्रचलित है। रामानुज तथा माध्व लोग लक्ष्मीनारायण के विशेषतः पूजक हैं। निम्बार्क, वल्लभ तथा चैतन्य राधाकृष्ण के उपासक हैं।

वेदान्त-साहित्य

ब्रह्मसूत्र की रचना विक्रम के छः सौ वर्ष पहले हुई थी, परन्तु इसका विपुल विकाश विक्रम की सातवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ और वह आज तक किसी न किसी रूप में चल ही रहा है। वेदान्त का साहित्य बड़ा ही विशाल तथा भव्य है। एक-एक सम्प्रदाय के साहित्य का इतिहास है; समूचे की तो कथा ही अलग है। हमारा धर्म ही *वेदान्तधर्म* है। इस महान् ग्रन्थराशि के वर्णन के लिए एक अलग ग्रंथ की आवश्यकता है।

अद्वैतवाद का आरम्भ आचार्य गौड़पाद की माण्डूक्य कारिकाओं से होता है। आचार्य शंकर (विक्रमीय सप्तम शतक) के भाष्यों ने अद्वैतमत को वह प्रतिष्ठा दी कि पीछे के आचार्यों के खण्डन करने पर भी वह प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रूप से आज भी बनी हुई है। आजकल हमारा जनप्रिय मत यही शङ्कर का अद्वैतवाद है। आचार्य के शिष्यों में सुरेश्वराचार्य ने तैत्तिरीय-भाष्य तथा बृहदारण्यक-भाष्य पर वार्तिक लिखकर वार्तिककार की उपाधि प्राप्त की है। दूसरे शिष्य पद्मपादाचार्य ने ब्रह्मसूत्र की 'चतुःसूत्री' पर 'पञ्चपादिका' नाम की पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी जिस पर

'प्रकाशात्मयति' ने 'विवरण' नामक व्याख्या लिखी है जिससे 'विवरण-प्रस्थान' का जन्म हुआ। इस विवरण पर दो टीकायें प्रसिद्ध हैं—अखण्डानन्दमुनिकृत 'तत्त्वदीपन' तथा विद्यारण्यकृत 'विवरण-प्रमेय-संग्रह'। सुरेश्वर के शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि ने 'संक्षेप शारीरक' नामक ब्रह्मसूत्रों की पद्यात्मक व्याख्या लिखी है। वाचस्पति (नवम शतक) की भामती शांकरभाष्य पर एक भव्य टीका है जिसने पहले पहल समस्त ब्रह्मसूत्रों के गूढ़ अर्थ को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया। श्रीहर्ष (बारह शतक) का 'खण्डनखण्डखाद्य' आज भी पाण्डित्य की निकषग्रावा बना हुआ है। चित्सुखाचार्य (१३ शतक) अपनी श्रेष्ठ रचना 'तत्त्वदीपिका' से नितान्त विख्यात हैं। विद्यारण्य स्वामी (१४ शतक) की पञ्चदशी ने वेदान्त को खूब ही लोकप्रिय बनाया तथा आनन्दगिरि ने (१३ श०) शङ्कराचार्य के भाष्यों को सुबोध बनाने में बहुत परिश्रम किया। मधुसूदन सरस्वती (१६ शतक) की विद्वत्ता अलौकिक थी जिसका पता इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थरत्न 'अद्वैतसिद्धि' से लगता है। नृसिंहाश्रम सरस्वती मधुसूदन के ही समकालीन थे। अप्पयदीक्षित (१७ शतक) ने 'कल्पतरु परिमल' लिखकर जिस प्रकार भामती के गूढ़ अर्थ को प्रकट किया उसी प्रकार उनका 'सिद्धान्त-लेशसंग्रह' वेदान्त के विभिन्न मतों की जानकारी के लिए नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं।

वैष्णव-दर्शनों में रामानुज (१२ शतक) ने ब्रह्मसूत्रों पर श्रीभाष्य तथा गीता भाष्य लिखा। सुदर्शन सूरि (१४ शतक) की श्रीभाष्य पर श्रुत-प्रकाशिका नामक व्याख्या नितान्त प्रसिद्ध है। वेङ्कटनाथ या वेदान्त देशिक (१४ शतक) ने 'तत्त्व-टीका' 'तत्त्वमुक्ताकलाप' 'गीतार्थतात्पर्य-चन्द्रिका' आदि अलौकिक पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थों की रचना कर इस श्रीवैष्णव मत का प्रचुर प्रचार किया। निम्बार्काचार्य का 'वेदान्तपारिजात-सौरभ'

वेदांत सूत्रों का स्वल्पकाय भाष्य है। श्रीनिवासाचार्य ने इस सौरभ के ऊपर 'वेदांत-कौस्तुभ' नामक विस्तृत व्याख्या लिखकर इस मत का खूब प्रतिपादन किया। केशवभट्ट काश्मीरी (१५ शतक) की 'कौस्तुभ-प्रभा' 'कौस्तुभ' की व्याख्या है। पुरुषोत्तमाचार्य का 'श्रुत्यन्त-सुरद्रुम' तथा देवाचार्य का 'सिद्धान्त जान्हवी' निम्बार्क मत के माननीय ग्रन्थ हैं। मध्व मत (१३ शतक) में आचार्य ने ही प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे हैं जिनकी विस्तृत व्याख्या जयतीर्थ ने की है। व्यासतीर्थ (१५ शतक) का 'न्यायामृत' नितान्त मौलिक ग्रन्थ है जिसका खण्डन मधुसूदन ने अद्वैतसिद्धि में किया है। वल्लभाचार्य का अणुभाष्य ब्रह्मसूत्र के लगभग ढाई अध्यायों की टीका है जिसकी पूर्ति उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने की। आचार्य सुबोधिनी ने भागवत के अर्थ को खूब ही सुबोध बनाया। इसके अतिरिक्त विट्ठलनाथ का 'विद्वन्मण्डन', कृष्णचन्द्र की 'भाव प्रकाशिका', पुरुषोत्तम की 'अमृततरंगिणी' गीता टीका तथा गिरिधर महाराज का 'शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड' और बालकृष्ण भट्ट का 'प्रमेयरत्नार्णव' शुद्धाद्वैत मत के प्रचार करने वाले नितान्त उपादेय ग्रन्थ हैं। चैतन्य सम्प्रदाय की प्रकृष्ठ प्रतिष्ठा श्रीरूपगोस्वामी के 'लघुभागवतामृत', 'उज्ज्वल-नीलमणि', 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा सनातन गोस्वामी के 'बृहद्-भागवतामृत' 'वैष्णव-तोषिणी' तथा 'हरिभक्ति-विलास' ने की है। श्रीजीव गोस्वामी का 'षट्-सन्दर्भ' भागवत के सिद्धान्त को समझने के लिये नितान्त उपादेय तथा प्रौढ़ ग्रन्थ है। कृष्णदास कविराज का 'चैतन्य-चरितामृत' चरित्र-ग्रन्थ के अतिरिक्त सिद्धांत ग्रन्थ भी है। बलदेव विद्याभूषण का 'गोविन्द-भाष्य' चैतन्य सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्मसूत्र का भाष्य है।

वेदान्त के विपुल साहित्य का यह दिग्दर्शनमात्र है।

अष्टम परिच्छेद

धर्मशास्त्र

भारतीय धार्मिक साहित्य में 'स्मृतियों' का एक विशिष्ट स्थान है। श्रुति के पश्चात् धार्मिक बातों में यदि किसी की मान्यता है तो वह 'स्मृति' की है। धर्म का मूल स्रोत जहाँ से प्रवाहित हुआ है उसमें स्मृति प्रधान है। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार धर्म के मूल ये तीन हैं–वेद और वेद के जानने वालों की स्मृति (परम्परा) तथा उनका शील (सदाचार)[१]। मनु के अनुसार धर्म के मूल पाँच हैं—(१) वेद (२) वेद के जानने वालों की स्मृति और शील (३) सज्जन पुरुषों के आचार और (४) आत्मतुष्टि[२]। याज्ञवल्क्य के अनुसार (१) श्रुति (२) स्मृति (३) सदाचार (४) अपने को प्रिय लगने वाली वस्तु और (५) संकल्प से उत्पन्न होने वाली इच्छा—धर्म के मूल हैं[३]। इन कथनों से स्पष्ट है कि धर्म की मीमांसा के लिये वेद के अनन्तर स्मृति का ही प्रामाण्य सबसे अधिक है। श्रुति में धर्मशास्त्र

१ वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृति-शीले। गौ० ध० सू० १।१-२

२ वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृति शीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ मनु २।६

३ श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥ या० १।७

के नियमों का उल्लेख आनुषङ्गिक रूप से ही प्राप्त होता है। संहिताओं के अनुशीलन से विवाह, उसके प्रकार, पुत्रों के विभिन्न भेद, दत्तक पुत्र का विधान, धनविभाग-दायभाग, श्राद्ध और स्त्रीधन के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का परिचय हमें प्राप्त होता है। परन्तु यह सामग्री व्यवस्थित रूप से एक स्थान पर प्राप्त नहीं होती। प्रत्युत भिन्न-भिन्न मंत्रों के अनुशीलन से हम इन विषयों का किञ्चित् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु धर्मशास्त्र के इन सिद्धांतों का विशाल भाण्डार स्मृति ही है।

सामाजिक दृष्टि से भी स्मृतियों का महत्त्व बहुत ही अधिक है। भारतीय समाज चतुर्वर्ण तथा चतुराश्रम के सिद्धांत पर व्यवस्थित किया गया है। भारतीय समाज को व्यवस्था तथा प्रतिष्ठा देने में इस पद्धति को जो महत्त्व प्राप्त है इसका वर्णन हम आगे करेंगे। चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के विशुद्ध रूप जानने के लिये धर्मशास्त्र ही हमारे एकमात्र पथ-प्रदर्शक है। हिन्दुओं के षोडश संस्कार (उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि) का विशिष्ट वर्णन इन स्मृतियों में पाया जाता है। भारतीय समाज की दशा जानने के लिये स्मृतियों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

भारतीय व्यवहार (कानून) को समझने के लिये इन स्मृतियों का अनुशीलन अनिवार्य है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि स्मृतियों में तथा मध्यकालीन जीमूतवाहन आदि के 'निबन्धों' में भारतीय व्यवहार (कानून) शास्त्र का जो विस्तृत तथा पाण्डित्य-पूर्ण विवेचन मिलता है वह किसी भी प्रकाण्ड कानूनवेत्ता को आश्चर्य के सागर में डुबा सकता है। आजकल अँगरेजी कचहरियों में दायभागादि के लिये जो व्यवस्था या नियम है वह हमारे धर्मशास्त्रों के ऊपर ही अवलम्बित है। उदाहरण के लिये बंगाल में दायभाग के लिये जो कानून लागू है वह जीमूतवाहन के सुप्रसिद्ध ग्रंथ के अनुसार है। भारत के इतर प्रांतों में इस विषय की जो व्यवस्था है वह

याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका मिताक्षरा के ऊपर अवलम्बित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक, सामाजिक तथा कानूनी दृष्टि से इन स्मृतियों का महत्त्व अत्यधिक है। सच तो यह है, यदि ये स्मृतियाँ न हों तो भारतीय धार्मिक साहित्य सदा के लिये दरिद्र बन जाय तथा साधारण जनता तक हमारे धार्मिक सन्देश पहुँच ही न सकें।

स्मृति शब्द का अर्थ है वह वस्तु जो स्मरण की जाय या परम्परा से प्राप्त की जाय। इस शब्द के दो अर्थ हैं। इसका व्यापक अर्थ उस

स्मृति शब्द का अर्थ

हिन्दू-संस्कृत साहित्य से है जो वैदिक न हो। पाणिनि का व्याकरण, महाभारत, मनु, याज्ञवल्क्य, सांख्यशास्त्र, इन समस्त ग्रन्थों का अन्तर्भाव स्मृति के भीतर होता है। संकीर्ण अर्थ में इसका प्रयोग धर्मशास्त्र के लिये होता है। इसीलिये मनु ने कहा है किः—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो, धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। मनु २।१०

स्मृति शब्द का प्रयोग तैत्तिरीय आरण्यक में मिलता है। गौतम धर्मसूत्र तथा वशिष्ठ धर्मसूत्र में तो इस शब्द का बहुल प्रयोग प्राप्त होता है। पूर्व मीमांसा सूत्रों में जैमिनि स्मृति का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिये करते हैं[1]। वेदांत सूत्रों में बादरायण सांख्यशास्त्र, तथा महाभारत के लिये स्मृति का[2] प्रयोग कर इसके व्यापक अर्थ की ओर संकेत करते हैं।

स्मृतियों के वर्ण्य विषय प्रधानतया तीन ही हैं। (१) आचार (२) व्यवहार (३) प्रायश्चित्त। आचार के अन्तर्गत चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा

---

१ स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम्। पू० मी० १।२।३।४२

२ स्मृत्यनवकाश-दोष-प्रसंग इति चेत् नान्यस्मृत्यनवकाश दोष-प्रसंगात्। वे० सू० २।१।१

संन्यास—के कर्तव्य कर्मों का विधान पाया जाता है। हमारी यह मान्यता है कि संस्कारों के द्वारा सुसंस्कृत व्यक्ति ही समाज का तथा अपना कल्याण-साधन कर सकता है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर हमारे प्राचीन ऋषियों ने जिन संस्कारों की उद्भावना की है उनका विस्तृत विवेचन हम स्मृतियों के आचार खण्ड में पाते हैं।

स्मृतियों का वर्ण्य विषय

विद्यार्थी का रहन, सहन, उसकी दिनचर्या, उसके पठनीय विषय, आचार्य के प्रति उसका व्यवहार, पठन-पाठन का विधान, अनध्याय, अवकाश आदि विद्यार्थी के जीवन से संबंध रखने वाली समस्त बातों का वर्णन हम इन ग्रंथों में पाते हैं। इसके पश्चात् गृहस्थ के धर्म उसके कर्तव्य, अन्य आश्रमों के प्रति उसका व्यवहार, गृहस्थाश्रम की अन्य आश्रमों से प्रधानता, वानप्रस्थी का जीवन, उसका कर्तव्य, सच्चे संन्यासी का लक्षण, उसका धर्म, उसका दैनिक आचार, उसकी वृत्ति आदि अन्य सहस्रों विषयों का रोचक वर्णन इन स्मृतियों में हमें उपलब्ध होता है। वर्ण-धर्म के वर्णन के अवसर पर स्मृति ग्रन्थों में राजनीति का वर्णन बड़े विस्तार के साथ मिलता है। राजा की दिनचर्या उसका कर्तव्य, प्रजा के प्रति उसका व्यवहार, समाज में दण्ड-विधान की आवश्यकता, राजा के द्वारा इसका पालन, वैश्यवर्ण का कर्तव्य शूद्रों का धर्म, उनके द्वारा चारों वर्णों की सेवा आदि विषयों का विस्तृत विवेचन आचाराध्यायका प्रधान वर्ण्य विषय है।

स्मृतियों में वर्णित दूसरा विषय व्यवहार है जिसे आजकल की भाषा में कानून कहते हैं। इसके अन्तर्गत आजकल के फौजदारी तथा दिवानी के समस्त कानून आते हैं। फौजदारी कानून के अन्तर्गत दण्ड, दण्ड के प्रकार, साक्षी, साक्षी के प्रकार, शपथ, अग्निशुद्धि, व्यवहार की प्रक्रिया, अर्जीदावा, प्राड्विवाक (जज) के गुण, निर्णय (फैसला) का ढंग, आदि

जितनी फौजदारी कचहरी की कारवाइयाँ है उसका जीता जागता वर्णन तथा चित्रमय स्वरूप हमें इन स्मृतिथों के पृष्ठों में पढ़ने और देखने को मिलता है। इसके पश्चात्—सीमा का निर्णय, सम्पत्ति का विभाजन, दाय के अधिकारी, दाय का अंश, कर-ग्रहण (मालगुजारी) की व्यवस्था आदि दिवानी तथा माल के कानून इनमें रोचक ढंग से वर्णित हैं।

प्रायश्चित्त के अध्याय में धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों के न करने से अथवा विपरीत ढंग से करने से उत्पन्न पापों के प्रायश्चित्त का विधान पाया जाता है। यद्यपि प्राचीन काल में इसका उपयोग आवश्यक था परन्तु आजकल की नई दुनियाँ में इसका समुचित समाचार न होने पर भी प्राचीनता की दृष्टि से इसका महत्त्व कुछ कम नहीं है।

भारतीय समाज की व्यवस्था करना स्मृतिकारों का प्रधान कार्य था। समाज के ऊपर ही व्यक्ति निर्भर रहता है। समाज की उन्नति होने पर भी व्यक्ति की भी उन्नति होती है। यही कारण है कि प्रत्येक प्राणी के अभ्युदय की कामना करने वाले स्मृतिकारों ने समाज के नियम तथा अभ्युदय के निमित्त अनेक व्यापक तथा उपादेय नियमों का निर्माण किया है। भारतीय समाज में जो सुव्यवस्था दीख पड़ती है स्थिति के परिवर्तन होने पर भी, विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर भी भारत ने जो अपना वैशिष्ट्य संसार के इतिहास में बनाये रक्खा उसका प्रधान कारण उसके समाज की सुव्यवस्था ही है तथा यह सुन्दर व्यवस्था स्मृतियों की विशेष देन है। यदि स्मृतिकारों ने समाज का नियमन इतनी दृढ़ भित्तियों पर न किया होता तो पता नहीं कि बाहरी प्रबल विदेशियों के आक्रमण के कारण भारतीय समाज छिन्न-भिन्न हो गया होता। अतः भारतीय समाज तथा वैदिक संस्कृति को प्रतिष्ठित तथा व्यवस्थित करने का श्लाघ-

स्मृति और समाज

नीय कार्य इन्हीं स्मृतिकारों का है। स्मृतियों में चातुर्वर्ण्य की जो व्यवस्था की गई है वह कितनी सार्वभौम तथा मनोवैज्ञानिक है इसका विस्तृत विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

समाज और व्यक्ति

हमारे यहाँ स्मृतियों में समाज का जो विस्तृत वर्णन मिलता है वह इस कथन का प्रचुर प्रमाण है कि इस देश में समाज-शास्त्र की चर्चा सर्व–प्रथम आरम्भ हुई थी। इस प्रकार अन्य विषयों में अग्रगामी होने के समान ही इस देश को समाज-शास्त्र में भी अग्रणी होने का सौभाग्य प्राप्त है।

आज कल समाज और व्यक्ति का अस्तित्व पृथक् माना जाने लगा है। व्यक्ति समाज से अपनी पृथक् सत्ता समझने लगा है और इस प्रकार पाश्चात्य देशों में व्यक्तिवाद (Individualism) की चर्चा चल पड़ी है जिससे वहाँ रात दिन समाज और व्यक्ति में संघर्ष पैदा हो रहा है। परन्तु प्राचीन भारत में समाज और व्यक्ति की पृथक् सत्ता नहीं थी। व्यक्ति समाज का ही एक अंग माना जाता था तथा समाज से अतिरिक्त उसका पृथक् अस्तित्व ही नहीं था। समाज के ही अनुकूल प्रत्येक व्यक्ति चलता था। इसीलिये इस देश में समाज और व्यक्ति में कभी संघर्ष नहीं उत्पन्न हुआ। भारतीय समाज की सुव्यवस्था तथा संघटन का यही मूल कारण था।

सामाजिक संगठन की मूल भित्ति

संसार में समस्त समाज किसी न किसी संगठन पर ही अवलम्बित है। भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि इसका सामाजिक संगठन अत्यन्त दृढ़ आधार पर अवलम्बित रहा है जो अनेक शताब्दियों का थपेड़ा खाता हुआ आज भी अपने उसी रूप में विद्यमान है। इस पुनीत आर्यावर्त का सामाजिक संगठन वर्णाश्रम धर्म की सुदृढ़ नींव पर स्थित है। हमारे प्राचीन स्मृति-

कारों ने मानवों के मनोविज्ञान को ध्यान में रखते हुए इस महती संस्था की स्थापना की है। 'वर्ण' शब्द संस्कृत के 'वृञ् वरणे' धातु से बना हुआ है जिसका अर्थ है वह वस्तु जो चुनी जाय। इसका दूसरा अर्थ रंग तथा वर्णन करना भी है। अर्थात् वह वस्तु जो किसी पुरुष के द्वारा जीविका के लिये चुनी जाय और जिसके द्वारा उस व्यक्ति का समाज में क्या स्थान है? इसका परिचय मिले वही उसका वर्ण है। प्राचीन काल में वर्ण का यही वास्तविक अर्थ था, परन्तु कालान्तर में इस अर्थ में परिवर्तन हो गया और यह जाति का वाचक बन गया। इस प्रकार वर्ण सामाजिक जीवन का वह संगठन है जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार अपना उचित स्थान ग्रहण करता है।

हमारे देश की यह वर्ण-व्यवस्था मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर अवलम्बित है। किसी भी समाज का विभाजन प्रायः चार भागों में किया जा सकता है। मनुष्य का शरीर मानव-समाज का प्रतिनिधि है। जिस प्रकार से मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क, भुजा, जंघा तथा पैर ये चार अंग प्रधान हैं उसी प्रकार से इस समाजरूपी शरीर में भी इन्हीं चार अङ्गों की स्थिति होनी स्वाभाविक है। जिस समाज में ये चारों अङ्ग विद्यमान नहीं हैं उसे हम पूर्ण विकसित समाज नहीं कह सकते हैं। हमारे यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन वर्णों की कल्पना भी इसी आधार पर की गई है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है हमारी वर्ण-व्यवस्था नितान्त मनोवैज्ञानिक भित्ति पर अवलम्बित है तथा यह मानवों के गुण और कर्म के अनुसार की गई है। यह बड़ी आश्चर्यजनक तथा मनोरंजक घटना प्रतीत होती है कि संसार में तत्तद्देशीय समाज-शास्त्रियों ने समाज का जो संगठन किया है वह भगवान मनु की वर्ण-व्यवस्था से बहुत कुछ समानता रखता है।

यूनान देश के सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् प्लेटो ने लिखा है कि किसी भी समाज का संगठन मनुष्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति के ही आधार पर किया जा सकता है। प्लेटो का कथन है कि मनुष्य का चरित्र तीन प्रधान वस्तुओं से अनुप्राणित होता है—(१) इच्छा, (२) आवेग और (३) ज्ञान। इच्छा का केन्द्र जानुओं में है, यह शक्ति का स्रोत है और कामात्मिका होती है। आवेग का स्थान हृदय है। ज्ञान की स्थिति मस्तिष्क में है जो सद्सद् विवेक का कर्ता है और आत्मा का पथ-प्रदर्शक है*।

पाश्चात्य देशों में समान व्यवस्था

ये गुण तथा शक्तियाँ प्रायः सभी मनुष्यों में हुआ करती हैं परन्तु किसी में इनकी मात्रा अधिक होती है और किसी में कम। संसार में कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो केवल इच्छाशक्ति के प्रतीक हैं। ये चञ्चल चित्तवाले पुरुष सदा पार्थिव पदार्थों के संग्रह में लगे रहते हैं तथा इनके हृदय में भोग, विलास, लाभ तथा लोभ की अग्नि जला करती है। ऐसे ही मनुष्य व्यापार क्षेत्र में प्रधानता को प्राप्त करते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं जिनके हृदय में उत्साह का श्रोत सदा प्रवाहित होता रहता है। जो विजय-श्री की प्राप्ति के लिए अपनी जान हथेली पर लिये सदा तैयार रहते हैं तथा फल की चिन्ता न करके सदा कार्य में ही प्रवृत्त होते हैं। ये सदा शक्ति की उपासना करते हैं तथा पार्थिव वस्तुओं के संग्रह को तृणवत

*Human behaviour, says Plato, flows from three main sources : desire, emotion and knowledge. Desire has its seat in loins, it is a bursting reservoir of energy. Emotion has its seat in the heart, in the flow and force of blood. Knowledge has its seat in the head ; it is the eye of desire and can become the pilot of the soul. Will Durant—A Guide to Plato, P. 25-26.

मानते हैं। घमासान युद्ध के लिये प्रवृत्त होने वाली शत्रुओं की सेनाओं से युक्त रणाङ्गण में इन्हें आनन्दातिरेक का अनुभव होता है। ऐसे ही मनुष्य संसार की स्थल-सेना तथा जल सेना में रहते हैं और राष्ट्र को सुरक्षित रखते हैं। एक तीसरी श्रेणी के भी लोग संसार में होते हैं जिनको ज्ञान और ध्यान में ही अधिक आनन्द मिलता है। इन्हें न तो धन-धान्य की इच्छा होती है और न विजय की आकांक्षा। इनका एकमात्र ध्येय ज्ञानोपार्जन होता है। ये विपणिपथ और समरक्षेत्र से दूर हटकर ज्ञान की उपासना में लीन रहते हैं। इनके जीवन का लक्ष्य सत्य की खोज है, शक्ति की प्राप्ति नहीं। ये ज्ञान-पथ के पथिक ही समाज को उचित मार्ग पर ले चलते हैं[1]।

गत पृष्ठों में प्लेटो की जिस सामाजिक व्यवस्था का वर्णन किया गया

1—These powers and qualities are in all men but in diverse degrees. Some men are there who are but the embodiment of desire ; restless and acquisitive souls who are absorbed in material quests and quarrels. These are men who dominate and manipulate industry. But there are others who are temples of feeling and courage ; their pride is in power rather than in possession, their joy is in the battle-field rather than in the mart. These are the men who make the armies and navies of the world. And last are the few whose delight is in meditation and under-standing; who yearn not for goods, nor for victory ; who leave both market and the battle field to lose themselves in the quite clarity of secluded thought. Whcse heaven is not power but truth. These are the men of wisdom, who stand aside unused by the world.

Will Durant—A Cuide to Plato, p 26.

है उसकी ध्यानपूर्वक मीमांसा करने पर स्पष्ट पता चलता है कि प्लेटो की व्यवस्था मनु की व्यवस्था के ठीक अनुरूप है। प्लेटो ने जिन लोगों को इच्छा–प्रधान कहा है, वे हमारे यहाँ वैश्यवर्ण में अन्तर्भुक्त हो सकते हैं। जिनको वह आवेग या साहसप्रधान व्यक्ति बतलाता है वे ही क्षत्रिय वर्ण के लोग हैं जो आज भी अपनी युद्ध–कुशलता और अलौकिक साहस के लिए प्रसिद्ध हैं। प्लेटो ने अन्तिम श्रेणी के लोगों को ज्ञान-प्रवृत्ति-प्रधान माना है। यही मनु–प्रतिपादित ब्राह्मण वर्ण है जिसके जीवन का ध्येय ही पठन, पाठन और समाज का पथ-प्रदर्शन करना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनु तथा प्लेटो की सामाजिक व्यवस्था में एक अद्भुत समानता है। प्लेटो ने यद्यपि शूद्र वर्ण का उल्लेख नहीं किया है तो भी ग्रीक इतिहास के मनन से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि वहाँ शूद्र वर्ण की भी सत्ता थी जिनको वहाँ 'प्लीबीयन' के नाम से पुकारा जाता था।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पारसी-धर्म में सामाजिक व्यवस्था का जो विभाजन किया गया है वह भी भारतीय वर्ण-व्यवस्था के ही समान है। पारसी-समाज चार भागों में विभक्त है—(१) ऐर्यमना, (२) वेरेजिन (३) खेतुश और (४) गोवास्त्र। भाषाशास्त्र की दृष्टि से इन शब्दों की व्युत्पत्ति पर ध्यान देकर देखा जाय तो यह स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि ये शब्द संस्कृत शब्दों से बहुत कुछ समानता रखते हैं। ऐर्यमना संस्कृत के अर्यमन् (अर्यमा) शब्द से सम्बन्ध रखता है जिसका अर्थ सूर्य और मित्र है। पारसी का वेरेजिन शब्द वीर्यमान् शब्द से—जिसका अर्थ शक्तिशाली (क्षत्रिय) है —, खेतुश शब्द क्षेत्री से सम्बद्ध है जिसका तात्पर्य खेत का मालिक या उसे जोतने वाला है। इसी प्रकार गोवास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति गोवेशी शब्द से जान पड़ती है जिसका भाव गायों के बीच में रहने वाला है।

प्रधान अङ्ग है। हमारे ऋषियों ने मनुष्य जीवन को चार विभागों में बाँटा है—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ तथा (४) संन्यास। ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य अपना समय श्रवण (अध्ययन), मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा व्यतीत करता है। यह समय मनुष्य को अपने भावी जीवन के लिए तैयारी करने का है। तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम में आकर मनुष्य गार्हस्थ-धर्म का पालन करता हुआ प्रजा की उत्पत्ति कर समाज की उन्नति में, उसकी स्थिति तथा संचालन में अपना योग प्रदान करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है—प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः—अर्थात् गृहस्थ को चाहिये कि सन्तान सूत्र का उच्छेद न होने दे। इसीलिये कालिदास ने रघुवंशी राजाओं के वर्णन के ब्याज से आदर्श गृहस्थ के लिये प्रजोत्पत्ति धर्म बतलाया है—प्रजायै गृहमेधिनाम्। मनु ने लिखा है कि गृहस्थाश्रम चारों आश्रमों का आधार है क्योंकि इसी के द्वारा सबका भरण-पोषण होता है*।

यस्मात् त्रयोऽन्याश्रमिणो, ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥

गृहस्थाश्रम के पश्चात् मनुष्य वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है। यह समय किसी एकान्त स्थान में रहकर, कुटुम्ब की चिन्ता से मुक्त होकर, किसी सामाजिक कार्य में लगाया जाता था। गृहस्थाश्रम में जो आसक्ति गृह या कुटुम्ब के प्रति होती थी वही इस आश्रम में समाज तथा देश के प्रति होती थी। प्राचीनकाल में अनेक वानप्रस्थी ऋषियों-मुनियों का वर्णन मिलता है जिनका एकमात्र ध्येय समाज तथा देश की सेवा करना ही था। बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि आज इस देश में वानप्रस्थाश्रम का लोप होता चला जा रहा है। इसीलिये आज हमें समाज-सेवक

* मनुस्मृति ३।७७-८०; ६।८९-९०

नहीं मिल रहे हैं। क्या ही अच्छा हो यदि भारत के लाखों संन्यासी अपना वस्त्र रंगाने के पहले वानप्रस्थाश्रम में रहकर समाज-सेवा में अपने मन को भी रञ्जित कर लें। चौथा आश्रम संन्यासाश्रम है जिसमें संसार से नाता तोड़ परमब्रह्म से संबंध जोड़ना ही ध्येय बतलाया गया है। आश्रम-धर्म की यह व्यवस्था न्यूनाधिक रूप में अन्य देशों में भी वर्तमान है।

यही इस देश के वर्णाश्रम-धर्म का सच्चा स्वरूप है जिसपर हिन्दू-समाज का महान् तथा सुदृढ़ प्रासाद खड़ा किया गया है। आज विकराल काल के गाल में पड़कर अनेक प्राचीन समाज नष्ट हो गये हैं, वे अतीत के गाथा बन गये हैं परन्तु 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी'। हमारे संगठन में कुछ ऐसा रहस्य है जिससे हमारी सत्ता भी वैसी ही बनी हुई है। प्राचीन काल में ग्रीक एवं रोमन समाज सुदृढ़ भित्ति पर अवलम्बित था। परन्तु इतिहास के विद्वानों से यह बात छिपी नहीं है कि जब रोमन लोगों ने ग्रीक-लोगों पर आक्रमण किया तब उन्होंने उनके समाज को नितान्त विघटित कर दिया था। इसी प्रकार से हूणों ने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण कर उस देश की सामाजिक संगठन को ढीला ही नहीं जर्जरित बना दिया था। आज चीन और जापान की सामाजिक व्यवस्था वैसी नहीं है जैसी प्राचीन काल में थी। परन्तु भारतीय समाज की ही यह विशेषता है कि वह प्रबल शत्रुओं के अनेक भयंकर आक्रमणों को सहता हुआ, शताब्दियों से भयावह कलिकाल का थपेड़ा खाता हुआ, आज भी अपने पूर्व रूप में वर्तमान है। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा का बहुत कुछ श्रेय इस समाज को प्राप्त है।

वर्णाश्रम-धर्म की महत्ता

दूसरी विशेषता इस वर्णाश्रम-धर्म की यह है कि यह सबको अपने अपने कर्म में लगे रहने की शिक्षा देता है। भगवान् ने गीता में स्पष्ट ही कहा है कि:—

पहले काल में धर्मसूत्रों की रचना हुई। स्मृतियों में सबसे महत्त्वपूर्ण मनुस्मृति का भी निर्माण इसी काल के अन्तर्गत हुआ। इस कालमें मनुस्मृति को छोड़कर अन्य ग्रन्थोंकी रचना सूत्ररूप में की गई है। इसीलिये इसकाल का नाम सूत्रकाल रक्खा गया है। दूसरे कालमें पद्यबद्ध स्मृतियों की रचना की गई। यह काल धर्मशास्त्रके इतिहासमें अत्यन्त रचनात्मक काल है। भारतीय समाज तथा व्यवहारको व्यवस्थित करने वाली स्मृतियों का यही रचना-काल है। यह काल प्रधानतया प्रथम शताब्दी से लेकर ७०० वर्षों तक रहा। तृतीयकाल में पद्यबद्ध स्मृतियों की गद्यात्मक व्याख्यायें लिखी गईं। इस के साथही स्मृतियों के किसी एक विशिष्ट विषय—जैसे विवाह, दायभाग, व्यवहार (कानून) आदि—को लेकर विस्तृत ग्रन्थ लिखे गये जिसमें किसी विशिष्टमत का प्रतिपादन पुराण, धर्मसूत्र तथा स्मृतियों के आधार पर किया गया। ऐसे ग्रन्थों को 'निबन्ध' कहते हैं। ये निबन्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, किसी स्मृति की टीका नहीं हैं। इन निबन्धों की विशालता तथा व्यापकता को देखकर उनके रचयिताओं के पाण्डित्य पर हमें चकित हो जाना पड़ता है। इसकाल में जो व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये वे भी बड़े महत्त्वपूर्ण तथा पाण्डित्य-मण्डित हैं। माधवाचार्य ने पराशर स्मृति के केवल एक श्लोक (क्षत्रियो हि) की व्याख्या सैकड़ों पृष्ठों में की है। मूल श्लोकमें संकेतित व्यवहार का विस्तार तथा विवरण आचार्य माधव ने उपलब्ध समस्त स्मृतियों का उद्धरण देते हुए प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह एकश्लोकी व्याख्या स्वतन्त्र पुस्तक है।

धर्मसूत्र

(क) धर्मशास्त्रके इतिहास में सर्वप्रथम स्थान धर्मसूत्रों का है। इन धर्मसूत्रों में उस प्राचीन काल के समाज का वर्णन पाया जाता है

जिसका आभास हमें वेदों की संहिताओं में मिलता है। ये धर्मसूत्र स्मृतियों से दो विषयों में पृथक् किये जा सकते हैं (१) शैली तथा (२) वर्ण्य विषय। धर्मसूत्रों में—जैसा कि इनके नाम से ही ज्ञात होता है—सूत्र शैलीका व्यवहार किया गया है। वे अधिकतर गद्य में ही लिखे गये हैं, परन्तु कहीं-कहीं गद्य तथा पद्य का मिश्रण भी पाया जाता है। इसके विपरीत, स्मृतियों में सर्वत्र छन्दोंबद्ध पद्यों का ही प्रयोग किया गया है। भाषा की दृष्टि से ये धर्मसूत्र आर्ष प्रयोगों से भरे पड़े हैं। इनकी भाषा अति प्राचीन है तथा संक्षिप्त है। स्मृतियों की भाषा पाणिनि के नियमों का सर्वथा अनुकरण करती है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि इन धर्मसूत्रों में विषयों का क्रमानुसार वर्णन नहीं है। इसके विपरीत, समस्त स्मृतियों में विषयों का वर्णन आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त के अन्तर्गत विशिष्ट क्रम से किया गया है।

(१) गौतम धर्मसूत्र—उपलब्ध धर्मसूत्रों में यह सबसे प्राचीन माना जाता है। सामवेद की राणायनीय शाखा के नव विभागों के अन्तर्गत गौतम अन्यतम है। इसीलिये इस धर्मसूत्र का सम्बन्ध सामवेद के साथ अत्यन्त घनिष्ठ है। गौतम की भाषा आपस्तम्ब की अपेक्षा अधिक पाणिनीय है। प्राचीन धर्माचार्यों में इन्हों ने मनुका नामोल्लेख किया है। वसिष्ठ धर्मसूत्र का २२ वाँ अध्याय गौतम के १९ वें अध्यायका अक्षरशः उद्धरण है। याज्ञवल्क्य, कुमारिलभट्ट, शंकराचार्य तथा मेधातिथि ने गौतम का निर्देश अपने ग्रन्थों में किया है। हरदत्त ने तथा आचार्य मस्करी ने इसपर टीकायें लिखी हैं। इन धर्मसूत्र का रचनाकाल ई० पू० ६०० से ई० पू० ४०० के भीतर है। इस धर्मसूत्र में २८ अध्याय हैं जिनमें चारों आश्रम विवाह, आचार, स्नातक, राजधर्म, दण्डविधान, साक्षी के नियम, श्राद्ध, उपाकर्म, स्त्रीधर्म तथा नियोग विधि, पापनाशक

जप, तप का विधान तथा प्रायश्चितों के नाना प्रकारों का वर्णन क्रमशः किया गया है।

(२) *बौधायन धर्मसूत्र*—बौधायन कृष्ण यजुर्वेद के आचार्य थे। बौधायन गृह्यसूत्र से पता चलता है कि बौधायन धर्मसूत्र की रचना उसके पहले हो चुकी थी। इनकी भाषा पाणिनि के नियमों का अनेक स्थलों पर उल्लंघन करती है। इस धर्मसूत्र का सम्बन्ध दक्षिण भारत से है। इसका रचनाकाल ई० पू० ५०० से ई० पू० २०० तक है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं जिन्हें 'प्रश्न' कहा जाता है। पहले प्रश्न में धर्म का मूल, ब्रह्मचर्य, स्नातक के धर्म, शरीर तथा मानस शौच, चातुर्वर्ण्य तथा अवान्तर जातियाँ, राजधर्म तथा विवाह के आठ भेद हैं। दूसरे अध्याय में प्रायःश्चित्त, दायभाग, गृहस्थ के धर्म, सन्ध्या, मंत्र महायज्ञ, श्राद्ध तथा संन्यास का वर्णन है। तीसरे अध्याय में वानप्रस्थ के नियम तथा वेदों के अध्ययन प्रकार का वर्णन है। चौथे अध्याय में प्रायश्चित्त का विशेष वर्णन तथा जप, तप तथा होम का उपादेय विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(३) *आपस्तम्ब धर्मसूत्र*—यह ग्रन्थ आपस्तम्ब कल्पसूत्र का एक अंश है। कृष्ण यजुर्वेद से संबद्ध आपस्तम्ब का कल्पसूत्र तीस (३०) अध्यायों (प्रश्नों) में विभक्त है जिनमें २८ और २९ वें अध्यायों में यह धर्मसूत्र निबद्ध है। आपस्तम्ब तैत्तिरीय शाखा से संबद्ध ऋषि हैं। इनकी भाषा बड़ी प्राचीन है जिनमें अपाणिनीय प्रयोगों की सत्ता अन्य उपलब्ध धर्मसूत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। अप्रयुक्त शब्दों की यहाँ अधिकता है। गौतम तथा आपस्तम्ब का परस्पर सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ठ है। मीमांसा के भाष्यकार शबर तथा कुमारिल तथा स्मृति भाष्यकार विश्वरूप तथा मेधातिथि ने इनका निर्देश किया है। ये प्राचीनकाल से धर्मशास्त्र के विषय में प्रमाण माने जाते हैं। इनके देश-काल का ठीक-ठीक परिचय

नहीं मिलता। ये गौतम तथा बौधायन से अर्वाचीन तथा मीमांसाकार जैमिनि से प्राचीन हैं। इसलिये इनका समय ई० पू० ६०० से ३०० ई० पू० है।

(४) *वसिष्ठ धर्मसूत्र*—धर्मशास्त्र में वसिष्ठ का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इनके मतों में प्राचीनता अधिक है। दत्तक, नियोग, पुनर्विवाह के विषय में इनके मत अन्य स्मृतिकारों से विभिन्न हैं। इनके ग्रन्थ में ३० अध्याय है जिनमें धर्म, वर्ण, संस्कार, स्त्रीधर्म, ब्रह्मचारी के धर्म, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के नियम, दत्तकविधान तथा प्रायश्चित्त आदि विषयों का क्रमशः वर्णन है। इस ग्रन्थ की रचना ई०पू० ६००—१०० ई० पू० तक है। इसके अतिरिक्त विष्णु, हारीत, तथा वैखानस, शंख लिखित के धर्मसूत्र उपलब्ध होते हैं। अत्रि, उसनस्, कण्व और काण्व कश्यप तथा काश्यप, गार्ग्य, च्यवन, जातुकर्ण्य, देवल, पैठीनसि, बुध, बृहस्पति, भरद्वाज और भारद्वाज, शातातप, तथा सुमन्तु—इन आचार्यों के द्वारा धर्मसूत्रों की रचना की गई थी। इनमें कुछ के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं तथा दूसरों के उद्धरण तथा निर्देश अवान्तर स्मृति ग्रन्थों में मिलते हैं।

स्मृति

स्मृतियों का साहित्य बड़ा विशाल तथा विस्तृत है। यहाँ पर केवल प्रधान-प्रधान स्मृतियों का ही वर्णन करना आवश्यक समझा जाता है।

स्मृति

इन स्मृतियों में मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति विषय की दृष्टि तथा व्याख्या की सम्पत्ति के कारण नितान्त महत्त्वपूर्ण है। अन्य स्मृतियों के भी भाष्य उपलब्ध होते हैं परन्तु इन दोनों स्मृतियों के ऊपर जो व्याख्यायें तथा अवान्तर व्याख्यायें निर्मित की गईं वे धर्मशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त उपयोगी तथा महत्त्वशालिनी हैं।

इसीलिये इन्हीं दोनों स्मृतियों का विवरण सर्वप्रथम प्रस्तुत किया जा रहा है। तदनन्तर प्रान्तविभाग से स्मृतियों के निबन्धों के रचयिताओं का वर्णन प्रस्तुत किया जायेगा।

(१) *मनुस्मृति*—स्मृतिकारों में मनु का स्थान सर्वोत्तम है। वेदों में मनु मानव जाति के पिता के रूप में स्मरण किये गये हैं। शतपथ ब्राह्मण में मनु के द्वारा जलप्लावन के अनन्तर सृष्टि-विधान का वर्णन मिलता है। स्मृतिकर्त्ता के रूप में मनु की कीर्ति प्राचीनकाल से चली आ रही है। कहावत प्रसिद्ध है कि मनु ने जो कहा है वह औषध का भी औषध है:—यद् मनुरवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः। मनुस्मृति में १२ अध्याय हैं तथा २६९४ श्लोक हैं। इसकी शैली बड़ी ही रोचक तथा प्रभावोत्पादक है। स्मृतियों के समग्र विषय बड़े ही क्रम तथा विस्तार से इस ग्रन्थ में वर्णित हैं। प्रथम अध्याय में सृष्टि-विषयक अनेक ज्ञातव्य बातों का वर्णन है तथा मनु की आज्ञा से भृगु ऋषि का धर्मकथन है। दूसरे अध्याय में धर्म का लक्षण तथा उसके निदान तथा ब्रह्मचारी के नियमों का विशेष वर्णन है। तीसरे, चौथे तथा पाँचवें अध्याय में विवाह, उसके प्रकार, गृहस्थ के धर्म, श्राद्ध- स्नातक, विहित तथा निषिद्ध भोजन आदि गृहस्थ धर्मोचित विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। छठवें अध्याय में परिव्राजक तथा संन्यासी के नियमों का वर्णन है। सप्तम अध्याय में राजधर्म, आठवें तथा नवें में कानून का बड़े विस्तार के साथ विवरण प्रस्तुत किया गया है। दसवें में वर्णसंकर, म्लेच्छ, काम्बोज आदि जातियों के आचार का वर्णन है। एगारहवें में प्रायश्चित्त तथा अन्तिम अध्याय में मोक्ष और उसके साधनों का विवेचन है। मनुस्मृति तथा महाभारत का सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ठ है। वर्तमान मनुस्मृति की रचना शुङ्गवंशी राजाओं के काल में हुई अर्थात विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर २०० शताब्दी विक्रमी के भीतर हुई।

(१) *मेधातिथि*—मनु के टीकाकारों में मेधातिथि ही सबसे प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण है। मेधातिथि का यह ग्रन्थ टीका नहीं, भाष्य है। ये उत्तरी भारत के तथा संभवतः काश्मीर के रहने वाले थे। पीछे के निबन्ध-कारों ने मेधातिथि के प्रामाण्य को सर्वथा स्वीकार किया है। इन्होंने स्वयं प्राचीन टीकाकार असहाय, भर्तृयज्ञ, विष्णुस्वामी, आदि का उल्लेख अपने भाष्य में किया है। मेधातिथि पूर्वमीमांसा के प्रकाण्ड ज्ञाता थे। स्मृति के विषय में इनके विचार अनेक दृष्टि से स्वतन्त्र तथा महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने 'स्मृति विवेक' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था जिसके श्लोकों का उद्धरण इन्होंने अपने मनुभाष्य में किया है। इनका समय ८२५ ई० से ९०० ई० तक है।

टीकाकार

(२) *गोविन्दराज*—इन्होंने मनुस्मृति के ऊपर व्याख्या लिखी है। ये माधवभट्ट के पुत्र तथा नारायणभट्ट के पौत्र थे। इन्होंने गंगातीर पर अपने निवासी होने का उल्लेख किया है। कुछ लोग काशी के राजा गोविन्दचन्द्र के साथ इनकी एकता मानते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि ये क्षत्रिय नहीं बल्कि ब्राह्मण थे। इन्होंने स्मृतिमञ्जरी नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था जिसका उल्लेख जीमूतवाहन ने तथा हेमाद्रि ने किया है। इसलिये इनका समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

(३) *कुल्लूकभट्ट*—मनु के टीकाकारों में सबसे लोकप्रिय टीकाकार यही है। इनकी टीका का नाम मन्वर्थमुक्तावली है। यह टीका उतनी मौलिक नहीं जितना मौलिक कुल्लूकभट्ट इसे बतलाते हैं। इन्होंने मेधातिथि तथा गोविन्दराज के मतों का समावेश बिना नाम निर्देश किये अपनी टीका में किया है। ये वारेन्द्र श्रेणी के बङ्गाली ब्राह्मण थे। यह टीका काशी में लिखी गई थी और संभवतः १३ वीं शताब्दी के मध्यभाग में इसकी रचना हुई थी। इन टीकाकारों के अतिरिक्त नारायण सर्वज्ञ

(११००—१३०० ई०) की मन्वर्थ-विवृति, राघवानन्द (१४०० ई०) की मन्वर्थ चन्द्रिका, मणिराम दीक्षित की सुखबोधिनी तथा रामचन्द्र की मनुटीका–मनुस्मृति की प्रसिद्ध व्याख्यायें हैं।

धर्मशास्त्र में मनु का स्थान सर्वोच्च तथा सर्वव्यापक है। भारत में ही नहीं प्रत्युत भारत के बाहर भी काम्बोज (कम्बोडिया), जावा, सुमात्रा आदि भारतीय उपनिवेशों में समाज की व्यवस्था मनु के नियमानुसार ही होती है। मनु के सिद्धान्त दार्शनिक भित्ति पर स्थिर हैं। चातुर्वर्ण्य की जो विशेषता मनु ने जो प्रतिपादित की है वह वैज्ञानिक आधार पर दृढ़ीभूत है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने भी अपने आदर्श समाज की कल्पना इसी मनु की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुरूप की है। मनुस्मृति केवल भारत के लिए ही लाभकारी नहीं है, प्रत्युत मानव-समाज का हित करने वाला ग्रन्थ है।

याज्ञवल्क्य स्मृति—मनुस्मृति के अनन्तर स्मृति ग्रन्थों में याज्ञवल्क्य स्मृति की ही मान्यता है। याज्ञवल्क्य ऋषि वैदिक ऋषियों में अपनी उदात्त तत्त्वज्ञता के कारण नितान्त विश्रुत हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य एक नितान्त मौलिक तत्त्ववेत्ता के रूप में चित्रित किये गये हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति का प्रभाव अवान्तर स्मृतियों पर ही नहीं पड़ा है, प्रत्युत अग्निपुराण तथा गरुड़ पुराण के धर्म सम्बन्धी अंश याज्ञवल्क्य स्मृति से ही मुख्यतः ग्रहण किये गये हैं। गरुण पुराण ने आचार तथा प्रायश्चित के वर्णन में याज्ञवल्य को ही अपना मूल स्रोत स्वीकार किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति तीन अध्यायों में विभक्त है (१) आचाराध्याय (२) व्यवहाराध्याय (३) प्रायश्चित्ताध्याय। इनके नाम के अनुरूप ही विषयों का वर्णन किया गया है। मनु और याज्ञवल्क्य के तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मनु की अपेक्षा याज्ञवल्क्य के सिद्धान्त बहुत अधिक

विकसित हैं। मनु ब्राह्मण को शूद्र की कन्या से विवाह करने का आदेश देते हैं लेकिन याज्ञवल्क्य ने इसका स्पष्ट निषेध किया है। पुत्रहीन, विधवा स्त्री को अपने पति के धन का अधिकार है या नहीं? इस विषय में मनु नितान्त मौन हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य ने उस विधवा को उत्तराधिकारियों में मुख्य स्थान दिया है। मनु ने द्यूत की स्पष्ट निन्दा की है परन्तु याज्ञवल्क्य इसे राजा की आय का साधन मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुस्मृति की अपेक्षा याज्ञवल्क्यस्मृति अर्वाचीन है। इसका रचनाकाल १००–३०० ई० है। इस स्मृति के अनेक टीकाकार हुये जिनमें से कुछ प्रधान टीकाकारों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है:—

(१) विश्वरूप—इनकी टीका का नाम बालक्रीड़ा है जो अनन्तशयन (ट्रावनकोर) ग्रन्थावली में प्रकाशित हुई है। मिताक्षरा ने अपने आरंभ के ही श्लोक में इसका उल्लेख किया है। यह टीका प्राचीन होने के या याज्ञवल्क्य के सिद्धान्तों को जानने के लिये बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। यह टीका पूर्वमीमांसा के सिद्धान्तों से व्याप्त है। इन्होंने शबर तथा कुमारिल को स्थान पर उद्धृत किया है। विश्वरूप और सुरेश्वराचार्य अभिन्न व्यक्ति माने जाते हैं। यदि यह बात सत्य है तो इनका समय ८००–८५० ई० के भीतर मानना चाहिये।

(२) विज्ञानेश्वर—इनकी ही टीका का नाम 'मिताक्षरा' है जिसे आजकल की अंग्रेजी कचहरी स्मृति ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्व देकर प्रामाणिक मानती है। इसके रचयिता विज्ञानेश्वर चालुक्यवंशी नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के सभा-पण्डित थे। यह राजा कल्याणी में राज्य करता था। इसका राज्यकाल १०७५ ई० से ११२५ ई० तक है। इसके समकालिक होनेसे विज्ञानेश्वर का समय ११वीं शताब्दी का अन्तिम काल है। ये पूर्व मीमांसा के विशेष पण्डित प्रतीत होते हैं। अंग्रेजी कचहरी में आजकल दायभाग इसी

ग्रन्थ के आधार पर किया जाता है। इस ग्रन्थ के महत्त्व का परिचायक इसकी नव टीकायें हैं जिनमें नन्द पण्डित की प्रमिताक्षरा, लक्ष्मी देवी की बालंभाट्टी तथा विश्वेश्वरभट्ट की सुबोधिनी नितान्त प्रसिद्ध है।

(३) अपरार्क—इन्होंने याज्ञवल्क्य स्मृति के ऊपर बृहत्काय टीका लिखी है। ये शिलाहार वंशके राजा थे। इस टीका की रचना ११२५ ई० के आस-पास हुई। अपरार्क का ग्रन्थ व्याख्या न होकर एक स्वतन्त्र निबन्ध-ग्रन्थ है। यह मिताक्षरा से बहुत बड़ा है। पुराणों के धर्म-सम्बन्धी अंशों का भी इन्होंने खूब उद्धरण किया है। अपरार्क तथा विज्ञानेश्वर दोनों समकालीन थे। अतः अपरार्क ने मिताक्षरा देखी थी या नहीं? यह कहना कठिन है।

इन टीकाओं के अतिरिक्त कुलमणि शुक्ल, देवबोध, धर्मेश्वर रघुनाथभट्ट शूलपाणि तथा मित्रमिश्र की टीकायें भी उपलब्ध हैं जिनमें से कतिपय प्रकाशित भी हो गई है।

इन दोनों स्मृतियों के अतिरिक्त जिन स्मृतिकारों के स्मृति ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनका नाम निर्देश यहाँ किया जा रहा है। इनमें से कुछ स्मृतियाँ छपी हैं तथा कुछ अभी अप्रकाशित हैं—

(१) पराशर (२) नारद (३) बृहस्पति (४) कात्यायन (५) अंगिरा (६) दक्ष (७) पितामह (८) पुलस्त्य (९) प्रचेतस (१०) प्रजापति (११) मरीचि (१२) यम (१३) विश्वामित्र और (१४) व्यास एवं (१५) हारीत।

निबन्धकाल

धर्मशास्त्र के अन्तिम—निबन्ध-काल के लेखकों की संख्या बहुत ही बड़ी है। कालक्रम से इन सब लेखकों का वर्णन स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा सकता। भारत के विभिन्न प्रान्तों में उत्पन्न प्रधान स्मृति-कारों के ग्रन्थ तथा कार्य का वर्णन प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा।

बंगाल के निबन्धकार

(१) जीमूतवाहन—बंगाल-निबन्धकारों में जीमूतवाहन का नाम सबसे प्रसिद्ध है। इन्हीं के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'दायभाग' के अनुसार बङ्गाल में उत्तराधिकार के कानून की व्यवस्था की जाती है। इस तरह इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता उस प्रान्त के ग्रन्थों में सबसे अधिक है। जीमूतवाहन ने कालविवेक, व्यवहार-मातृका तथा दायभाग इन तीन ग्रन्थों की रचना की परन्तु उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ दायभाग ही है। इस ग्रन्थ का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कोलब्रूक साहब ने किया था। दायभाग में सम्पत्ति के विभाजन का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। इसके मत अनेक बातों में मिताक्षरा से विलक्षण हैं। इनका समय १०९० ई०–११३० ई० के मध्य में समझना चाहिये।

(२) शूलपाणि—जीमूतवाहन के अनन्तर शूलपाणि की ही प्रामाणिकता बंगाल में मानी जाती है। इन्होंने एक बृहत्काय निबन्ध-ग्रन्थ 'स्मृति-विवेक' के नाम से लिखा था जिसके १४ विभिन्न भागों के अस्तित्व का पता चलता है। इनमें सबसे सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है—*'श्राद्ध-विवेक'* जिसके ऊपर श्रीनाथ आचार्य चूड़ामणि तथा गोविन्दानन्द जैसे लेखक ने प्रामाणिक टीकायें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त इनका 'प्रायश्चित्त-विवेक' तथा 'दुर्गोत्सव-विवेक' भी प्रकाशित हुये हैं। शूलपाणि ने 'कालमाधव' तथा चण्डेश्वर के ग्रन्थ 'स्मृति-रत्नाकार' का उल्लेख किया है जिससे इनका १३७५ ई० के अनन्तर होना सिद्ध होता है। इनके 'प्रायश्चित्त-विवेक' की एक हस्तलिखित प्रति १४८८ ई० में लिखी गई। अतः इनका समय १५वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में मानना उचित है।

(३) रघुनन्दन—बंगाल के महान् स्मृतिकारों में अन्तिम महान्

लेखक रघुनन्दन हैं। इनके विशालकाय ग्रन्थ का नाम 'स्मृति-तत्त्व' है जो २८ तत्त्व नामक खण्डों में विभक्त है जिनमें दायतत्त्व, शुद्धितत्त्व, विवाह तत्त्व, तिथि तत्त्व, दुर्गोत्सव तत्त्व, व्यवहार तत्त्व आदि प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में ३०० से भी अधिक स्मृति-लेखकों का नामोल्लेख तथा उनके ग्रन्थ का उद्धरण प्रस्तुत किया है। इस विपुल पाण्डित्य के कारण ही इनका नाम 'स्मार्त भट्टाचार्य' पड़ गया था तथा इसी नाम से पिछले स्मृतिकारों ने इनका उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। इनका प्रत्येक ग्रन्थ उस विषय का प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत करता है। रघुनन्दन और चैतन्य महाप्रभु एक ही गुरु वासुदेव सार्वभौम के शिष्य थे। अतः इनका समय १६वीं शताब्दी का मध्यभाग है।

इन लेखकों के अतिरिक्त अनिरुद्ध तथा राजा वल्लालसेन का नाम इस प्रसंग में उद्धृत करना उचित होगा। बल्लालसेन लक्ष्मणसेन के पिता थे और १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल पर शासन करते थे। इन्होंने चार पुस्तकें संकलित की हैं—(१) आचार सागर (२) अद्भुत सागर (३) दान सागर तथा (४) प्रतिष्ठा सागर। इनमें दानसागर में पुराणों के इतने अधिक उद्धरण मिलते हैं कि उनकी सहायता से पुराणों के मूलपाठ की समीक्षा की जा सकती है। अनिरुद्ध इन्हीं बल्लालसेन के गुरु थे। इनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं (१) हारलता और (२) पितृदयिता। हारलता में आशौच का विशेष वर्णन है तथा पितृदयिता सामवेदियों की नित्यकर्म-पद्धति है। अनिरुद्ध राजा के गुरु होने के अतिरिक्त उनकी कचहरी के धर्माधिकरणिक (जज्ज) भी थे।

मिथिला के स्मृति लेखक

(१) श्रीदत्त उपाध्याय—मिथिला के स्मृतिकार बंगीय स्मृतिकारों के लिये आदर्शरूप है। इनमें श्रीदत्त उपाध्याय प्राचीन मैथिल निबन्धकार

है। इनका 'श्राद्ध कल्प' तथा 'समय प्रदीप' नितान्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। ये १३वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुये। इनका 'आचारादर्श' नामक ग्रन्थ शुक्ल यजुर्वेदियों के लिये नित्यकर्म पद्धति का विधान करता है जिसमें सन्ध्या, जप, ब्रह्मयज्ञ, तर्पण, बलिवैश्वदेव आदि आचारों का सम्यक् विधान है। 'समय प्रदीप' में व्रतों के विधान-योग्य तिथियों का सम्यक् विवेचन है।

(२) *चण्डेश्वर*—मिथिला के निबन्धकारों में चण्डेश्वर ही सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने "स्मृति रत्नाकर" नामक विपुलकाय निबन्ध का संकलन किया है जिसके क्रिया, दान, व्यवहार, शुद्धि, पूजा, विवाद तथा गृहस्थ-रत्नाकर सात खण्ड हैं। इनमें विवाद-रत्नाकर दायभाग तथा तत्सम्बधी अन्य कानून का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करता है। इसके अँग्रेजी अनुवाद भी किये गये हैं। चण्डेश्वर का यह 'विवाद-रत्नाकर' और वाचस्पति का 'विवाद-चिन्तामणि' मिथिला के दायभाग के ऊपर प्रामाणिक ग्रन्थ हैं और आजकल इन्हीं के द्वारा मिथिला में उत्तराधिकार के कानून की व्यवस्था की जाती है। राजनीति के विषय में इनका "राज-नीति-रत्नाकर" मध्ययुग की राजनीति जानने के लिये परमावश्यक ग्रन्थ है। ये चण्डेश्वर उच्चकुल के थे तथा इनके घराने का सम्बन्ध मिथिला के राजघराने से सदा रहा है। इनके पितामह देवादित्य तीरभुक्ति (तिरहुत) के राज हरिसिंहदेव के मन्त्री थे। इनके पिता वीरेश्वर सात भाई थे तथा उनमें से अधिकांश मन्त्रीपद पर आसीन थे। वीरेश्वर स्वयं मिथिलानरेश के सान्धि-विग्रहिक (मन्त्री) थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् चण्डेश्वर को भी यह पद प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त ये मिथिलानरेश के प्राड्विवाक भी (प्रधान जज) थे। इनका समय १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध था। चण्डेश्वर का प्रभाव मिथिला तथा बंगाल के निबन्धकारों पर बहुत ही अधिक पड़ा है।

(३) *वाचस्पति मिश्र*—ये मिथिला के सर्वप्रधान तथा सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं। इनका 'विवाद-चिन्तामणि' मिथिला में हिन्दू-उत्तराधिकार के कानून का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है तथा इसकी प्रामाणिकता भारत के हाईकोर्टों तथा लन्दन की प्रीवी कौंन्सिल से स्वीकृत की गई है। इन्होंने कमसे कम ११ ग्रन्थों की रचना की थी जिनके नामों के अन्त में चिन्तामणि शब्द का व्यवहार हुआ है, जैसे आचार चिन्तामणि, आह्निक चिन्तामणि, कृत्य चिन्तामणि, तीर्थ चिन्तामणि, विवाद चिन्तामणि, व्यवहार चिन्तामणि, शुद्धि चिन्तामणि तथा श्राद्ध चिन्तामणि आदि। इनके दूसरे स्मृति-ग्रन्थों के अन्त में निर्णय शब्द आता है जैसे तिथि-निर्णय, द्वैत-निर्णय, महादान-निर्णय, शुद्धि-निर्णय आदि। इन्होंने अपने ग्रन्थ शूद्राचार-चिन्तामणि की पुष्पिका में अपने को महाराजाधिराज का परिषद् लिखा है। अपने अन्य ग्रन्थों में ये अपने को मिथिलानरेश भैरव तथा उनके पुत्र रूप नारायण का सभापण्डित लिखा है। इससे स्पष्ट है कि ये मिथिला में १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। ये मिथिला के उन सुप्रसिद्ध दार्शनिक, भामती के कर्त्ता, वाचस्पति मिश्र से सर्वथा पृथक् व्यक्ति हैं जिनका उदयकाल नवम शताब्दी का पूर्वार्ध है।

दाक्षिणात्य निबन्धकार

(१) *देवरण भट्ट*—इनकी "स्मृति चन्द्रिका" नामक ग्रन्थ बड़ा ही विशालकाय ग्रन्थ है जिसमें संस्कार, आह्निक, व्यवहार श्राद्ध, तथा आशौच विषयक भिन्न-भिन्न काण्ड हैं। दायभाग अत्यन्त महत्त्वशाली होने से इसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया गया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ११ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध है।

(२) *हेमाद्रि*—दाक्षिणात्य 'निबन्धकारों' में हेमाद्रि तथा माधवाचार्य

नितान्त प्रसिद्ध हैं। उनका 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' प्राचीन धार्मिक व्रतों, उपासनाओं तथा आचारों का सचमुच विश्वकोष है। इसमें पांच बड़े बड़े खण्ड हैं— (१) व्रत खण्ड (२) दान खण्ड (३) तीर्थ खण्ड (४) मोक्ष खण्ड और (५) परिशिष्ट खण्ड। परिशिष्ट खण्ड में भी चार अवान्तर खण्ड हैं जिनमें देवता, काल निर्णय, कर्म विपाक तथा लक्षण समुच्चय नामक चार प्रकरण हैं। कलकत्ते से यह ग्रन्थ छः भागों में बिब्लोथिका इन्डिका सीरीजमें प्रकाशित हुआ है जिसमें छपने पर छः हजार पृष्ठ हैं। इसमें केवल व्रत, दान, श्राद्ध तथा काल विषय का विवेचन है। प्रथम दो तो ग्रन्थ के मुख्य काण्ड हैं और अन्तिम दो परिशिष्ट काण्ड के दो अंश है। तीर्थ तथा मोक्ष काण्ड का अब तक पता नहीं चलता। इन काण्डों को ग्रन्थकार ने लिखा था कि नहीं, इसमें भी सन्देह ही है। जिन विषयों के ऊपर हेमाद्रि ने ग्रन्थ लिखा है उन पर उनका प्रामाण्य सर्वातिशायी है। उन्होंने स्मृतियों तथा पुराणों से बड़े लम्बे-लम्बे उद्धरण दिये हैं। प्राचीन स्मृतिकारों तथा निबन्धकारों से जो उद्धरण दिये हुये हैं वे भी मात्रामें बहुत अधिक हैं। पूर्व मीमांसा के हेमाद्रि बड़े मर्मज्ञ विद्वान् थे। श्राद्ध और काल विषयमें इनके विवेचन मीमांसा के न्यायों की बिना जानकारी रक्खे समझे ही नहीं जा सकते। धर्मशास्त्र के विषय में इनके अपने विशिष्ट मत हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थों के आरम्भ में अपना तथा अपने आश्रयदाता देवगिरि के यादव नरेश महादेव का विस्तृत वर्णन किया है। ये राजा महादेव के सर्व श्रीकरण प्रभु (प्राचीन लेखकों के रक्षक) पद पर नियुक्त थे। महादेव ने १२६० ई० से १२७१ ई० तक तथा उनके उत्तराधिकारी रामचन्द्र ने १२७१ ई० से १३०९ ई० तक राज्य किया। इस प्रकार हेमाद्रि का समय १३ शताब्दी का उत्तरार्ध है। हेमाद्रि के ही आश्रय में रहकर बोपदेव ने मुग्धबोध व्याकरण तथा

मुक्ताफल और हरिलीला नामक भागवत-विषयक ग्रन्थों की रचना की।

इनका व्यक्तित्व महान् तथा विशाल था। महाराष्ट्र देश में इनका नाम एक विचित्र शैली से निर्मित विशाल मन्दिरों की रचना के साथ संबद्ध है। इन्होंने 'मोड़ी' नामक नई लिपि का आविष्कार तथा प्रचलन महाराष्ट्र देश में किया था। थोड़े ही समय में इनका ग्रन्थ समग्र दक्षिण भारत में प्रमाण रूप से माना जाने लगा। माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'काल निर्णय' (१३४० ई०) में हेमाद्रि के व्रत-खण्ड का स्पष्ट उल्लेख किया है।

(३) माधवाचार्य—हेमाद्रि के अनन्तर माधवाचार्य ही दाक्षिणात्य स्मृतिकारों में सबसे प्रसिद्ध हैं। ये अपने समय के बड़े ही प्रभावशाली व्यक्ति थे। विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक के रूप में इनकी कीर्ति सदा अमर रहेगी। इनके अनुज सायणाचार्य ने इन्हीं के आदेशानुसार चारों वेदों के ऊपर प्रामाणिक भाष्यों की रचना की। इनका समय १३३०–१३८५ ई० है। पीछे सन्यास ग्रहण कर इन्होंने 'विद्यारण्य' नाम रक्खा तथा शंकराचार्य के प्रधान पीठ शृङ्गेरी की गद्दी को सुशोभित किया। इस प्रकार धर्मशास्त्र, कर्म मीमांसा तथा वेदान्त के इतिहास में माधवाचार्य का नाम सदा अमर रहेगा।

इन्होंने धर्मशास्त्र विषयक निम्नांकित ग्रन्थों की रचना की है—(१) पराशर माधव (२) कालनिर्णय या काल–माधव (३) दत्तक मीमांसा (४) गोत्र-प्रवरनिर्णय (५) मुहूर्तमाधव (६) स्मृति संग्रह तथा (७) व्रात्यस्तोम पद्धति। इनमें 'पराशर माधव' और 'काल माधव' उपयोगिता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। (क) पराशर माधव नामक ग्रन्थ माधवाचार्य की अलौकिक विद्वत्ता, गाढ़ अनुशीलन तथा अप्रतिम मेधा-शक्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। केवल यही ग्रन्थ

धर्मशास्त्र के इतिहास में इनके नाम को अमर बनाने में पर्याप्त है। यह ग्रन्थ है तो पराशर स्मृति का भाष्य ही परन्तु इसमें विवेच्य विषयों का इतना साङ्गोपाङ्ग वर्णन है कि यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ कहलाने की योग्यता रखता है। (ख) 'काल माधव' समय के निर्णय विषय को लेकर लिखा गया है जिसमें वर्ष की कल्पना तथा भेद, तिथियों का निर्णय, नक्षत्रों का विवेचन तथा काल की दार्शनिक कल्पना प्रमाण पुरस्सर की गई है। काल-निर्णय के विषय में यह ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक तथा उपादेय है।

काशी के निबन्धकार

काशी अति प्राचीन काल से संस्कृत विद्या का केन्द्र रहा है। मध्य युग में अनेक धर्म-शास्त्रियों ने अपने उपादेय ग्रन्थों की रचना विश्वनाथ की इसी नगरी में की थी। यहाँ पर दक्षिणात्य ब्राह्मणों के दो कुटुम्ब-धर्माधिकारी वंश तथा भट्ट वंश—थे जिन्होंने धर्मशास्त्र की रचना कर इसके भण्डार को भरा। काशी तथा इस स्थान के आस पास के रहने वाले ग्रन्थकारों का परिचय इस स्थान पर दिया जायेगा।

(१) नारायण भट्ट—भट्ट वंश के सबसे प्रसिद्ध पण्डित यही थे। इनके पिता विश्वामित्र-गोत्रीय रामेश्वर भट्ट प्रतिष्ठानपुर (पैठण) से पहले पहल काशी आये थे। नारायण भट्ट का जन्म १५१३ ई० में हुआ था। ये अपने पिता के ज्येष्ठ पुत्र थे। अपने पाण्डित्य के कारण उत्तर भारत की विद्वन्मण्डली ने इन्हें 'जगत् गुरु' की उपाधि दे रक्खी थी। इन्हीं के कारण इनका वंश काशीस्थ विद्वन्मण्डली में सर्व-प्रथम पूजा का अधिकारी है। प्रसिद्धि है कि विश्वनाथजी के मन्दिर की पुनः स्थापना इन्होंने ही कराई थी। इनके अनेक स्मृति-ग्रन्थों में तीन ग्रन्थ मुख्य हैं (१) अन्त्येष्टि पद्धति (२) त्रिस्थली सेतु (प्रयाग, काशी

और गया से संबद्ध संस्कारों का वर्णन) और (३) प्रयोग रत्न (गर्भाधान से लेकर विवाह तक के समस्त संस्कारों का वर्णन)। इनका समय सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

(२) नन्द परिडत—ये धर्माधिकारी वंश के थे। इनका समय सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इन्होंने धर्मशास्त्र में लगभग १३ ग्रन्थों की रचना की है। इन्होंने पराशर स्मृति तथा मिताक्षरा पर टीकायें लिखीं। 'श्राद्ध कल्पलता' तथा 'शुद्धि चन्द्रिका' इनके श्राद्ध-विषयक ग्रन्थ हैं। वैजयन्ती या केशव वैजयन्ती विष्णु धर्मसूत्र की विस्तृत टीका है। 'तत्त्वमुक्तावली' तथा 'धर्म सिन्धु' में धर्म विषयक सामग्री का विशेष वर्णन है। पहले ग्रन्थ में यह संक्षिप्त रूप में दिया गया है, परन्तु दूसरे ग्रन्थ में यह विस्तृत रूप प्रस्तुत किया गया है। इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है—'दत्तक मीमांसा' जिसमें उत्तराधिकार के लिये पुत्रहीन व्यक्ति को दत्तक पुत्र (गोद लेना) लेने का विधान है। इस ग्रन्थ की दत्तक-विषयक प्रामाणिकता प्रीवी कौन्सिल तक ने स्वीकार की है। इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद बहुत पहले संडरलैण्ड ने किया था। सन् १८८५ ई० में भरत चन्द्र शिरोमणि ने कलकत्ते से अपनी नई टीका के साथ इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया था।

(३) कमलाकर भट्ट—(१६००–१६४० ई०) ये सुप्रसिद्ध नारायण भट्ट के पौत्र थे। अपनी मीमांसा-विषयक विद्वत्ता के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थे। कमलाकर भट्ट बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न-परिडत थे। इन्होंने तर्क, न्याय, काव्य, वेदान्त तथा धर्मशास्त्र में प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त किया था। इनके २२ ग्रन्थों की रचना का पता चलता है जिनमें निर्णय सिन्धु, काव्य-प्रकाश की टीका, दान कमलाकर, पूर्त कमलाकर, व्रत कमलाकर, वेदान्तरत्न, शूद्र कमलाकर आदि मुख्य हैं।

इन्होंने धर्मशास्त्र संबंधी निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की है—: (क) निर्णय सिन्धु—इसमें तिथि और व्रत के निर्णय का विधान दिया गया है। यही ग्रन्थ आजकल तिथियों के निर्णय करने में हमारा पथ-प्रदर्शक है । (ख) दान कमलाकर—इसमें दान का विवेचन है। (ग) शूद्र कमलाकर—इसमें शूद्रों के आचार तथा व्यवहार का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है जो आजके युग के लिये बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में शूद्रों के वेद पढ़ने को अनधिकार दिखलाया गया है, परन्तु ब्राह्मणों के द्वारा किये गये पुराण-श्रवण का विधान है। शूद्र १६ संस्कारों में १० संस्कार कर सकता है। परन्तु इन संस्कारों के लिये वैदिक मन्त्रों का प्रयोग न कर पौराणिक मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये। (घ) 'विवाद ताण्डव' नामक ग्रन्थ में फौजदारी तथा दिवानी कानून का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त व्रत-कमलाकर, पूर्त कमलाकर तथा प्रायश्चित्त-रत्न आदि ग्रन्थों की रचना इन्होंने की है।

(४) *नीलकण्ठ भट्ट*—ये भी नारायण भट्ट के पौत्र और शंकर भट्ट के पुत्र थे। इनके पिता बड़े प्रकाण्ड मीमांसक थे और उन्होंने मीमांसा विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना की। नीलकण्ठ ने भगवन्त भास्कर नामक एक विशालकाय निबन्ध ग्रन्थ बनाया जिसमें संस्कार, आचार, काल आदि १२ खण्ड हैं जिन्हें 'मयूख' कहते हैं। ये बड़े ही प्रौढ़ तथा मौलिक निबन्धकार हैं। इनका सबसे श्रेष्ठ ग्रन्थ 'व्यवहार मयूख' है,जो बम्बई तथा गुजरात प्रान्त में दाय-भाग के लिये वहाँ की सरकार द्वारा अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। इनका समय १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

(५) *मित्र मिश्र*—इनका तथा बृहत्काय निबन्ध ग्रन्थ 'वीर-

मित्रोदय' परिमाण तथा प्रमाण में सभी धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस ग्रन्थ के खण्डों का नाम प्रकाश हैं जिसके आठ भाग—व्यवहार, परिभाषा, संस्कार, राजनीति, आह्निक, पूजा, तीर्थ और लक्षण प्रकाश—प्रकाशित हो चुके हैं। इनके विचार बड़े मौलिक हैं। इन्होंने 'मिताक्षरा' की भी आलोचना की है। काशी क्षेत्र के स्मृतिकारों में इनकी मान्यता सबसे अधिक है। मित्र मिश्रने ओरछा के राजा वीरसिंह देव की आज्ञा से इस विपुलकाय ग्रन्थ की रचना की। इनका समय १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्धं है। इनसे बहुत पहले लक्ष्मीधर नामक स्मृतिकार हो गये हैं जिनका 'कल्पतरु' नामक विस्तृत ग्रन्थ कई भागों में बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है। मिथिला तथा बंगाल के निबन्धकारों के ऊपर इस ग्रन्थ का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा हुआ है। चण्डेश्वर ने अपने ग्रन्थों में इस कल्पतरु से बहुत कुछ सामग्री ग्रहण की है।

(६) *जगन्नाथ तर्कपञ्चानन*—ये बंगाली थे। इन्होंने लार्ड वारेन् हेस्टिङ्गस् के कहने पर 'विवादार्णव' नामक ग्रन्थ की रचना की जिस के दो खण्डों का अनुवाद सन् १७९६ में कोलब्रुक साहब ने अंग्रेजी में किया। कम्पनी राज के समय में हिन्दू कानून की व्यवस्था इसी ग्रन्थ के आधार पर की जाती है।

भारतीय साहित्य में धर्मशास्त्र ग्रन्थोंका अपना मौलिक महत्त्व है। हिन्दू समाज को सुव्यवस्थित बनाये रखने के उदात्त भावना से प्रेरित हो कर ही इन स्मृति-ग्रन्थों की रचना की गई है। आज से लगभग तीन हजार वर्षों से लेकर आजतक हिन्दू समाज को अक्षुण्ण बनाये रखने का श्रेय इन्हीं स्मृतियों को प्राप्त है। ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि इन स्मृतिकारों के जटिल नियमों के कारण विदेशी जातियों का हिन्दू समाज पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका तथा यह समाज सदा पूर्ववत्

बना रहा। यदि आज मनुस्मृति न होती, तो कौन कह सकता है हिन्दू समाज ऐसा ही अक्षुण्ण बना रहता। ये स्मृतिकार बड़े ही विचारशील पुरुष थे तथा समाज की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये इन्होंने अपने नियमों में परिवर्तन भी सदा किया जिस के फल-स्वरूप वे जनरुचि के बैरस्य का कारण कभी नहीं बन सके।

नवम परिच्छेद

तन्त्र

तन्त्रों के विषय में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। अशिक्षित जन-साधारण की तो बात न्यारी है, शिक्षित लोगों में भी तन्त्र के विषय में अनेक भ्रान्त धारणायें दृष्टिगोचर होती हैं। तन्त्र के नाम सुनते ही कितने लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। यह सब तन्त्रों की उदात्त भावनायें, और विशुद्ध आचारपद्धति के न जानने का विषम परिणाम है। तन्त्रों के दार्शनिक विचार उतने ही उदात्त तथा प्राञ्जल हैं, जितने षड्दर्शनों के। उनकी साधनपद्धति उतनी ही पवित्र तथा उपादेय है, जितनी वेदों की। इन्हीं तन्त्रों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

तन्त्र

'तन्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'काशिकावृत्ति' में विस्तारार्थक तनूधातु से औणादिक ष्ट्रन् (सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्, उणादि सूत्र ६०८) के योग से बतलाई गई है। अतः 'तन्त्र' का अर्थ वह शास्त्र है जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है (तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्) और जो साधकों का त्राण (रक्षा करता है)। इस लिए शैवसिद्धान्त के 'कामिक-आगम' में तन्त्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

अतः 'तन्त्र' का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान, विज्ञानविषयक ग्रन्थ आदि है । इस शब्द का प्रयोग इस व्यापक अर्थ में बहुशः उपलब्ध होता है । शङ्कराचार्य ने 'सांख्य' को तन्त्र नाम से अभिहित किया है (स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता—२।१।१ शां० भा०) । महाभारत में न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि के लिए 'तन्त्र' के प्रयोग उपलब्ध होते हैं[1] । परन्तु यहाँ तन्त्रों से अभिप्राय उन धार्मिक ग्रन्थों से है जो यन्त्रमन्त्रादिसमन्वित एक विशिष्ट साधनमार्ग का उपदेश देते हैं । तन्त्रों का दूसरा नाम 'आगम' है । वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्ववैशारदी (१।७) में इसकी व्याख्या यों की है—आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः । आगम वह शास्त्र है जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते हैं । यह व्युत्पत्ति आगम और निगम के भेद को बतला रही है । कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप को निगम (वेद) बतलाता है तथा इनके साधनभूत उपायों को आगम सिखलाता है । दृष्टान्त के लिए शाक्तागम को लीजिए । अद्वैत वेदान्त में जिस अद्वैततत्त्व की उपपत्ति प्रबल युक्तियों के सहारे सिद्ध की गई है, उसकी व्यावहारिक योजना शाक्तागमों में की गई है । निगम तथा आगम का पारस्परिक सम्बन्ध एक बड़े झमेले का विषय है, परन्तु साधारण तौर से कहा जा सकता है कि अधिकांश आगमों की मूलभित्ति निगम ही है ।

---

१ 'न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः'; 'यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः' ।

तन्त्र की विशिष्टता

इस कलियुग के लिए आगम की उपयोगिता विशेषरूप से मानी गई है। चारों युगों में चार प्रकार की पूजा का विधान मिलता है। सत्ययुग में वेद तथा वैदिक उपासना का, त्रेता में स्मृति तथा स्मार्त पूजा का, द्वापर में पुराण तथा पुराणसम्मत पद्धति का तथा कलि में तन्त्र तथा तान्त्रिकी उपासना का विशेष महत्त्व है[1]। महानिर्वाण तन्त्र के अनुसार कलि में मेध्यामेध्य के विचार से हीन मानवजनों के कल्याणार्थ शङ्कर ने तन्त्रों का उपदेश पार्वती को स्वयं दिया है। अतः कलियुग में इन्हीं आगमों के अनुसार पूजाविधान से मानवों को सिद्धि प्राप्त होती है (विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये—महानिर्वाण)। तन्त्रों का स्वरूप भली भाँति पहचाना जा सकता है। देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का जिसमें चिन्तन किया गया हो, तद्विषयक मन्त्रों का उद्धार किया गया हो, उन मन्त्रों को यन्त्र में संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के पाँचों अंग—पटल, पद्धति, कवच, नामसहस्र और स्तोत्र—व्यवस्थित-रूप से दिखलाये गये हों, उन ग्रन्थों को 'तन्त्र' कहते हैं। वाराहीतन्त्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म-(शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण) साधन, तथा ध्यान-योग—इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थों को आगम कहते हैं:—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥

---

१ कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः॥ —कुलार्णवतन्त्रे।

षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः ॥

तन्त्रों की विशेषता 'क्रिया' है। वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'ज्ञान' का क्रियात्मकरूप या विधानात्मक आचार आगमों का मुख्य विषय है। भारतीय धर्म निगमागममूलक है। जिस प्रकार भारतीय धर्म तथा सभ्यता निगम-वेद-पर अवलम्बित है, उसी प्रकार वह आगम-तन्त्र पर भी आश्रित है। आगम तथा निगम के परस्पर सम्बन्ध को सुलझाना एक विषम समस्या है। तन्त्र ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तन्त्र दो प्रकार के हैं—वेदानुकूल तथा वेदबाह्य। कतिपय तन्त्रों के सिद्धान्त तथा आचार का मूलस्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। पाञ्चरात्र तथा शैवागम के कतिपय सिद्धान्त वेदमूलक अवश्य हैं, यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें वेदबाह्य ही माना गया है। शाक्त आगम की वेदमूलकता के विषय में जनसाधारण को विशेष सन्देह है। शाक्तों के सप्तविध आचारों में से केवल एक ही आचार—वामाचार—की घृणित पूजापद्धति के बल पर पूरे शाक्त आगम को लोग अवैदिक ठहराते हैं, परन्तु शाक्तों के सिद्धान्त और आचार के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उनमें भी महती संख्या वेदानुकूल तन्त्रों की है। वेदबाह्य तन्त्रों की भी कमी नहीं है जिनके आचार, पूजा-प्रकार वैदिक पद्धति से एकदम विपरीत ठहरते हैं।

आगम-निगम

शाक्तधर्म का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ अभेद-सिद्धि है। तान्त्रिक उपासना का प्रथम सिद्धान्त है कि उपासक अपने उपास्य देव के साथ तादात्म्य स्थापित करे (देवो भूत्वा यजेद् देवम्)। शाक्तधर्म अद्वैतवाद का साधन मार्ग है। शाक्तों की प्रत्येक साधना में अद्वैतवाद अनुस्यूत रहता है। सच्चे शाक्त की यही धारणा रहती है—

अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥

शाक्तों की आध्यात्मिक कल्पना के अनुसार परब्रह्म निष्कल, शिव, सर्वज्ञ, स्वयं-ज्योतिः, आद्यन्त-विरहित, निर्विकार तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है (कुलार्णव १।६-१०)। जीव अग्नि-विस्फुलिङ्गवत् ब्रह्म से आविर्भूत हुआ है—तन्त्रों के ये सिद्धान्त निःसंशय उपनिषन्मूलक हैं। तन्त्रों में परम-तत्त्व मातृरूप से स्वीकृत किया जाता है। तन्त्रों में शक्ति की कल्पना वैदिक सिद्धान्तों के ही आधार पर है। ऋग्वेद के वागाम्भृणीसूक्त (१०।१२५) में जिस शक्तितत्त्व का प्रतिपादन है, शाक्ततन्त्र उसीके भाष्यभूत माने जा सकते हैं। अतः आगमों के सिद्धान्तों में निगमों के सिद्धान्तों से किसी प्रकार का मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता। शाक्त आचार का भी विचार आगे किया जा रहा है। सिद्धान्ततः अनेक शाक्ताचार भी नितान्त वैदिक हैं। निगम तथा आगम में यही पार्थक्य दृष्टिगत होता है कि जहाँ निगम अपने सिद्धान्तों तथा क्रियाकलापों को ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—त्रिवर्ण के लिए सीमित करता है, वहाँ आगम ने अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिए, शूद्र तथा स्त्रीजनों के लिए भी, उन्मुक्त कर रखा है। निगम जहाँ विशेषतः ज्ञानप्रधान है, वहाँ आगम मुख्यतः क्रियाप्रधान है।

तान्त्रिक आचार एक नितान्त रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरु के द्वारा दीक्षाग्रहण करने के समय शिष्य को इसका रहस्य समझाया जाता है। वैदिकी तथा तान्त्रिकी पूजा में अन्तर यह है कि जहाँ वैदिक पूजापद्धति सर्वसाधारण के उपयोग के लिए है, वहाँ तान्त्रिकी पूजा केवल चुने हुए कतिपय अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है। अतः वह सर्वदा तथा सर्वथा गोप्य रखी जाती है।

प्राचीनता

वैदिक काल में भी वैदिक पद्धति के साथ-साथ तान्त्रिक पद्धति का प्रचार कम न था।

उपनिषदों में वर्णित विभिन्न विद्याओं की आधारभित्ति तान्त्रिक प्रतीत होती है। बृहदारण्यक (६।२) तथा छान्दोग्य (५।८) में वर्णित पञ्चाग्नि विद्या के प्रसङ्ग में 'योषा वाव गौतमाग्निः' आदि रूपक का स्वारस्य क्या है? छान्दोग्य (३।१–१०) में उल्लिखित मधुविद्या का रहस्य क्या है? सूर्य की ऊर्ध्वमुख रश्मियाँ मधुनाड़ियाँ हैं, गुह्य आदेश मधुकर हैं, ब्रह्म ही पुष्प है, उससे निकलनेवाले अमृत को 'साध्य' नामक देवता उपभोग करते हैं;' इस पञ्चम अमृत के वर्णन में जिन गुह्य आदेशों को मधुकर बतलाया गया है वे गोपनीय तान्त्रिक आदेशों के अतिरिक्त क्या हो सकते हैं? अतः वैदिकी पूजा के संग में गुह्य तान्त्रिक पद्धति की कल्पना करना निराधार नहीं है।

तान्त्रिक भाव

शाक्तमत में तीन भाव तथा सात आचार होते हैं। पशुभाव, वीर भाव और दिव्यभाव—ये तीन भाव हैं। वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार-दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार, तथा कौलाचार—ये सात आचार पूर्वोक्त तीनों भाव से सम्बद्ध हैं।

भाव और आचार

भाव मानसिक अवस्था है और आचार बाह्य आचरण। जिन जीवों में अविद्या के आवरण के न हटने से अद्वैत ज्ञान का लेशमात्र भी उदय नहीं हुआ है, इनकी मानसिक अवस्था 'पशुभाव' कहलाती है। पशु के समान ये भी अज्ञानरज्जु के द्वारा संसार से दृढ़रूप में बँधे रहते हैं। संसारमोह में पड़नेवाला जीव 'अधम' पशु और सत्कर्मपरायण भगवद्भक्त 'उत्तम' पशु कहलाता है। जो मानव अद्वैतज्ञानरूपी अमृतह्रद की कणिकामात्र का भी आस्वादन कर अज्ञानरज्जु के काटने में कुछ मात्रा में भी कृतकार्य होते हैं, वे 'वीर' कहलाते हैं। जो साधक वीरभाव की पुष्टि से द्वैतभाव के दूरा-

करण में सर्वथा समर्थ होते हैं तथा उपास्य देवता की सत्ता में स्वीय सत्ता को डुबा कर अद्वैतानन्द का आस्वादन करते हैं वे 'दिव्य' हैं तथा उनकी मानसिक दशा 'दिव्यभाव' कहलाती है। पूर्वोक्त आचारों में प्रथम चार आचार—वेद, वैष्णव, शैव तथा दक्षिण—पशुभाव के लिए वाम तथा सिद्धान्त वीरभाव के लिए तथा आचारों में सर्वश्रेष्ठ कौलाचार पूर्ण-अद्वैत भावनाभावित दिव्यसाधक के लिए है। कौलाचार का रहस्य नितान्त निगूढ़ है। भास्करराय ने 'कुल' शब्द के अनेक अर्थ बतलाये हैं। 'कुलामृतैकरसिका' शब्द के 'सौभाग्य-भास्कर' भाष्य में भास्कर राय ने लिखा है—कुलं सजातीय समूहः। स च एक विज्ञानविषयत्वरूप—साजात्यापन्न-ज्ञातृज्ञेय-ज्ञानरूपत्रयात्मकः। ततः सा त्रिपुटी कुलम्। इस अर्थ में कालिदासकृत 'चिद्गगनचन्द्रिका' का प्रामाण्य भी है—मेयमातृमितिलक्षणं कुलं प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्। अर्थात् जिस साधक की अद्वैतभावना पूर्ण तथा विशुद्ध है वही वास्तविक कौलपद वाच्य है। तभी तो उसे कर्दम तथा चन्दन में, शत्रु तथा प्रिय में, श्मशान तथा भवन में, काञ्चन तथा तृण में, तनिक भी भेद-बुद्धि नहीं रहती[1]। यह कौल-साधना वेदागम-महोदधि का सार बतलाई गई है। इस नितान्त दुष्कर साधना के रहस्य न जानने से लोगों में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। कौल कभी अपने स्वरूप को प्रकट होने नहीं देता। निम्नलिखित कथन वस्तुतः यथार्थ है, निन्दात्मक नहीं है[2]:—

---

१ कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि! तथैव काञ्चने तृणे।
न भेदो यस्य देवेशि! स कौलः परिकीर्तितः॥ भावचूड़ामणि-तन्त्रे।

२ द्रष्टव्य सतीशचन्द्र सिद्धान्तभूषण—कौलमार्गरहस्य (बं०) पृ० १०–२०।

अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥

कौलसम्प्रदाय—कौलमार्ग के विभिन्न सम्प्रदाय भी प्राचीनकाल में थे जो 'कौलज्ञाननिर्णय' तन्त्र के १४ वें पटल में रोमकूपादिकौल, वृष्णोत्थ-कौल, वह्निकौल, कौलसद्भाव, पदोत्थितकौल के नाम से उद्दिष्ट हैं। इसी प्रकार १७ वें पटल में महाकौल, सिद्धकौल, ज्ञाननिर्णीतिकौल, सिद्धामृतकौल, योगिनीकौल, नाम से जिन कौलों का वर्णन उपलब्ध होता है वे कौलों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय प्रतीत होते हैं। इससे कौलों की व्यापकता तथा महत्ता का स्पष्टतः परिचय मिलता है। कौलज्ञाननिर्णय की पुष्पिका से प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में अन्यतम *मत्स्येन्द्रनाथ* का सम्बन्ध 'योगिनी-कौल' से जान पड़ता है जिसकी उत्पत्ति 'कामरूप' में हुई थी (कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे—पृ० ७८)। इस प्रकार 'नाथसम्प्रदाय' का सम्बन्ध कौलमत से निःसन्दिग्धरूप से सिद्ध होता है। अतः *गोरक्षनाथ* आदि हठयोग के आचार्यों का भी सम्बन्ध कौल मार्ग से ही है। इस सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों में 'कौलज्ञाननिर्णय', 'अकुलवीरतन्त्र' 'कुला-नन्दतन्त्र', 'ज्ञानकारिका' का प्रकाशन कलकत्ता संस्कृत सीरीज (नं०३)में तथा 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' और सिद्धसिद्धान्त संग्रह' का काशी से हुआ है।

समयाचार—कौलाचार के अतिरिक्त 'श्रीविद्या' के उपासकों का एक अन्य ही आचार है, जो 'समयाचार' के नाम से विख्यात है। आचार्य शङ्कर इसी आचार के अनुयायी थे। 'लक्ष्मीधर' ने सौन्दर्यलहरी (४१ श्लोक) की टीका में और 'भास्करराय' ने 'समयान्तस्था' और 'समया-चारतत्परा' आदि शब्दों के भाष्य में (ललितासहस्रनाम पृ० ५४) इस मत के अनेक रहस्यमय तत्त्वों का वर्णन किया है। समयमार्ग में अन्तर्याग का ही प्राधान्य है। 'समय' का अर्थ है हृदयाकाश में चक्र की

भावना कर पूजाविधान (दहराकाशावकाशे चक्रं विभाव्य तत्र पूजादिकं समय इति रूढ्या उच्यते) या शक्ति के साथ अधिष्ठान, अनुष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूपभेद से पञ्चप्रकार के साम्य धारण करनेवाले शिव (शिव शक्ति सामरस्य)। समयाचार में मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत कर स्वाधिष्ठानादि चक्रों से होकर सहस्रार चक्र में विराजमान सदाशिव के साथ संयोग करा देना प्रधान आचार है। समयाचार का तत्त्व नितरां गूढ़ तथा गुरुमुखैकवेद्य है। समयमार्गी लक्ष्मीधर ने कौल मार्ग की बड़ी निन्दा की है, परन्तु साधना के रहस्यवेत्ता विद्वज्जनों की सम्मति में आरम्भ में दोनों मार्ग में अन्तर होने पर भी अन्ततः दोनों में नितान्त घनिष्ठता है। जो परम कौल है, वही सच्चा समयमार्गी है। यही मन्त्रशास्त्र का यथार्थ तात्त्विक सिद्धान्त है।

तान्त्रिक आचार

तान्त्रिक आचार के रहस्यों से अनभिज्ञ पठित समाज का विश्वास है कि उसमें अनेक घृणित और कुत्सित विधि-विधानों को आश्रय दिया गया है। इस आक्षेप की मीमांसा भी आवश्यक है। तन्त्रों की भाषा को सांकेतिक होने के कारण तत्प्रतिपाद्य पूजा-प्रकार का यथार्थ निरूपण करना एक दुरूह व्यापार है। तान्त्रिक आचार-मार्ग भी अनेक हैं जिनमें समयाचार तथा कौलाचार दो प्रधान तथा स्वतन्त्र मार्ग हैं। भास्करराय ने ललितासहस्रनाम भाष्य के आरम्भ में ही 'कुल' शब्द का अर्थ दिया है मूलाधारचक्र (कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यस्मिन् तदाधारचक्रं कुलम्) जिसकी त्रिकोण या योनि भी अन्यतम संज्ञा है। लक्ष्मीधर के कथनानुसार आधारचक्र या योनि की प्रत्यक्षरूपेण पूजा करनेवाले तान्त्रिक 'कौल' तथा उसकी केवल भावना करने वाले उपासक 'समयमार्गी' कहे जाते हैं।

इन तान्त्रिकों की पूजा में 'पञ्चतत्त्व' साधन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। इन पञ्चतत्त्वों में मकारादि पञ्च वस्तुओं की गणना है—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। समयमार्ग में अन्तर्याग (आन्तरिक उपासना) को महत्त्व दिया जाता है। अतः इन पाँचों के 'अनुकल्प' का प्रयोग किया जाता है अर्थात् इन पदार्थों का प्रत्यक्ष उपयोग न करके इनके स्थान पर तत्प्रतिनिधिभूत अन्य वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है[1], परंतु कौल मत में ऐसा नहीं होता। लक्ष्मीधर ने 'तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया' (सौन्दर्यलहरी श्लोक ४१) के भाष्य में कौलों के दो मतों का उल्लेख किया है—पूर्वकौल तथा उत्तरकौल। पूर्वकौल 'श्रीचक्र' के भीतर स्थित योनि की पूजा करते हैं, परन्तु उत्तरकौल सुन्दरी तरुणी के प्रत्यक्ष योनि के पूजक हैं तथा अन्य मकारों का भी प्रत्यक्ष प्रयोग करते हैं। सर्वसाधारण में तान्त्रिक विधिविधानों को कुत्सापूर्ण बतलाने की कल्पना का मूल उत्तरकौलों का यही वामाचार है। तन्त्र के अनुशीलन कर्ता कतिपय विद्वानों की यह सम्मति है कि शाक्तमार्ग इन पञ्चतत्त्वों के लिए भी वैदिक अनुष्ठानों का ऋणी है, क्योंकि वामदेव्यादि अनेक विधानों में परयोषा आदि का प्रयोग मान्य था[2]। बहुत सम्भव है इन कौलों के आचार पर बाहरी अनार्य, विशेषतः तिब्बती, तन्त्रों का प्रभाव पड़ा हो। क्योंकि कौलों के प्रधान तन्त्र 'कुलार्णव' में मद्य-मांसादि के प्रत्यक्ष प्रयोग की बड़ी कड़ी निन्दा है (२ उल्लास, श्लो० ११७–१२६)। कौलाचार का मुख्य केन्द्र कामाख्या है जो भारतवर्ष के बिलकुल पूरबी प्रान्त आसाम में

१ समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमलमेव यावत् सर्वमनुष्ठेयम्।
लक्ष्मीधर—सौन्दर्यलहरीटीका (श्लो० ४१)।

२ द्रष्टव्य उडरफ़—शक्ति ऐण्ड शाक्त (अं०) पृ० ४४०–४४८।

स्थित है। सम्भवतः यहीं तिब्बती तन्त्रों का प्रभाव पड़ा जान पड़ता है। गान्धर्वतन्त्र, तारातन्त्र (१।२) रुद्रयामल (१७ पटल) विष्णुयामल (१–२ पटल) के आधार पर महाचीन (तिब्बत) से पञ्चमकार-विशिष्ट पूजाका प्रचार वसिष्ठके द्वारा किया गया माना जा सकता है। इस उल्लेखसे पूर्वोक्त मत को कुछ आधार मिल सकता है।

कुलाचार

कौलाचार के विषय में बड़ी भ्रान्त धारणायें फैली हुई हैं। तन्त्रों के प्रति लोगोंके हृदय में जो एक अवहेलना तथा तिरस्कार का भाव बना हुआ है उसका प्रधान कारण इस आचार का अपर्याप्त ज्ञान है। 'कौल' शब्द का अर्थ ध्यान देने योग्य है। कौल वही है जो शक्ति को शिव के साथ मिलन करने में समर्थ होता है। 'कुल' का अर्थ है शक्ति या कुण्डलिनी और 'अकुल' का अर्थ है शिव। जो योगक्रिया से कुण्डलिनी का अभ्युत्थान कर सहस्रार में स्थित शिव के साथ सम्मेलन कराता है वही कौल है। स्वच्छन्दतन्त्र का कहना है—

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौल इत्यभिधीयते॥

कुल या कुण्डलिनी शक्तिही कुलाचार का मूल अवलम्बन है। कुलाचार ही कौलाचार या वामाचार के नाम से प्रसिद्ध है। यह आचार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—इन पञ्च 'म' कार या पञ्च तत्त्व या पञ्च मुद्रा के सहयोग से अनुष्ठित होता है—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुन मेव च।
मकार—पञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्॥

इन पञ्च मकारों का रहस्य नितान्त गूढ़ है। वास्तव बात यह है कि ये अभ्यन्तर अनुष्ठान के प्रतीक हैं। जो कोई इन्हें बाह्य तथा भौतिक अर्थ में प्रयोग करता है वह यथार्थ बात से बहुत ही दूर है। मद्य का अर्थ यह बाहरी शराब नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मरन्ध में स्थित जो सहस्र दल कमल है उससे सुधा च्चरित होती है। उसे ही मद्य कहते हैं। उसी को पीने वाला व्यक्ति मद्यप कहलाता है। यह खेचरी मुद्रा के द्वारा सिद्ध होता है। इसी लिए तन्त्रों का कथन है—

व्योमपङ्कज-निस्यन्दसुधापान रतो नरः।
मधुपायी समः प्रोक्तस्त्वितरे मद्यपायिनः॥
जिह्वया गलसंयोगात् पिबेत् तदमृतं तदा
योगिभिः पीयते तत्तु न मद्यं गौडपैष्टिकम्।

इनमें पहला 'कुलार्णव' का और दूसरा 'गन्धर्वतन्त्र' का वचन है।

मांस—जो पुरुष पुण्य और पापरूपी पशुओं को ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा मार डालता है और अपने मन को ब्रह्म में लीन करता है वही मांसाहारी है। कुलार्णव का कथन है—

पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञान-खड्गेन योगवित्।
परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते॥

मत्स्य—शरीरस्थ ईडा तथा पिंगला नाड़ियों का नाम गंगा तथा यमुना है। इनमें प्रवाहित होनेवाले श्वास और प्रश्वास दो मत्स्य हैं। जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास प्रश्वास बन्द कर कुम्भक के द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना के भीतर संचालन करता है वही यथार्थ मत्स्य-साधक है। 'आगमसार' कहता है—

गङ्गायमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेत् यस्तु स भवेन्मत्स्य-साधकः॥

मुद्रा—सत्संग के प्रभाव से मुक्ति मिलती है और असत्संग के प्रभाव से बन्धन प्राप्त होता है। इसी असत्संग के त्याग का नाम 'मुद्रा' है। 'विजयतन्त्र' का यही मत है—

सत्सङ्गेन भवेन्मुक्तिरसत्सङ्गेषु बन्धनम्।
असत्संगमुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा प्रकीर्तिता॥

मैथुन का अर्थ मिलाना है। मिलाना किसका? सहस्रार (मस्तक के ऊर्ध्व भाग में स्थित सहस्रदल वाले कमल) में स्थित शिव का और मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी का। अथवा सुषुम्ना का प्राण से योग 'मैथुन' पद वाच्य होता है। स्त्री सहवास से वीर्यपात के समय जो सुख मिलता है, उससे शतकोटि गुणित अधिक आनन्द सुषुम्ना में प्राणवायु के स्थित होने पर होता है। वास्तव मैथुन यही है—

ईडापिङ्गलयोः प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्।
सुषुम्नाशक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽय तु परः शिवः।
तयोस्तु संगमे देवैः सुरतं नाम कीर्तितम्॥

इस विवरण से स्पष्ट है कि पञ्चमकार का सम्बन्ध अन्तर्याग से है। इस उपासना का अधिकारी भी साधारण व्यक्ति न होकर, उच्चकोटिका साधक ही होता है। 'अन्तर्याग' का अर्थ है भीतरी यज्ञ—भीतर यौगिक क्रियाओं के द्वारा प्राण अपान का मिलन। दूसरा उपयुक्त पात्र वही व्यक्ति होता है जो परद्रव्य के विषय में अन्धे के समान है, परस्त्री के विषय में नपुंसक है और परनिन्दा में एकदम गूँगा है।

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः।
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता॥

वाममार्ग का यही रहस्य है। तत्त्व से अनभिज्ञ व्यक्ति ही ऐसी उच्च

साधना की निन्दा में प्रवृत्त होता है। इस आध्यात्मिक भावना से परिचय न रखने के कारण ही इस तत्त्व की इतनी अवहेलना दृष्टिगोचर होती है।

तन्त्रों की प्रामाणिकता के विषय में दो मत हैं। भास्करराय तथा राघवभट्ट की सम्मति में श्रुत्यनुगत होने से तन्त्रों का परतः प्रामाण्य है, परन्तु श्रीकण्ठाचार्य तन्त्रों को श्रुति के समान स्वतः प्रमाण मानते हैं। कुलार्णव तन्त्रका स्पष्ट कथन है (२।१४०) तस्माद् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलागमं प्रिये। कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति (२।१) की टीका में हारीत ऋषि का एक वाक्य उद्धृत किया है—श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च—जिसके अनुसार तन्त्र की प्रामाणिकता श्रुति के समकक्ष मानी गई है। परन्तु प्रसिद्ध शाक्त-दार्शनिक भास्करराय ने तन्त्र शास्त्र को स्मृति शास्त्र के अन्तर्भूत मानकर उसका प्रामाण्य अङ्गीकार किया है[1]। मन्वादि स्मृतियों से तन्त्रों की विशेषता यही है कि स्मृतियाँ कर्मकाण्ड के अन्तर्गत हैं और तन्त्र ज्ञानकाण्ड के। शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट ने भी तन्त्रों को स्मृति शास्त्र मानकर उन्हें वेद के तृतीयकाण्ड उपासना काण्ड के अन्तर्गत माना है। श्रीकण्ठाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने शैवभाष्य (२।२।३८) में तन्त्रों का वेदवत् प्रामाण्य माना है, क्योंकि वेद तथा तन्त्र शिवजी के द्वारा निर्मित होने के कारण समभावेन प्रामाणिक हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि वेद केवल त्रैवर्णिक है—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन द्विज वर्णों के लिए है परन्तु तन्त्र सबके लिए माननीय हैं, परन्तु हैं दोनों आदरणीय और प्रामाणिक। (वयं तु वेदशिवागम-

तन्त्र की प्रामाणिकता

---

१ तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भाव (वरिवस्यारहस्य-प्रकाश); परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्ड-शेषत्वमिति सिद्धान्तात (सौभाग्यभास्कर का उपक्रम)।

योर्भेदं न पश्यामः। वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः, तस्य तत्कर्तृत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधः त्रैवर्णिक विषयः सर्वविषयश्चेति। उभयो रेकः शिवः कर्ता। उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ—श्रीकण्ठभाष्य २।२।३८)। इस भाष्य की 'शिवार्कमणिदीपिका' व्याख्या में अप्पय-दीक्षित ने आगम दो प्रकार का माना है—वैदिक और अवैदिक। वैदिक तन्त्र वेदाधिकारियों के लिए और अवैदिक तन्त्र वेद के अनधिकारियों के वास्ते हैं। अतः अधिकारीभेद से व्याख्या होने से आगम का प्रामाण्य सर्वथा सुव्यवस्थित है।

तन्त्र-भेद—तन्त्रों के तीन प्रधान विभाग हैं—ब्राह्मण तन्त्र, बौद्ध तन्त्र और जैन तन्त्र। ब्राह्मण तन्त्र भी उपास्य देवता की भिन्नता के कारण अनेक प्रकार का होता है—सौर तन्त्र, गाणपत्य तन्त्र, वैष्णव तन्त्र, शैव तन्त्र तथा शाक्त तन्त्र। इनमें प्रथम दो तन्त्रों का प्रचार बहुत ही न्यून है। परन्तु अन्य तीनों तन्त्रों की लोकप्रियता तथा प्रचार बहुत मात्रा में है। वैष्णवतन्त्र का वर्णन प्रथमतः किया है। अन्य तन्त्रों का आगे वर्णन किया जायगा।

वैष्णव तन्त्र

(१) पाञ्चरात्र की प्राचीनता

आजकल 'पाञ्चरात्र' ही वैष्णवागमों का प्रतिनिधि माना जाता है, परन्तु वैखानस आगम भी वैष्णवागमों के ही अन्तर्भुक्त है। पाञ्चरात्र का प्रचुर साहित्य भी उपलब्ध होता है, परन्तु वैखानस आगम आजकल लुप्त-प्रायसा हो गया है। परन्तु किसी समय में वैखानसों का भी बोलबाला था। पाञ्चरात्र तन्त्र कितना प्राचीन है? आवश्यक साधनों के अभाव में

इस प्रश्न का यथार्थ निर्धारण करना असम्भव सा है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (शान्तिपर्व अध्याय ३३५–अध्याय ३४६) में पहले पहल इस तन्त्रके सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जब महार्ष नारद को इसके तत्त्वों की जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने भारतवर्ष के उत्तर में स्थित श्वेतद्वीप में जाकर नारायण ऋषि से इसके सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया तथा लौट कर इस देश में उनका प्रथम प्रचार किया। इस प्रकार नारायण ऋषि इसके प्रवर्तक हैं। पाञ्चरात्र ग्रन्थों का स्पष्ट कथन है कि पाञ्चरात्र वेद का ही एक अंश है। पाञ्चरात्र का सम्बन्ध वेद की 'एकायन' शाखा से है[१]। छान्दोग्य उपनिषद में 'एकायन' विद्या का नामोल्लेख है, पर इसके विवेच्य विषयों की ओर संकेत नहीं है[२]। पर यहाँ भी 'एकायन' का सम्बन्ध नारद से है, जिन्होंने समस्त-वेदों के साथ साथ 'एकायन' का भी अध्ययन किया था। नागेश नामक एक अर्वाचीन ग्रन्थकार का कहना है कि शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व शाखा का ही दूसरा नाम 'एकायन शाखा' है[३]। जयाख्य संहिता (पृ० १५) पाञ्चरात्र के प्रचारक शाण्डिल्य, भारद्वाज, मौञ्जायन, औपगायन और कौशिक ऋषि को काण्वशाखानुयायी बतलाती है, पर अभी तक इस शाखा के ग्रन्थों का पता नहीं चलता।

उत्पल (१० म शताब्दी) ने अपने 'स्पन्दकारिका' में पाञ्चरात्र

---

१ (क) एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि। ईश्वर संहिता (१।४३).

(ख) वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।

तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम्॥ श्रीप्रश्न संहिता

२ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि.........वाकोवाक्यमेकायनम्–(छान्दोग्य ७।१।२).

३ द्रष्टव्य काण्वशाखामहिमासंग्रह (मद्रास हस्तलिखित पुस्तक सूची भाग ३).

श्रुति[1] तथा पाञ्चरात्र उपनिषद्[2] से अनेक उद्धरण दिये हैं। सम्भवतः ये उद्धरण इसी शाखा के हैं। उत्पलकृत निर्देशों से पता चलता है कि दशम शताब्दी तक 'पाञ्चरात्र श्रुति' 'पाञ्चरात्र उपनिषद्' तथा 'पाञ्चरात्र संहिता—इस प्रकार इस तन्त्र के ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त थे। यामुनाचार्य (११वीं शताब्दी) ने अपने 'आगमप्रमाण्य' में पाञ्चरात्र संहिताओं का नामोल्लेख किया है।

इन निर्देशों से स्पष्ट है कि यह तन्त्र उपनिषत्काल में विद्यमान था। कम से कम महाभारत से प्राचीन तो अवश्यमेव है। भगवान् ही उपेय (प्राप्य) हैं तथा वे ही उपाय (प्राप्तिसाधन) हैं। बिना भगवान् के अनुग्रह हुये जीव भगवान् को नहीं पा सकता। भगवान् की 'शरणागति' ही केवलमात्र उपाय है। इस शरणागति-तत्त्व पर आग्रह दिखलाने के कारण इस तन्त्र का 'एकायन' नाम अन्वर्थ सिद्ध होता है[3]। पाञ्चरात्र का ही दूसरा नाम 'भागवतधर्म और 'सात्वतधर्म' था। भागवत धर्म का उल्लेख विक्रम पूर्व के शिलालेखों में मिलता है। विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दी में बेसनगर के शिलालेख में यूनानी हेलिओडोरस को भागवत उपाधि धारण करने तथा गरुड़स्तम्भ की स्थापना का वर्णन मिलता है[4]। महाभारत

१ पाञ्चरात्रश्रुतावपि-यद्वत् सोपानेन प्रासादमारोहेत्, प्लवनेन वा नदीं तरेत्, तद्वत् शास्त्रेण हि भगवान् शास्ता अवगन्तव्यः। स्पन्दकारिका पृ० २।

२ पाञ्चरात्रोपनिषदि च—ज्ञाता च ज्ञेयश्च वक्ता च वाच्यश्च भोक्ता च भोज्यश्च। स्पन्दकारिका पृ० ४०।

३ शृणुध्वं मनुयः सर्वे वेदमेकायनाभिधम्।
मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते॥
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ईश्वर संहिता।

४ इण्डियन एन्टीक्वेरी १९११ पृ. १३।

में 'सात्त्वत विधि' का उल्लेख किया गया है[1]। इतना ही नहीं, 'सत्त्वत्' शब्द ऐतेरयब्राह्मण में भी आता है[2]। यदि इसका प्रयोग इसी प्रसङ्ग में हो तो सात्त्वत तन्त्र की प्राचीनता निःसन्दिग्ध है।

पाञ्चरात्र के मूल सिद्धान्त श्रुति में प्रतिपादित हैं। शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१) में 'पाञ्चरात्र सत्र' का वर्णन मिलता है जिसे नारायण ने समस्त प्राणियों के ऊपर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए पाँच दिनों तक किया था। इस सत्र के आध्यात्मिक रहस्य का पता नहीं चलता, पर इतना तो निश्चित है कि विष्णु भक्तों के यज्ञ हिंसात्मक न होते थे, पशु के स्थान पर यव-घृत की ही आहुति दी जाती थी। नारायणीयोपाख्यान के आधार पर नारायण भक्त राजा उपरिचर ने इस प्रकार का यज्ञ सप्तर्षियों के उपदेश से सर्वप्रथम किया। पाञ्चरात्र के वैदिकत्व को लेकर श्रीवैष्णव आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्म मीमांसा प्रस्तुत की है। पाञ्चरात्रों के 'चतुर्व्यूह' सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की। शङ्कराचार्य ने शारीरक भाष्य (२।२।४२-४५) में इस मत की कड़ी आलोचना की है और स्पष्ट शब्दों में इसे अवैदिक स्वीकार किया है, परन्तु रामानुज के मत में बादरायण ने उक्त उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण में पाञ्चरात्र का मण्डन ही किया है, खण्डन नहीं (द्रष्टव्य श्रीभाष्य)। महाभारत तथा पुराण के अनेक प्रमाणवाक्यों को उद्धृत कर रामानुज ने पाञ्चरात्रागम को भी वेदों

पाञ्चरात्र और वेद

---

१ सात्त्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः।
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ॥—महाभारत भीष्म पर्व।

२ एतस्यां दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्त्वतां राजानो भौज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते, भोजेति एनान् अभिषिक्तान् आचक्षते ऐतरेय ब्राह्मण।८।३।१४।

के समान ही प्रमाणभूत माना है[1]। रामानुज से पहले श्रीयामुनाचार्य ने 'आगम-प्रामाण्य' में पाञ्चरात्रतन्त्र की प्रामाणिकता प्रबल युक्तियों के आधार पर सिद्ध की है। रामानुज के अनन्तर वेदान्तदेशिक ने 'पाञ्चरात्र रक्षा' में और भट्टारक वेदोत्तम ने 'तन्त्रशुद्ध' में इस विषय को मीमांसा-पद्धति से विचार कर पाञ्चरात्रों को वेदसम्मत सिद्धान्तों का ही प्रतिपादक सिद्ध किया है।

पाञ्चरात्र का दूसरा नाम 'भागवत या सात्त्वत' है। 'सत्त्वत्' का यादव क्षत्रियों के लिए प्रयोग होता है। अतः ऐतिहासिक विद्वानों की सम्मति में यादवों में इसके विपुल प्रचार होने के कारण यह संज्ञा इस तन्त्र को दी गयी थी। परन्तु पराशर की सम्मति में सात्त्वत भागवत (भक्त) का पर्यायवाची है। सातयति, सुखयति, आश्रितानिति, सात परमात्मा। स एषामस्तीति वा सात्वताः सात्त्वन्तो वा महाभागवताः (पराशरभट्ट—विष्णुसहस्रनामभाष्य—वेङ्कटेश्वर प्रेस संस्करण पृ० ४६५) भगवान् विष्णु के परमाराध्य होने के कारण इन नामों की अन्वर्थकता स्पष्ट ही है, पर पाञ्चरात्र शब्द की व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार से मिलती है। महाभारत के अनुसार चारों वेद तथा सांख्य योग के समाविष्ट होने के कारण इस मत की संज्ञा पाञ्चरात्र थी। ईश्वर संहिता (अ० २१) के कथनानुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को मिलाकर पाँच रातों में इसका उपदेश दिया गया था, तथा पद्मसंहिता (ज्ञानपाद अ० १) का कथन है कि इसके सामने अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ गये; अतः पाञ्चरात्र नामकरण है। नारद पाञ्चरात्र के अनुसार इस नामकरण का कारण विवेच्य विषयों की

१ सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥ श्रीभाष्य २।२।४२.

संख्या है। रात्र का अर्थ होता है ज्ञान[1]। परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार) इन पञ्चविषयों के निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम 'पाञ्चरात्र' पड़ा है[2]। अहिर्बुध्न्यसंहिता (११।६४) इसी मत को स्वीकार करती है।

साहित्य

पाञ्चरात्र तन्त्र-विषयक साहित्य नितान्त विशाल, प्राचीन तथा विस्तृत है, परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि उसका प्रकाशित अंश अत्यन्त स्वल्प है। कपिञ्जल संहिता आदि प्राचीन ग्रन्थों में निर्दिष्ट सूचना के अनुसार अगस्त्य संहिता, काश्यप संहिता, नारदीय संहिता, महासनत्कुमार संहिता, वासिष्ठ संहिता, वासुदेव संहिता, विश्वामित्र संहिता, विष्णुरहस्य संहिता आदि पाञ्चरात्र संहिताओं की संख्या दो सौ पन्द्रह है[3], परन्तु निम्नलिखित १३ संहितायें ही अब तक प्रकाशित हो सकी हैं:—(१) अहिर्बुध्न्य संहिता (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास) (२) ईश्वर संहिता (सुदर्शन प्रेस काञ्ची) (३) कपिञ्जल संहिता, (४) जयाख्य संहिता (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज नं० ४५) (५) पराशर संहिता, (६) पाद्मतन्त्र, (७) बृहत् ब्रह्मसंहिता (आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला) (८) भारद्वाज संहिता, (९) लक्ष्मीतन्त्र, (१०) विष्णुतिलक, (११) श्रीप्रश्न संहिता, (१२) विष्णुसंहिता (अनन्त शयन ग्रन्थमाला) तथा (१३) सात्त्वत संहिता (काञ्ची)। इन तेरहों में भी केवल वे ही ६ संहितायें नागराक्षरों में छपी हैं जिनके प्रकाशन-स्थान का यहाँ निर्देश है। अन्य सात संहितायें आन्ध्रलिपि में

---

१ रात्रञ्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्—नारद पाञ्चरात्र १।४४।

२ नारद पाञ्चरात्र १।४५।५३।

३ द्रष्टव्य डा० श्रादर (Dr. Schrader)—इन्ट्रोडक्शन टू दी पाञ्चरात्र पृ० ६–१२।

हैं। अन्य संहितायें भी विषयगौरव के कारण प्रकाशनयोग्य होने पर भी हस्तलिखित रूप में ही मिलती हैं। समस्त पाञ्चरात्र संहिताओं में 'पौष्कर', 'सात्वत' तथा 'जयाख्य' संहितायें प्राचीनतम मानी जाती हैं। जयाख्य संहिता ३३ पटलों में समाप्त है, पर षष्टि अध्यायात्मक अहिर्बुध्न्य संहिता, जयाख्य संहिता से लगभग दुगुनी है। बृहद् ब्रह्मसंहिता परिमाण में कम है। जयाख्य संहिता में दार्शनिक तत्त्व का विवेचन संक्षिप्त है परन्तु अहिर्बुध्न्य संहिता का विवेचन खूब विस्तृत है। इन्हीं संहिताओं के आधार पर इस तन्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जायगा।

पाञ्चरात्र संहिताओं के विषय चार हैं:—(१) 'ज्ञान'—ब्रह्म, जीव तथा जगत् तत्त्व के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्‌घाटन तथा सृष्टितत्त्व का विशेष निरूपण। (२) 'योग'—मुक्ति के साधनभूत योग तथा योग-सम्बद्ध प्रक्रियाओं का वर्णन। (३) 'क्रिया'—देवालय का निर्माण, मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का साङ्गोपाङ्ग वर्णन। (४) 'चर्या'—आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा यन्त्रों के पूजन का विस्तृत विवरण, वर्णाश्रम धर्म का परिपालन, पर्व तथा उत्सव के अवसर पर विशिष्ट पूजा का विधान। इनमें 'चर्या' का वर्णन आधे से अधिक है। आधे में सबसे अधिक क्रिया, क्रिया से कम ज्ञान और सबसे कम योग का विवेचन है। अतः चर्या और क्रिया की व्यावहारिक विवेचना ही पाञ्चरात्र संहिताओं का मुख्य प्रयोजन है। प्रमेयों की मीमांसा गौण तथा प्रासङ्गिक है। तन्त्रों की शैली के अनुसार सृष्टि और अध्यात्मतत्त्व का वर्णन एक साथ मिश्रित रूप से मिलता है।

(ख) वैखानस आगम

वैष्णव आगमों में वैखानस आगम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है जो पाञ्चरात्र के समान प्राचीन तथा प्रामाणिक होने पर भी उतना प्रख्यात

नहीं है। किसी समय में इसका बोलबाला था, परन्तु कारणवश इसकी लोकप्रियता का ह्रास हो गया और आज तो इसका नाम भी सुनने को नहीं मिलता। मन्दिर और मूर्ति—निर्माण के विषय को लेकर पाञ्चरात्रों तथा वैखानसों में प्राचीन समय में पर्याप्त मतभेद था और इसी प्रसङ्ग में इसके मत पाञ्चरात्र ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। वैखानस कृष्णयजुर्वेद की एक स्वतन्त्र, पृथक् शाखा थी।

परिचय

चरण-व्यूह में वर्णित कृष्णयजुः की चार प्रधान शाखाओं—आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ-हिरण्यकेशी तथा औखेय—में 'औखेय' अन्तिम शाखा है। 'वैखानस श्रौतसूत्र' के भाष्यकार वेंकटेश के कथनानुसार वैखानसों का सम्बन्ध इसी 'औखेय' शाखा के साथ था—

येन वेदार्थविज्ञेयो लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः॥

गौतम धर्मसूत्र (३।२), बौधायन धर्मसूत्र (२।६।१७), वसिष्ठ धर्मसूत्र (९, १०) में वानप्रस्थ यतियों के लिए 'वैखानस' का प्रयोग किया गया है। मनु ने भी वानप्रस्थों को 'वैखानस शास्त्र का अनुयायी' बतलाया है (वैखानसमते स्थितः ६।४१)। इसका मुख्य कारण यह है कि 'वैखानस धर्मप्रश्न' (१।६–७) में वानप्रस्थों के आचार-विधान का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है जिनका अक्षरशः पालन करना तृतीय आश्रम के वनस्थ पुरुषों का प्रधान कर्तव्य था।

इस शाखा के केवल चार ग्रन्थ अबतक उपलब्ध हुए हैं—(क) वैखानसीया मन्त्रसंहिता, (ख) गृह्यसूत्र (सात प्रश्नों या अध्यायों में विभक्त), (ग) धर्मसूत्र (या धर्मप्रश्न, तीन प्रश्नों में विभक्त), (घ) श्रौतसूत्र। मन्त्रपाठ आठ अध्यायोंमें विभक्त है जिसके प्रथम चार अध्यायों में गृह्य तथा धर्मसूत्रों में निर्दिष्ट मन्त्रों का संग्रह है और अन्तिम चार अध्यायों

में विशिष्ट विष्णुपूजा का विधान है। अतः इन्हें 'अर्चनाकाण्ड' के नाम से पुकारते हैं।

वैखानसों की विशिष्टता का परिचय उनके गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से ही हमें मिल जाता है। वैखानस गृह्यसूत्र के ४ प्रश्न के, दशम, एकादश तथा द्वादश खण्ड में विष्णु की स्थापना, प्रतिष्ठा तथा अर्चना का विशेष वर्णन है। नित्य प्रातःकाल तथा सायंकाल में हवन के अनन्तर विष्णु की पूजा करना गृहस्थ के लिए आवश्यक है। विष्णु की मूर्ति ६ अंगुली से परिमाण में कम न होती थी। विशेष विधि से उनकी घर में प्रतिष्ठा की जाती थी तथा विष्णुसूक्त और पुरुषसूक्त से उनकी पूजा की जाती थी। अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर मन्त्रों के जप का विधान था। नारायण-बलि का उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत नारायण की सब देवताओं में प्रधानता स्पष्टाक्षरों में मानी गई है (नारायणादेव सर्वार्थसिद्धिः—वैखानस धर्मप्रश्न ३।९।१)। पाञ्चरात्र की वैदिकता सिद्ध करने के लिए अनेक उद्योग किये गये हैं, परन्तु वैखानस तन्त्र की वैदिकता में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है।

(३) शैव तन्त्र

(इतिहास तथा साहित्य)

शिव या रुद्र की उपासना वैदिककाल से ही इस भारतभूमि में प्रचलित है। यजुर्वेद में शतरुद्रीय अध्याय की पर्याप्त प्रसिद्धि है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१६) में समस्त जगत् रुद्ररूप बतलाया गया है (सर्वो वै रुद्रः तस्मै रुद्राय नमो अस्तु)। श्वेताश्वतर में (३।११) भगवान् शिव सर्वाननशिरोग्रीव, सर्वभूत-गुहाशय, सर्वव्यापी तथा सर्वगत माने गए हैं, परन्तु इन उपनिषदों में तन्त्रशास्त्र-निर्दिष्ट पशुपति का स्वरूप

उपलब्ध नहीं होता। अथर्वशिरस् उपनिषद् में पाशुपतव्रत, पशु, पाश, आदि तन्त्र के पारिभाषिक शब्दों की उपलब्धि सर्वप्रथम होती है (तस्मात् ब्रह्म तदेतत् पाशुपतं पशुपाशविमोक्षणाय अथर्व० खण्ड ५)। इससे पाशुपतमत की प्राचीनता स्पष्टतः प्रतीत होती है। महाभारत में शैवमतों का वर्णन है। वामन पुराण (६।८६-९१) में शैवों के चार विभिन्न सम्प्रदाय बतलाये गये हैं:—शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक। शङ्कराचार्य ने (२।२।३७) के भाष्य में माहेश्वरों का तथा उनके प्रसिद्ध पञ्च पदार्थों का उल्लेख किया है। इस सूत्र की भामती और रत्नप्रभा ने पुराणोक्त तृतीय नाम के स्थान पर 'कारुणिक-सिद्धान्ती', भास्कर ने 'काठक सिद्धान्ती', यामुनाचार्य ने 'कालामुख' नाम दिया है (आगम प्रामाण्य पृ० ४८–४९)। इस प्रकार माहेश्वर सम्प्रदाय चार हैं:—पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक। इन्हीं धार्मिक मतों के मूल ग्रन्थों को 'शैवागम' के नाम से पुकारते हैं। 'शैवतन्त्र' की वैदिकता के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में बड़ा विवेचन है। महिम्नः-स्तोत्र (त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति) तथा ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद (२।२।३७) में पाशुपत मत वेदबाह्य माना गया है, परन्तु श्रीकण्ठाचार्य ने वेद तथा शिवागम को समभावेन माननीय तथा प्रामाणिक बतलाया है। अप्पय दीक्षित 'शिवार्कमणिदीपिका' (२।१।२८) में शिवागम को वैदिक तथा अवैदिक दो प्रकार का मानते हैं। वैदिक तन्त्र वेदाधिकारियों के लिए हैं तथा अवैदिक तन्त्र वेदाधिकारहीन व्यक्तियों के लिए हैं। अतः दोनों की प्रामाणिकता न्यायसंगत है।

माहेश्वर तन्त्रों के दार्शनिक दृष्टि की विभिन्नता के कारण तीन प्रधान भेद हैं—द्वैतपरक (शिवतन्त्र), द्वैताद्वैतपरक (रुद्रतन्त्र), अद्वैत (भैरव तन्त्र)। पूर्वोक्त माहेश्वर मतों का प्रचार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में था। पाशुपत

मत का केन्द्र गुजरात और राजपूताना था, शैव सिद्धान्त का प्रचार तामिल देश में और वीरशैव मत का प्रचार कर्नाटक प्रान्त में है। स्पन्द या प्रत्यभिज्ञा मत का केन्द्रस्थल काश्मीर देश है। इन्हीं शैवमतों का ऐतिहासिक वर्णन क्रमशः आगे किया जायगा।

(क) पाशुपत मत

इस मत के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम नकुलीश, या लकुलीश है। शिवपुराणान्तर्गत 'कारवण माहात्म्य' से इनका जन्म भड़ोंच के पास 'कारबन' नाम स्थान में होना प्रतीत होता है। राजपूताना, गुजरात आदि नाना देशों में नकुलीश की मूर्तियाँ मिलती हैं जिनका मस्तक केशों से ढका रहता है, दाहिने हाथ में बीजपूर के फल और बायें हाथ में लगुड या दण्ड रहता है। लगुड धारण करने के कारण ही इनका नाम लगुडेश या लकुलीश होना प्रतीत होता है। भगवान् शंकर के इन १८ अवतारों में लकुलीश आद्य अवतार माने जाते हैं—लकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्र्य, कौरुष, ईशान, पारगार्ग्य, कपिलाण्ड, मनुष्यक, अपर कुशिक, अत्रि, पिङ्गलाक्ष, पुष्पक, बृहदार्य, अगस्ति, सन्तान, राशीकर और विद्यागुरु (अपना आचार्य)। ये तीर्थेश कहे जाते हैं। गुप्तनरेश विक्रमादित्य द्वितीय के राज्यकाल में ६१ गुप्त संवत् (३८० ई०) का एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख मथुरा से मिला है जिसमें उदिताचार्य नामक पाशुपत द्वारा गुरुमन्दिर में उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शिवलिंगों की स्थापना वर्णित है। उदिताचार्य ने अपने को भगवान् कुशिक से दशम बतलाया है (भगवत्-कुशिकाद् दशमेन...) लकुलीश कुशिक के गुरु थे। इस प्रकार एक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष मानकर लकुलीश का समय १०५ ई० के आसपास सिद्ध होता है और यह वही समय है जब कुषाणनरेश हुविष्क के सिक्कों पर

लगुडधारी शिव की मूर्त्तियाँ मिलती हैं। पाशुपतों का सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक से नितान्त घनिष्ठ है। गुणरत्न ने नैयायिकों को 'शैव' और वैशेषिकों को 'पाशुपत' कहा है। न्यायवार्तिक के रचयिता उद्योतकर ने 'पाशुपताचार्य' उपाधि से अपना परिचय दिया है। कभी इस मत का पश्चिमी भारत में विशेष प्रचार था तथा समधिक ख्याति थी।

पाशुपतसाहित्य—पाशुपतों का साहित्य बहुत ही कम उपलब्ध है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में 'नकुलीश पाशुपत' नाम से इसी मत के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है। जैन ग्रन्थकारों में राजशेखर सूरि ने अपने षड्दर्शन समुच्चय में 'यौगमत' से इसी का उल्लेख किया है। न्यायसार के रचयिता, काश्मीरक भासर्वज्ञ (८०० ई०) की 'गणकारिका' में पाशुपतों के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण है। इसकी विस्तृत 'रत्नटीका' नामक व्याख्या वास्तव में रत्नरूपा है जिसके अज्ञातनामा लेखक ने 'सत्कार्य-विचार' नामक ग्रन्थ की भी रचना कर इस मत की पर्याप्त पुष्टि की है। सौभाग्य-वश पाशुपतों का मूल सूत्रग्रन्थ 'महेश्वररचित पाशुपत सूत्र' अनन्तशयन ग्रन्थमाला में (नं० १४३) कौण्डिन्यकृत 'पञ्चार्थीभाष्य' के साथ अभी प्रकाशित हुआ है। सर्वदर्शनसंग्रह में निर्दिष्ट राशीकर-विरचित भाष्य यही है। इस पञ्चाध्यायी (१६८ सूत्र) में पाशुपतों के पाँचों पदार्थों का विस्तृत तथा नितान्त प्रामाणिक विवेचन है।

(ख) शैवसिद्धान्त-मत

शैव सिद्धान्त का प्रचार दक्षिणदेश के तामिल प्रदेश में है। यह प्रदेश शैवधर्म का प्रधान दुर्ग है। यहाँ के शैवभक्तों ने भगवान् भूतभावन शङ्कर की आराधना कर भक्तिरसपूरित भव्य स्तोत्रों तथा सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थों की रचना अपनी मातृभाषा तामिल में की है जो श्रुति के समान

आदरणीय माने जाते हैं। इन ८४ शैव सन्तों में चार प्रमुख आचार्य हुए सन्त अप्पार, सन्त ज्ञानसम्बन्ध, सन्त सुन्दरमूर्ति तथा सन्त माणिक्क-वाचक जो शैवधर्म के चार प्रमुख मार्ग चर्या (दासमार्ग), क्रिया (सत्पुत्रमार्ग), योग (सहमार्ग) और ज्ञान (सन्मार्ग) के तामिलदेश में संस्थापक हैं। इन सन्तों का आविर्भावकाल सप्तम तथा अष्टम शताब्दी है। इनके पहले सन्त नक्कीर (प्रथमशतक), सन्त कण्णप्प (द्वितीय-शतक), सन्त तिरुमूलर ने शैवमत का विपुल प्रचार किया था। इनकी तामिल रचनायें 'सिद्धान्त' की मूलभित्ति हैं[1]। इन भक्तों ने जिन शैवतन्त्रों के तत्त्वों का प्रचार किया है वे संस्कृत में धीरे धीरे प्रकाशित हो रहे हैं। इन आगमों को 'शैवसिद्धान्त' के नाम से पुकारते हैं। भगवान् शङ्कर ने अपने भक्तों के उद्धार के लिए अपने पाँचों मुखों से २८ तन्त्रों का आविर्भाव किया। सद्योजात नामक मुख से उत्पन्न आगम हैं—१ कामिक, २ योगज, ३ चिन्त्य, ४ कारण, ५ अजित। वामदेवमुख से—६ दीप्त, ७ सूक्ष्म, ८ सहस्र, ९ अंशुमान्, १० सुप्रभेद। अघोरमुख से—११ विजय, १२ निःश्वास, १३ स्वायम्भुव, १४ अनल, १५ वीर। तत्पुरुष मुख से—१६ रौरव, १७ मुकुट, १८ विमल, १९ चन्द्र ज्ञान, २० बिम्ब। ईशान मुख से—२१ प्रोद्गीत, २२ ललित, २३ सिद्ध, २४ सन्तान, २५ सर्वोत्तर, २६ परमेश्वर, २७ किरण, २८ वातुल। जयरथ ने 'तन्त्रालोक' की टीका में इन तन्त्रों के नाम दिये हैं। दोनों में कहीं-कहीं अन्तर है। इनमें १० द्वैतमूलक (शैव) तन्त्र हैं जिन्हें परमशिव ने प्रणवादि दस शिवों को पढ़ाया तथा १८ द्वैताद्वैत प्रधान (रुद्र) तन्त्र हैं जिन्हें परमशिव ने अघोरादि अठारह रुद्रों को पढ़ाया। यही उपदेश 'महौघक्रम' तथा 'प्रतिसंहिताक्रम' से दो प्रकार का है। अनेक उपागमों से युक्त होकर इन

१ जीवनचरित के लिए द्रष्टव्य कल्याण—सन्ताङ्क पृ० ४४०—४४२.

आगमों की संहिताओं की संख्या २०८ है। सिद्धान्तियों के अनुसार अपर ज्ञानरूप वेद केवल भुक्ति का साधन है, परन्तु परज्ञान रूप यही शिवशास्त्र मुक्ति का एकमात्र उपाय है। कामिक के उपागमों में 'मृगेन्द्र' तन्त्र नारायणकण्ठ की वृत्ति और अघोरशिवाचार्य की दीपिका के साथ दक्षिण से प्रकाशित हुआ है।

शैवाचार्य—अवान्तर काल में अनेक विद्वान् शिवाचार्यों ने इन तन्त्रों के सिद्धान्त को प्रतिपादन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इनमें आठवीं शताब्दी में आविर्भूत आचार्य सद्योज्योति का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके गुरु का नाम 'उग्रज्योति' था। सद्योज्योति के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—नरेश्वरपरीक्षा, रौरवागम की वृत्ति, स्वायम्भुव आगम पर उद्योत तथा तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, परमोक्षनिरासकारिका। हरदत्त शिवाचार्य (११ शतक)—एक विशिष्ट आचार्य थे जिनकी 'श्रुतिसूक्तमाला' या 'चतुर्वेदतात्पर्य-संग्रह' में वेदवेदान्त का तात्पर्य शिव-महिमा के प्रतिपादन में बतलाया गया है। इसकी 'शिवलिंग भूप' (१५ श०) ने रमणीय टीका लिखी है। श्रीकण्ठ तथा अप्पयदीक्षित ने इस ग्रन्थ को अपना उपजीव्य माना है। बृहस्पति, शङ्करनन्दन, विद्यापति, देवबल-द्वैताचार्यों की स्थिति अभिनवगुप्त से पहले थी, क्योंकि तन्त्रालोकमें इनका उल्लेख मिलता है। नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ (१२ श०) का आरम्भ) ने सद्योज्योति के ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यायें तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखा है जिनमें (१) प्रकाश (नरेश्वरपरीक्षाटीका) (२) मातङ्ग-वृत्ति, (३) नादकारिका, (४ मोक्षकारिका वृत्ति, (५) परमोक्षनिरासकारिका-वृत्ति प्रकाशित हो गई हैं। रामकण्ठ के अन्तेवासी श्रीकण्ठ सूरि ने 'रत्नत्रय' लिखा है। उत्तुङ्गशिवाचार्य के शिष्य भोजराज रचित 'तत्त्व-प्रकाशिका' एक माननीय ग्रन्थ है जिसका निर्देश 'सूतसंहिता' की टीका

में अमात्य माधव ने किया है। रामकण्ठ के शिष्य अघोरशिवाचार्य (१२ श० का मध्यकाल) ने तत्त्वप्रकाशिका तथा नादकारिका पर वृत्तियाँ लिखकर इन ग्रन्थों को बोधगम्य बनाया है। सद्योज्योति के अन्तिम पाँच ग्रन्थ, भोजराज की तत्त्वप्रकाशिका, रामकण्ठ की नादकारिका, श्रीकण्ठ का रत्नत्रय—ये आठ ग्रन्थ 'अष्टप्रकरण' के नाम से विख्यात हैं। दक्षिण का 'शैवागमसङ्घ' इन 'सिद्धान्त' ग्रन्थों को नागराक्षर में प्रकाशित कर हमारा बड़ा उपकार कर रहा है।

(ग) वीर शैवमत

वीर शैवमत के अनुयायियों का नाम लिङ्गायत या जङ्गम है। इनके विलक्षण आचार हैं। ये वर्णव्यवस्था नहीं मानते, यद्यपि इनके आद्य प्रवर्तक ब्राह्मण थे। ये लोग शङ्कर की लिङ्गात्मक मूर्ति गले में हर समय लटकाये गये रहते हैं। कर्नाटक देश में वीर शैव धर्म का बहुल प्रचार है। इस मत के आद्य प्रचारक का नाम 'वसव' (१२ श०) था जो कलचुरी नरेश बिजल के मन्त्री बतलाये जाते हैं। वीर शैवों का कथन है कि यह मत नितान्त प्राचीन है। पाँच महापुरुषों ने इस मत का भिन्न-भिन्न समयों में उपदेश दिया है। इनके नाम रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताराध्य तथा विश्वाराध्य हैं जिन्होंने क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ, मल्लिकार्जुन तथा विश्वेश्वर नामक प्रसिद्ध शिवलिङ्गों से आविर्भूत होकर शैव धर्म का प्रचार किया। इन्होंने क्रमशः 'वीर' सिंहासन को रम्भापुरी (मैसूर) में, 'सद्धर्म' सिंहासन को उज्जयिनी में, 'वैराग्य' सिंहासन को केदारनाथ के पास ऊखी मठ में, 'सूर्य' सिंहासन को 'श्रीशैल' में तथा 'ज्ञान' सिंहासन को काशी (जंगमबाड़ी—विश्वाराध्यमहासंस्थान) में स्थापित किया। सिद्धान्त के २८ आगम इन्हें भी

मान्य हैं। श्रीपति (१०६० ई०) ने ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीकर' भाष्य लिखकर इस मत की उपनिषन्मूलकता प्रदर्शित की है। श्रीशिवयोगी शिवाचार्य का 'सिद्धान्त शिखामणि' वीर शैव का माननीय ग्रन्थ है।

(घ) प्रत्यभिज्ञा तन्त्र

काश्मीर देश में प्रचलित शैव आगम को प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द या त्रिक दर्शन के नाम से पुकारते हैं। प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्द—यह नामकरण इस तन्त्र के विशेष आध्यात्मिक तत्त्व के कारण है। 'त्रिक' या षडर्ध' शास्त्र नाम देने का कारण यह है कि इस दर्शन में पशु-पति-पाश तीन तत्त्वों का प्रधानतया वर्णन है अथवा ९२ आगमों में से 'सिद्धा', 'नामक' तथा 'मालिनी तन्त्र' सबसे अधिक महत्त्वशाली हैं[1]। तन्त्रालोक की टीका में इस दर्शन के आविर्भाव तथा प्रचार का इतिहास संक्षेप रूप से उल्लिखित है। भगवान् परमशिव ने अपने पञ्चमुखों से उत्पन्न शिवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत सिद्धान्त के प्रचार के लिए इस मत का आविर्भाव किया तथा दुर्वासा ऋषि को इस शैवशासन के प्रचारार्थं आदेश दिया। त्र्यम्बक, आमर्दक तथा श्रीनाथ नामक मानस पुत्रों को उत्पन्न कर दुर्वासा ने क्रम से अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत दर्शनों का उपदेश दिया। अतः त्र्यम्बक द्वारा प्रचारित होने से इसका नाम त्रैयम्बक दर्शन भी है। सोमानन्द (८५० ई०) अपने को त्र्यम्बक से १९वीं पीढ़ी में बतलाते हैं। अतः एक पीढ़ी के लिए २५ साल का समय मानने पर त्रिक दर्शन का आविर्भाव काल पञ्चम शतक में सिद्ध होता है।

इस अद्वैतवादी त्रिकदर्शन का साहित्य बड़ा विशाल है और काश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहा है। काश्मीर में प्राचीनकाल

---

१ तन्त्रालोकभाग १ पृ० ३५, पृ० ४९।

में मालिनीविजय, स्वच्छन्द, विज्ञानभैरव, नेत्र आदि अनेक शैवागम प्रचलित थे जिनको परवर्ती आचार्यों ने इस अद्वैत मत का उपजीव्य माना है। त्रिक के मूल प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त (८०० ई० के आसपास) हैं। शिवसूत्रविमर्शिणी के आरम्भ में क्षेमराज का कथन है कि भगवान् श्रीकण्ठ ने स्वयं वसुगुप्त को स्वप्न में आदेश दिया कि महादेव-गिरि के एक विशाल शिलाखण्ड पर लिखे गये 'शिवसूत्रों' का उद्धार तथा प्रचार करो। जिस चट्टान पर ये सूत्र उट्टङ्कित मिले थे उसे आज भी 'शिवपल्' (शवो पल = शिवशिला) के नाम से पुकारते हैं। ये ही ७७ सूत्र इस दर्शन के मूल आधार हैं। वसुगुप्त ने स्पन्दकारिका (५२ कारिकायें) में शिवसूत्रों के सिद्धान्तों का ही विशदीकरण किया है। गीता की (वसुगुप्त कृत) वासवी टीका अभीतक प्रकाशित नहीं है।

वसुगुप्त के दो शिष्यों ने दो प्रकार की दार्शनिक चिन्ता की धारायें चलाईं। महामाहेश्वराचार्य (२) कल्लट (नवम शतक का उत्तरार्द्ध) ने स्पन्द सिद्धान्त को अग्रसर किया तथा (३) सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञामत का आविर्भाव तथा प्रचार किया। दोनों मतों की दार्शनिक दृष्टि एक ही है, यद्यपि छोटे-मोटे सिद्धान्तों में पार्थक्य है। कल्लट की सबसे श्रेष्ठ कृति स्पन्द कारिका की वृत्ति है जो 'स्पन्दसर्वस्व' के नाम से विख्यात है। सोमानन्द के महत्त्वशाली ग्रन्थों के नाम 'शिवदृष्टि' और 'परात्रिंशिका·विवृति' हैं। (४) उत्पलाचार्य (९०० ई०) सोमानन्द के शिष्य थे। इनकी 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाकारिका' त्रिक सम्प्रदाय का मनन-शास्त्र है जिसमें परपक्ष का प्रामाणिक खण्डन कर अद्वैततत्त्व का मण्डन है। इस ग्रन्थ के नाम पर ही यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा' नाम से व्यवहृत किया जाता है। उत्पल की 'सिद्धित्रयी' में अजडप्रमातृ सिद्धि, ईश्वरसिद्धि तथा सम्बन्धसिद्धि की गणना है और 'शिवस्तोत्रावली' भक्ति-रस से पूरित बड़ा ही सुन्दर

स्तोत्र-संग्रह है। (५) अभिनवगुप्त (९५०—१००० ई०)—उत्पल के प्रशिष्य तथा लक्ष्मण गुप्त के शिष्य अभिनवगुप्त का नाम दर्शन तथा साहित्य दोनों संसार में प्रसिद्ध है। 'अभिनवभारती' तथा ध्वन्यालोक 'लोचन' ने इनका नाम साहित्य जगत् में जिस प्रकार अमर कर दिया है, उसी प्रकार ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, मालिनीविजय-वार्तिक, परमार्थसार, परात्रिंशिका-विवृति ने त्रिकदर्शन के इतिहास में इन्हें चिरस्थायी बना दिया है। इनके विपुलकाय 'तन्त्रालोक' को मन्त्रशास्त्र का विश्वकोष कहना चाहिए। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्ताचार्य को है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होने के अतिरिक्त ये एक अलौकिक पुरुष थे। ये अर्ध-त्र्यम्बकमत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल थे। (६) क्षेमराज (९७५–१०२५)—अभिनव जैसे गुरु के सुयोग्य शिष्य थे। व्यापकता की दृष्टि से इनके ग्रन्थ अभिनव से कुछ ही न्यून हैं। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं:—(१) शिवसूत्र-विमर्शिणी, (२–४) स्वच्छन्द तन्त्र, विज्ञान-भैरव तथा नेत्र तन्त्र पर उद्योत टीका (५) प्रत्यभिज्ञाहृदय, (६) स्पन्दसन्दोह, (७) शिवस्तोत्रावली की टीका आदि। इनके अतिरिक्त उत्पल वैष्णव की 'स्पन्द प्रदीपिका', भास्कर तथा वरदराज का 'शिवसूत्र वार्तिक', रामकण्ठ की 'स्पन्दकारिका विवृति', योगराज की 'परमार्थ सारवृत्ति' तथा जयरथ की तन्त्रालोक की विपुलकाय टीका और गोरक्ष (महेश्वरानन्द) की 'परिमल' सहित 'महार्थमञ्जरी' विख्यात ग्रन्थ हैं।

(४) शाक्त तन्त्र

शाक्ततन्त्रों की संख्या बहुत ही अधिक है। शाक्त पूजा-पद्धति के नितान्त गोपनीय तथा गुरुमुखैकगम्य होने के कारण शाक्तों की यह धारणा अनेकांश में सत्य है कि शाक्त तन्त्रों के प्रकाशित होने पर अनर्थ होने की ही अधिक सम्भावना है। इसलिए शाक्ततन्त्रों का प्रकाशन बहुत ही कम हुआ है, तथापि इन प्रकाशित तन्त्रों के ही अनुशीलन से शाक्तों की विपुल साहित्यिक सम्पत्ति तथा उदात्त सिद्धान्तों का परिचय भलीभाँति मिलता है। गुण, देश, काल, आम्नाय आदि की भिन्नता से आगमों से अनेक भेद प्रदर्शित किये जाते हैं। सात्त्विक आगमों को 'तन्त्र', राजस को 'यामल' तथा तामस को 'डामर' कहते हैं। भगवान् शङ्कर के मुखपञ्चकों से उत्पन्न होने से आगमों के प्रधानतया पाँच 'आम्नाय' होते हैं[1]—पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय तथा ऊर्ध्वाम्नाय। निम्नतर तथा गुह्यमुख से उत्पन्न अधाम्नाय छठाँ आम्नाय माना जाता है। कुलार्णवतन्त्र के तृतीय उल्लास में इन आम्नायों का वर्णन है। पूर्वाम्नाय सृष्टिरूप तथा मन्त्र योग है, दक्षिणाम्नाय स्थिति-रूप और भक्तियोग है, पश्चिमाम्नाय संहाररूप तथा कर्मयोग है; उत्तराम्नाय अनुग्रहरूप और ज्ञानयोग है। ऊर्ध्वाम्नाय की कुलार्णव में बड़ी प्रशंसा की गई है[2]। यह ऊर्ध्वाम्नाय कौलों के अनुसार कौलाचार में गृहीत है, पर सामयिकों के मत में यह आम्नाय समयमत से सम्बद्ध है। भौगोलिक दृष्टि से समस्त भारत तथा एशिया महाद्वीप तीन भागों में बाँटा जाता है। भारत का उत्तर-पूर्वीय प्रदेश विन्ध्य से

---

१ परशुराम कल्पसूत्र १।२।

२ चतुराम्नायविज्ञानादूर्ध्वाम्नायः परः प्रिये।
ऊर्ध्वत्वात् सर्वधर्माणामूर्ध्वाम्नायः प्रशस्यते—कुलार्णव ३।१६–१७.

लेकर चित्तल (चट्टग्राम) तक 'विष्णुक्रान्ता' कहलाता है। उत्तर पश्चिमीय भाग 'रथक्रान्ता' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें विन्ध्य से लेकर महाचीन (तिब्बत) तक के देश अन्तर्भुक्त माने जाते हैं। तृतीय भाग 'अश्वक्रान्ता' के विषय में कुछ मतभेद है। 'शाक्तमंगल' तन्त्र के अनुसार विन्ध्य से लेकर दक्षिण समुद्र पर्यन्त के समस्त प्रदेश की तथा 'महासिद्धि सार' के अनुसार करतोया नदी से लेकर जावातक के समग्र देशोंकी गणना 'अश्वक्रान्ता' में की जाती है। इन तीनों क्रान्ताओं में ६४ प्रकारके तन्त्र प्रचलित बतलाये जाते हैं। शाक्त पूजा के तीन प्रधान केन्द्र हैं—काश्मीर, काञ्ची, और कामाख्या। इनमें प्रथम दोनों स्थान 'श्रीविद्या' के केन्द्र थे और कामाख्या कौलमत का मुख्य स्थान आज भी है। कामाख्या में अनार्य तिब्बती तन्त्रों के विशेष प्रभाव पड़ने के कारण पञ्च-तत्त्वों का इतने उग्ररूप में प्रचार दृष्टिगोचर होता है। इस त्रिकोण का मध्य बिन्दु काशी है जिसमें इन सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। इन शाक्त तन्त्रों का सम्बन्ध अथर्ववेद के 'सौभाग्यकाण्ड' के साथ माना जाता है, परन्तु यजुः तथा ऋग्वेद से सम्बद्ध तान्त्रिक उपनिषत् भी उपलब्ध हैं। इन तन्त्रमत-प्रतिपादक उपनिषदों में ये नितान्त प्रसिद्ध हैं—कौल, त्रिपुरामहोपनिषत्, भावना, बह्वृच, अरुणोप-निषत्, अद्वैतभावना, कालिका और तारा उपनिषद्। इनमें से प्रथम तीन उपनिषदों का भाष्य भास्कर राय ने लिखा है तथा त्रिपुरा तथा भावना का अप्पय दीक्षित ने। ये सब उपनिषद् कलकत्ते की तान्त्रिक टेस्ट ग्रन्थमाला (नं० ११) में प्रकाशित हुए हैं।

लक्ष्मीधर ने 'चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं' (सौन्दर्य लहरी पद्य ३१) की व्याख्या करते समय तीनों मार्गों (कौल, मिश्र तथा समय) के तन्त्रों का विशेष परिचय दिया है। कौल मार्ग के अनुसार

२२

महामाया, शम्बर, ब्रह्मयामल, रुद्रयामल आदि तन्त्रों की संख्या ६४ है, जिनके नाम तथा विषय का उल्लेख 'वामकेश्वर', 'कुलचूड़ामणि', 'सर्वोल्लास तन्त्र' तथा लक्ष्मीधर की टीका में किया गया है। इन ग्रन्थों में विशेष पार्थक्य मिलता है। समय मार्ग के अनुसार ये समस्त तन्त्र अवैदिक हैं तथा ऐहिक सिद्धि-प्रतिपादक होने से वैदिक मार्ग से कोसों दूर हैं (एवं चतुःषष्टितन्त्राणि परिज्ञातॄणामपि वञ्चकानि। ऐहिकसिद्धिपरत्वात् वैदिकमार्ग-दूराणि)। मिश्रमार्ग के तन्त्र आठ प्रकार के हैं—चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधि, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्य तथा दूर्वासमत। ये तन्त्र उच्च ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक होने पर भी लौकिक अभ्युदय के भी साधक हैं; अतः कौल और समय उभयमार्गों के मिश्रण होने से यह 'मिश्रमार्ग' कहलाता है। समय मत का मूलग्रन्थ 'शुभागमपञ्चक' कहलाता है जिसमें वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन और सनत्कुमार द्वारा विरचित संहितापञ्चक की गणना है। लक्ष्मीधर ने इन संहिताओं का उद्धरण भी टीका में दिया है। तन्त्रसाहित्य नितान्त विशाल, व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण है। शाक्त तन्त्रों की संख्या हजार से ऊपर है, परन्तु इस विशाल साहित्य का बहुत ही थोड़ा अंश प्रकाशित हुआ है। इन प्रकाशित तन्त्रों में कुलचूड़ामणि, कुलार्णव, तन्त्रराज (टीका सुदर्शन, प्राणमञ्जरी रचित), शक्तिसंगम तन्त्र (कालीखण्ड तथा ताराखण्ड), कालीविलास, ज्ञानार्णव, वामकेश्वर, महानिर्वाण, रुद्रयामल, त्रिपुरारहस्य, दक्षिणामूर्तिसंहिता आदि विशेष विख्यात हैं। शङ्कराचार्य ने भी 'प्रपञ्चसार' नामक तन्त्र का निर्माण किया है जिसकी टीका आचार्य के शिष्य पद्मपादाचार्य ने लिखी है। लक्ष्मणदेशिक (११ शतक) का 'शारदा तिलक' राघवभट्ट की टीका के साथ तान्त्रिक रहस्यों का आकर है। इन सामान्य तन्त्रों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न आचारों के भी अपने विशिष्ट ग्रन्थ हैं।

श्रीविद्या के १२ उपासक प्रसिद्ध हैं—मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ (कामदेव), अगस्ति, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव और क्रोध-भट्टारक (दुर्वासामुनि)। श्री नटनानन्द कृत कामकलाविलास की टीका (श्लो० ५२) से पता चलता है कि श्रीविद्या के दो सन्तान सुप्रसिद्ध हैं—कामराजसन्तान और लोपामुद्रा सन्तान, जिनमें कामराजसन्तानही अविच्छिन्न रूपसे विद्यमान है, लोपामुद्रासन्तान तो विच्छिन्न हो गया है। कामराज में दिव्यौघ गुरुओं के नाम भी वहाँ दिये गये हैं। श्रीविद्या के प्रधान आचार्यों में तीन आचार्यों की रचनायें उपलब्ध हैं। श्रीदत्तात्रेय ने त्रिपुरातत्त्व के उद्घाटन के लिए अष्टादशसाहस्री 'दत्तसंहिता' की रचना की थी, परन्तु दुर्बोध होने के कारण परशुराम ने इसका संक्षेप ५० खण्डों और ६ हजार सूत्रों में किया। इसका भी संक्षेप हारितायन सुमेधा ने दशखण्डात्मक 'परशुराम कल्पसूत्र' में किया है। गायकवाड़ संस्कृत-ग्रन्थमाला में यह अपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। अगस्त्य के शक्तिसूत्र कविराजजी को मिले हैं। उन्होंने इन्हें सरस्वतीभवन स्टडीज़ (१०म भाग) में प्रकाशित किया है। 'अथातः शक्तिजिज्ञासा' प्रथमसूत्र है। इन निगूढ़ ११३ सूत्रों की एक अल्पाक्षरा अधूरी वृत्ति भी प्रकाशित हुई है, परन्तु विस्तृत व्याख्या के अभाव में इन सूत्रों का रहस्य प्रकट नहीं होता। दुर्वासा के सूत्र नहीं मिलते, 'शक्तिमहिम्नःस्तोत्र' ही उनकी एकमात्र उपलब्ध रचना है। इधर के आचार्यों में गौडपाद श्रीविद्या के बड़े भारी उपासक थे जिनका 'सुभगोदय' (स्तोत्र) तथा 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' (शङ्करारण्य की विस्तृत व्याख्या-संवलित) एतद्विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। गौडपाद के प्रशिष्य शङ्कराचार्य श्रीविद्या के एक विशेष आचार्य थे जिनकी 'सौन्दर्यलहरी' तथा 'ललितात्रिशतीभाष्य' रहस्यपूर्ण रचनायें हैं। 'सौन्दर्यलहरी' में कवित्व तथा तान्त्रिकत्व का अनुपम सम्मिलन है।

इसकी ३५ टीकायें उपलब्ध हैं जिनमें कैवल्याश्रम, नरसिंह, अच्युतानन्द, कामेश्वरसूरि की महत्त्वशालिनी टीकायें अभीतक अप्रकाशित हैं। लक्ष्मीधर (१२६८–१३७९ ई०) की प्रकाशित टीका समयमार्ग के रहस्यों के जानने के लिए नितान्त उपयोगी है। पुण्यानन्दनाथ का 'कामकलाविलास' नटनानन्द की 'चिद्वल्ली' व्याख्या के साथ शाक्ततत्त्व का प्रकाशक है। इन्हीं के शिष्य अमृतानन्दनाथ की 'योगिनीहृदयदीपिका' वामकेश्वरतन्त्र के एक भाग की बड़ी सुन्दर व्याख्या है। शाक्तदार्शनिक श्री भास्करराय (१८वें शतक का पूर्वार्ध) का नाम शाक्तसम्प्रदाय के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। इनके ग्रन्थ शाक्तविद्याके आध्यात्मिक रहस्यों के उद्घाटन के लिए कुञ्जी हैं। इनकी रचनाओं में वरिवस्यारहस्य, सौभाग्यभास्कर (ललितासहस्रनाम का भाष्य), सेतु (नित्याषोडशिकार्णव की टीका), गुप्तवती (दुर्गासप्तशती की व्याख्या) तथा कौल, त्रिपुरा, भावना उपनिषदों की टीकायें विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके शिष्य उमानन्दनाथ ने 'नित्योत्सव' नामक पद्धतिग्रन्थ की रचना १७५५ ई० में तथा प्रशिष्य रामेश्वरसूरि ने 'परशुराम कल्पसूत्र' की टीका 'सौभाग्यसुधोदय' का निर्माण १८३१ ई० में किया। ये ग्रन्थ बड़ोदा से प्रकाशित हैं। लक्ष्मण रानाडे की परशुराम कल्पसूत्र की टीका (सूत्रतत्त्वविमर्शिणी) अभीतक अप्रकाशित ही है। भास्करराय का सम्प्रदाय महाराष्ट्र तथा सुदूर दक्षिण में आज भी जागरूक है। कौलमत के आचार्यों में पूर्णानन्द (जगदानन्द; १४४८–१५२६) का नाम प्रसिद्ध है। विख्यात 'षट्चक्रनिरूपण' इनके विस्तृत 'श्री तत्त्वचिन्तामणि' का एक प्रकरणमात्र है। ये ब्रह्मानन्द के शिष्य थे और बंगाल के रहनेवाले थे। इनके अन्य ग्रन्थों में श्यामारहस्य, शाक्तक्रम, तत्त्वानन्दतरंगिणी प्रसिद्ध हैं। कौलाचार्य सदानन्द का ईशावास्य ग्रन्थ का भाष्य और सर्वानन्द का 'सर्वोल्लास' तन्त्र प्रसिद्ध हैं।

शैव-धर्म

परम पुरुष आनन्दघन अशेषगुणाकर भगवान् को शङ्कररूप से भावना करनेवाला तथा तदनुरूप उपासना करनेवाला सम्प्रदाय 'शैव-सम्प्रदाय' के नाम से विख्यात है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों में यह प्राचीनतम है, इसे हम निस्सन्देह मान सकते हैं। जो लोग ठोस वस्तु के प्रमाण पर ही अपनी आस्था जमानेवाले हैं, उन्हें यह बात टाँक लेनी चाहिए कि सिन्ध नद की घाटी में मोहन-जो-दड़ो स्थान पर मिली हुई मूर्तियों में भगवान् शङ्कर की मूर्ति अन्यतम है। भगवान् शङ्कर योगी के रूप में अङ्कित किये गये हैं और उनके पास ही उनका नन्दी भी विद्यमान है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आज से पाँच हजार वर्ष पहले सिन्ध की उपत्यका में जो आर्य जातियाँ निवास करती थीं वे भगवान् शङ्कर को आराध्य देवता के रूप से पूजन किया करती थीं। किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय की इतनी प्राचीनता अभीतक सिद्ध नहीं हुई है।

व्यापकता की दृष्टि से भी यह सम्प्रदाय नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। उत्तरी भारत से लेकर दक्षिणी भारत तक, हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक भारत के समग्र प्रान्तों में देवादिदेव महादेव की उपासना अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रही है। यहाँ के निवासियों के हृदय में धार्मिक भावना को जाग्रत् तथा अग्रसर करने में भगवान् शङ्कर की उपासना कितनी सफलता से कार्यकारिणी सिद्ध हुई है, शैव-धर्म के इतिहास से सामान्य भी परिचय रखनेवाले लोगों से इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। अपनी रुचि तथा सम्मति के अनुसार भारत के विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों में भगवान् शङ्कर को केन्द्र मानकर अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तों की महत्त्वपूर्ण उद्भावना की है। तामिल

प्रान्त के शैवगण 'शैव-सिद्धान्ती' के नाम से विख्यात हैं। आध्यात्मिक दृष्टि में ये द्वैतवादी हैं। कर्नाटक प्रान्त का 'वीर शैव' धर्म शक्तिविशिष्टाद्वैत का उपासक है। गुजरात तथा राजपूताने का पाशुपत मत भी द्वैतवादी ही है। इन सबों से दार्शनिक दृष्टि में भिन्नता रखनेवाला कश्मीर का त्रिक या प्रत्यभिज्ञादर्शन है, जो पूर्णरूपेण अद्वैतवादी है। इस प्रकार हम द्रविड देश से लेकर कश्मीरतक भगवान् शङ्कर की व्यापक उपासना पाते हैं। इतना ही नहीं, गुप्तकाल के अनन्तर जब भारतीय पण्डितों ने वैदिक धर्म की ध्वजा फहराते हुए भारत से पूर्वीय देशों—जावा, सुमात्रा, मलय, बोर्नियो, चम्पा, कम्बोज—में उपनिवेश बनाये, तब अपने साथ वे भगवान् शङ्कर को भी लेते गये और इन देशों में शैव धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा की। आज भी शैव-मन्दिरों की सुन्दर रचना तथा कलापूर्ण सजावट देखकर कौन ऐसा कलाविद् होगा जो विस्मय से चकित न हो उठे। इन सुदूर देशों के निवासियों में धार्मिक भावना, आध्यात्मिक चिन्तन तथा कला-प्रेम को जाग्रत् करने तथा उसे मूर्त्तमान् बनाने का सारा श्रेय इसी शैव-सम्प्रदाय को है।

शैवमत विशुद्ध वैदिक मत है, इस बात को भी आज प्रमाणों से पुष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है? बात यह है कि पाश्चात्त्य पण्डितों के मत से प्रभावित होकर भारत में ही पण्डितों का एक ऐसा दल तैयार हो गया है जो रुद्र तथा शिव को आर्य देवता न मानकर अनार्य देवता उद्घोषित करने का विपुल प्रयास कर रहा है। वैदिक ग्रन्थों के अनुशीलन करने से रुद्र तथा शङ्कर के वैदिक देवता होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। रुद्र की प्रशंसा में प्रत्येक संहिता में अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद में तो 'रुद्राध्याय' नामक एक महत्त्वपूर्ण तथा स्वतन्त्र अध्याय ही उपलब्ध होता है। रुद्र अनार्य देवता कथमपि

नहीं हैं। वे वस्तुतः अग्नि के ही प्रतीक हैं। अग्नि के दृश्य भौतिक आधार पर ही रुद्र की कल्पना खड़ी की गयी है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है। अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिङ्ग की कल्पना है। शिवलिङ्ग को 'ज्योतिर्लिङ्ग' कहने का भी यही अभिप्राय है। अग्नि वेदी पर जलते हैं, इसीलिये शिव जलधारी के बीच में स्थापित किये जाते हैं। शङ्कर जल के अभिषेक से प्रसन्न होते हैं तथा शिवभक्त अपने शरीर पर भस्म धारण करते हैं। यह बात भी इसी सिद्धान्त को पुष्ट करती है। वस्तुतः अग्नि के दो स्वरूप हैं—घोरा तनु और अघोरा तनु। अपने भयङ्कर घोररूप से वह संसार के संहार करने में समर्थ होता है, परन्तु अघोररूप में वही संसार के पालन में भी समर्थ होता है। यदि अग्नि का निवास इस महीतल पर न हो तो क्या एक क्षण के लिये भी प्राणियों में प्राण-सञ्चार रह सकता है? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि प्रलय में ही सृष्टि के बीज निहित रहते हैं तथा संहार में ही उत्पत्ति का निदान अन्तर्हित रहता है। अतः उग्ररूप के कारण जो देव रुद्र हैं, वे ही जगत् के मङ्गल-साधन करने के कारण शिव हैं। जो रुद्र हैं वही शिव हैं। शिव और रुद्र दोनों अभिन्न हैं। इस प्रकार शैवमत की वैदिकता स्वतः सिद्ध है[1]। अतः शैव-मत वेदप्रतिपादित नितान्त विशुद्ध, व्यापक प्रभावशाली तथा प्राचीनतम है, इसमें किसी प्रकार के सन्देह करने की गुञ्जाइश नहीं है।

अब शैव-मत के अनुसार साध्य तथा साधन, आनन्द तथा उसकी प्राप्ति के उपाय का संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जाता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि शैव-सम्प्रदाय के अनेक अवान्तर भेद हैं, जिनकी दार्शनिक दृष्टि भिन्न होने के कारण दार्शनिक सिद्धान्तों में भेद होना स्वाभाविक है। संक्षेप में कह सकते हैं कि इस मत के अनुसार तीन रत्न हैं और ये तीनों

१ विशेष के लिये द्रष्टव्य लेखकरचित 'धर्म और दर्शन' (पृ० १६–२१)

'प'कार से आरम्भ होते हैं—पशु, पाशु और पति। इन तीन तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान इस सम्प्रदाय के रहस्य जानने के लिये नितान्त आवश्यक है।

पशु

अणु, परिच्छिन्न रूप तथा सीमित शक्ति से युक्त होनेवाला जीव ही 'पशु' है। वह न तो चार्वाक के समान देहरूप है, न नैयायिकों के समान प्रकाश्य और न जैनियों के समान अव्यापक अपितु व्यापक, प्रकाशरूप तथा अनेक है। वह सांख्यदर्शन के पुरुष के समान अकर्ता भी नहीं है, क्योंकि पाशों के दूरीकरण करने के अनन्तर शिवत्व-प्राप्ति होने पर उसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का उदय होता है। इसीलिये शैव सिद्धान्त पशु को कर्ता मानता है। पाशों के तारतम्य के कारण पशु तीन प्रकार के होते हैं—विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। मल तीन प्रकार के होते हैं—आणव मल, कार्मण मल तथा मायीय मल। जिन पशुओं में विज्ञान, योग तथा संन्यास से या भोगमात्र से कर्म क्षीण हो जाते हैं और इसी कर्मक्षय के कारण उनमें शरीर का योग नहीं होता, उन पशुओं को 'विज्ञानाकल' कहते हैं। इनमें केवल आणव मल ही शेष रहता है। 'प्रलयाकल' में प्रलयदशा में शरीरपात होने से मायीय मल तो नहीं रहता; परन्तु अन्य दो मलों की सत्ता तो बनी ही रहती है। तीसरे प्रकार के पशुओं में अर्थात् सकल में पूर्वोक्त तीनों प्रकार के मल विद्यमान रहते हैं। अतएव वह अधम श्रेणी का पशु है। संसार के समग्र जीव पशु हैं। पशु का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—वह व्यक्ति जो पाशों के द्वारा जकड़ा गया हो—पाशनाच्च पशवः। यही पशु की व्युत्पत्ति 'पाशुपत-सूत्र' में दी गयी है। गाय-बैल को इसीलिये तो हम पशु कहते हैं कि

वे बन्धन के द्वारा जकड़े जाने के कारण परतन्त्र हैं, अपने उद्धार करने में किसी प्रकार समर्थ नहीं हैं। संसारी जीवों की भी यही दशा है। वे स्वयं तो शिवरूप ही हैं, सच्चिदानन्दरूप हैं। परन्तु अनेक मलों से आवृत होने के कारण उनकी वह मौलिक स्वातन्त्र्य शक्ति नष्ट हो गयी है।

पाश

पाश का अर्थ है बन्धन—वह बन्धन, जिसके द्वारा शिवरूप होने पर भी जीवों को पशुत्व-प्राप्ति होती है। पाश चार प्रकार के होते हैं—(१) मल, (२) कर्म, (३) माया और (४) रोध-शक्ति। जीव स्वाभाविक रूप से ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न है। वह विभु, सर्वत्र व्यापक है; परन्तु जिस पाश या बन्धन के कारण उसके ज्ञान और क्रिया का तिरोभाव हो जाता है, वह परिच्छिन्न बन जाता है, उस पाश का नाम है—मल, आणवमल अर्थात् अणुता या परिच्छिन्नता। इस मल की उपमा तन्त्रग्रन्थों में धान के ऊपरी छिलके तथा ताँबा में लगनेवाली कालिमा से दी जाती है। छिलका धान के अङ्कुरित होने का कारण होता है, उसी प्रकार यह मल इस देह की उत्पत्ति का कारण होता है। जिस प्रकार ताम्र की कालिमा रसशक्ति से निवृत्त होती है, उसी प्रकार यह जीव भी शिवशक्ति से निवृत्त होता है—

एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः।
तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्रस्थितकालिमावद् वा ॥

फलार्थी जीवों के द्वारा किये जानेवाले अनादि कार्यकलाप को 'कर्म' कहते हैं। 'माया' शब्द मा और या दो पदों से बनता है। 'मा' का अर्थ है प्रलयकाल में जगत् का अधिष्ठान तथा 'या' का अर्थ है सृष्टिकाल में अभिव्यक्त होनेवाला पदार्थ। जिसमें प्रलयकाल में जीव लीन हो जाते

हैं तथा सृष्टिकाल में जिससे उत्पन्न हो जाते हैं, उसका नाम है माया। जगत् की मूल प्रकृति का नाम माया है। माया शैवतन्त्र में वस्तुरूपा है; वेदान्त के समान अनिर्वचनीया नहीं है। माया एक और नित्य है। यह अशुद्ध सृष्टि का मूल कारण है। चौथे पाश का नाम है 'रोधशक्ति'। परमेश्वर की यह वह शक्ति है, जिससे वे जीवों के स्वरूप का तिरोधान करते हैं। इन्हीं पाशों से जीव सदा जकड़ा हुआ है। अपने शुद्ध रूप से विहीन होकर वह जगत्-प्रपञ्च में फँसा हुआ है। वस्तुतः तो वह स्वतन्त्र है; परन्तु इन्हीं पाशों ने उसे परतन्त्र बना डाला है। जिस प्रकार लोक में गायों के गले की रस्सी को खोलकर उनका स्वामी ही उन्हें स्वतन्त्र बनाता है, ठीक इसी प्रकार बिना पशुपति की अनुकम्पा हुए पशु अपने पाशों से कथमपि विमुक्त नहीं हो सकता है।

पति

पति से अभिप्राय परमेश्वर परमशिव से है। परमैश्वर्य, स्वातन्त्र्य तथा सर्वज्ञत्व—ये सब पति के असाधारण गुण हैं। शिव नित्य मुक्त हैं। अर्थात् स्वभावसिद्ध नित्य, निर्मल, निरतिशय ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह—इन पाँच कृत्यों के संपादक भगवान् शङ्कर ही हैं। वे कर्ता हैं और स्वतन्त्र हैं। कर्ता वही होता है जो स्वतन्त्र होता है। 'स्वतन्त्रः कर्ता।' शिव की दो अवस्थाएँ होती हैं—लयावस्था और भोगावस्था। जिस समय शक्ति समस्त व्यापारों को समाप्त कर स्वरूपमात्र में अवस्थान करती है, यही लयावस्था है। जिस समय शक्ति उन्मेष को प्राप्त करती है, विन्दु को कार्योत्पादन के लिये अभिमुख करती है और कार्य का उत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया में समृद्धि करती है, यह शिव की भोगावस्था है।

रुद्र और शङ्कर एक ही हैं। ईश्वर शब्द से शिव का ही प्रधानतया बोध होता है। इसीलिये कालिदास ने कहा है—'महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः'—अर्थात् महेश्वर शब्द से शिव का ही बोध होता है अन्य किसी देवता का नहीं। शिव शब्द 'शीङ् स्वप्ने' धातु से बना हुआ है, जिससे उसका अर्थ है 'शेरते प्राणिनो यस्मिन् सः शिवः' अर्थात् प्राणी जिसमें शयन करें, प्रलयकाल में जो सबका अधिष्ठानरूप है वही शिव है। 'रुद्र' शब्द का अर्थ भी यही है।

तापत्रयात्मकं संसारदुःखं रुत् रुदं द्रावयतीति रुद्रः।

अर्थात् वह देवता, जो संसार के तीनों दुःखों को दूर करते हैं, वही रुद्र हैं। इस प्रकार जगत् के परम मङ्गल साधन करनेवाले शिव तथा भक्तों के दुःखों को दूर करनेवाले रुद्र एक ही परम तत्त्व के बोधक हैं। श्रुति कहती है—'एको हि रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे'—अर्थात् एक ही रुद्र तत्त्व है, उससे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं। इस श्रुति से स्पष्ट है कि रुद्र ही महाकारण भूत शुद्ध परमब्रह्म हैं। इसीलिये वे प्रलयकाल में काल के भी काल हैं। जो मृत्यु जगत् में उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ को अपने वश में कर एक दिन संहार कर डालती है वह भी रुद्र के लिये एक सामान्य भोजन है। कठोपनिषद् (१।२।२५) का कथन है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

आशय है कि ब्रह्मक्षत्र से उपलक्षित समस्त संसार जिसका भात है, मृत्यु जिसका दाल-साग आदि है, उसे कौन भली प्रकार जान सकता है? जिस प्रकार प्राणी दाल-भात को मिलाकर अनायास ही खा डालता है, इसी प्रकार समस्त जगत् तथा विश्वसंहारक काल को खा जानेवाला परमेश्वर मृत्यु का भी मृत्यु है। अतएव वह मृत्युञ्जय है। महाकाल,

कालकाल, महाकालेश्वर शब्दों से वही अभिहित किया जाता है। यदि कोई बच जाय तब तो उसकी संहारशक्ति की समग्रता में बाधा ही पड़ जाय। इसीलिये सबको कवलित करनेवाले काल को भी भगवान् शङ्कर अपनी उदरदरी में डाल देते हैं। वे जगत् के परम कारण हैं। वे प्रलयावस्था के सूचक हैं। प्रलय से जगत् की सृष्टि होती है और अन्त में उसी प्रलय में ही यह लीन हो जाती है। इसलिये वे कारणावस्था के सूचक हैं।

भगवान् शङ्कर के गुणों का क्या शब्दतः प्रतिपादन किया जा सकता है? जो मन और बुद्धि से भी अगम्य है—क्या उसके यथार्थ रूप का परिचय कथमपि प्राप्त हो सकता है? अगाध समुद्र की महत्ता तथा व्यापकता समझने की शक्ति सामान्य जलबिन्दु में क्या है? शिव अंशी है, पशु उनका सनातन अंश है (जीवभूतः सनातनः—गीता १५।७)। अंश में अंशी के अनुगमन करने की शक्ति है; परन्तु महान्, व्यापक, इन्द्रियागोचर रूप के जानने का सामर्थ्य कहाँ? कालिदास का कहना बिल्कुल ठीक है:—

'न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः।'

जितने विरोध हो सकते हैं, इन विरोधों का अवसान जहाँ सम्पन्न होता है, वही तो शङ्कर हैं। वे स्वयं दरिद्र हैं, परन्तु अपने भक्तों के ऊपर प्रसन्न होकर अनन्त लक्ष्मी की वर्षा करनेवाले हैं। त्रिलोकनाथ होते हुए भी श्मशान में निवास करते हैं। उनका शरीर नितान्त भयानक है, परन्तु वे 'शिव' (मङ्गलकारक) कहे जाते हैं। ऐसी अवस्था में उनके यथार्थरूप का परिचय हमें कैसे मिल सकता है? जो विश्वमूर्ति है, यह जगत् जिसका रूप है, उसकी मूर्ति का निरूपण कैसे किया जा सकता है? ठीक ही है—

'न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः।'

शिव का साकार रूप

भगवान् शङ्कर का जो साकार रूप है, वह कितनी आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है—इसको आध्यात्मिक दृष्टि रखनेवाले विद्वान् भलीभाँति देख सकते हैं। भगवान् शङ्कर का शरीर भस्म-धवलित है। सत्त्व का रङ्ग उजला होता है। अतः सत्त्वगुण को आश्रय करनेवाले शिव का शरीर श्वेत होना ही चाहिए। शङ्कर के मस्तक, गला तथा भुजदण्डों में भयङ्कर विकराल सर्प विराजमान हैं। यह सर्प है क्या? यह सर्प है मृत्यु का प्रतीक। भगवान् शङ्कर मृत्युञ्जय हैं, तभी तो जो मृत्यु सभी को ग्रास कर लेती है, वह निर्वीर्य बनकर शङ्कर की दासी बनी हुई उनके शरीर को सुशोभित करती है। शिव के ललाट पर चन्द्रमा है। चन्द्रमा प्राणियों के सन्ताप को हरण करनेवाला है तथा सौन्दर्य का परम निधान है। इसे ललाट पर धारण करने से यह लक्षित होता है कि शङ्कर जगत् के त्रिविध ताप के निवारक तथा सौन्दर्य के अनन्त कोष हैं। गङ्गा जीवों को भुक्ति-मुक्तिप्रदायिनी हैं, वह जिसके मस्तक के ऊपर वशवर्तिनी बनकर विचरण करती हैं, वह परम पुरुष भुक्ति तथा मुक्ति का नितान्त सम्पादक होगा, यह कहना पुनरुक्तिमात्र है। शङ्कर त्रिलोचन हैं। दो नेत्र तो चन्द्र और सूर्य के रूप में सहज ही दृष्टिगोचर होते हैं। तीसरा नेत्र है—ज्ञाननेत्र। इसी नेत्र से काम का दहन किया जाता है। जबतक यह नेत्र उद्‌बुद्ध नहीं होता तबतक काम का साम्राज्य रहता है, काम-वासना प्राणी को अपना दास बनाकर सन्तत विचलित तथा चञ्चल बनाये रहती है। ज्ञान की अग्नि से ही कामोपलक्षित समस्त कर्मों का संहार किया जाता है।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ (गीता, ४।३७)

गीता इसी तत्त्व का प्रतिपादन करती है। शङ्कर का वाहन है वृष। यह वृष धर्म का प्रतीक है इसका रहस्य यह है कि कल्याण की आधार-भूमि धर्म ही है। बिना धर्म का अवलम्बन किये कल्याण की कल्पना ही असम्भव है। जगत् को धारण करनेवाला धर्म है। उसी पर आरूढ़ होकर कल्याण गमन करता है। वृषारूढ़ शङ्कर के स्वरूप का यही आध्यात्मिक रहस्य है। भगवान् महादेव दिगम्बर (नग्न) रहते हैं। इसके भी अन्दर गूढ़ तत्त्व निहित है। देश, काल, गुण, क्रिया आदि पदार्थ प्राणियों को सदा आवरण किया करते हैं, ये प्राणियों को सदा सीमित किया करते हैं; परन्तु परमेश्वर देशकालादि से अनवच्छिन्न रहता है। इसीलिये श्रुति उसे 'नेति' 'नेति' शब्दों से पुकारती है। ब्रह्म निर्विशेष, निर्गुण, निर्लेप, अकारण है—इसी की सूचना भगवान् शङ्कर के नग्नरूप (उपाधिहीन रूप) से हमें मिल रही है। भागवत का यह कथन शङ्कर के सच्चे रूप का प्रतिपादक है—

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षण्ढो न पुमान्न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्निषेधशेषो जयतादशेषः॥

साधन-तत्त्व

मुक्ति तथा मुक्ति-साधन की कल्पना तन्त्रों के अनुसार अन्य मतों से विलक्षण है। यह तो निश्चय ही है कि अनादि काल से प्रवृत्त मलावरणों से संयुक्त होने के कारण पशु नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त क्लेशों का भाजन बना हुआ है। इन मलों के दूर करने का उपाय बताना प्रत्येक दर्शन का कार्य है। तन्त्रों का तो कहना है कि यह मल न तो ज्ञान के द्वारा हटाया जा सकता है न कर्म के द्वारा, बल्कि 'क्रिया' के द्वारा ही इसका अपसरण हो सकता है। जबतक पाक पूरे रूप से नहीं

होता तबतक वह हटाया नहीं जा सकता। मल एक सत्तात्मक पदार्थ है. उसकी उपमा नेत्र में पड़नेवाले जाली (मोतियाबिन्द) से दी जा सकती है। जाली बिना शस्त्र-क्रिया के हटायी नहीं जा सकती। मल की भी यही ठीक दशा है। परिपक्कता दोनों में अपेक्षित है। जीव में स्वतः कोई सामर्थ्य नहीं है, जिससे यह मल हटाया जा सकता है। तप आदि तीव्रतर उपाय हैं, परन्तु ये भी मल को दूर करने में समर्थ नहीं होते। मल के दूर करने का एक ही साधन है और वह है परमशिव का अनुग्रह। इसे ही तन्त्रों में 'शक्तिपात' कहते हैं। जब शङ्कर का अनुग्रह होता है, तभी जीव जीवत्व से मुक्त होकर शिवत्व लाभ करता है। इसी अनुग्रह-शक्ति का नाम है दीक्षा। 'दीक्षा' शब्द का अर्थ है ज्ञान का दान तथा पाप का क्षपण करनेवाला साधन-विशेष—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥—(तन्त्रालोक)

आचार्य भगवान् का ही रूप है। गुरु की दीक्षा के बिना, जो भगवान् की ही अनुग्रह-शक्ति का प्रतीक है, जीव के पशुत्व का अपसरण हो नहीं सकता। सच्चे गुरु की खोज इसीलिये की जाती है। अनाड़ी पुरुष को सन्मार्ग पर लगाने का काम गुरु का ही है, परन्तु सच्चा गुरु तभी मिलता है, जब भगवान् शङ्कर का अनुग्रह होता है। और भगवान् शङ्कर के अनुग्रह का उपाय है शरणापन्न होना। जीव जबतक बहिरङ्ग होकर बाहरी वृत्तियों में लगा हुआ है, तबतक वह सन्मार्ग से बहुत दूर है। जब वह शङ्कर की शरण में जाता है, उसका चित्त अन्तर्मुख होकर अपने ही हृदयकमल में निवास करनेवाले सौन्दर्यसुधाकर, परम कल्याणमय भगवान् शङ्कर के ध्यान में लीन होता है, तभी उसके ज्ञानचक्षु खुलते हैं और वह परमतत्त्व के साक्षात्कार करने में कृतकार्य होता है। भगवान्

तो परम दयालु ठहरे। वह जीव का क्लेश क्षणभर के लिये भी सह नहीं सकते; परन्तु जीव तो अपने बाहरी प्रपञ्चों में इतना फँसा हुआ है कि वह शिव की ओर कभी बढ़ता ही नहीं। भगवान् अज्ञानियों के लिये दूर हैं; परन्तु ज्ञानियों के लिये नितान्त पास हैं—'तद् दूरे चान्तिके च तत्।' विश्वनाथ तो आशुतोष ठहरे, वे महादेव नाम उच्चारण करनेवाले के पीछे उसी प्रकार दौड़ते हैं, जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के पीछे दौड़ती है—

महादेव महादेव महादेवेति वादिनम्।
वत्सं गौरिव गौरीशो धावन्तमनुधावति॥

यह बात बिल्कुल ठीक है। वेदान्त के अनुसार शब्द से तत्त्व का साक्षात्कार होता है। महावाक्य तथा प्रणव आदि नामों के लेने से तत्त्व-ज्ञान होने की बात श्रुति स्पष्ट शब्दों में कहती है। भगवान् के दर्शन होते ही कल्पित संसार मिट जाता है और परम रसरूपा मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् के नाम की विपुल महिमा का यही रहस्य है—'नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं।' इस प्रकार शिव के कल्याणमय स्वरूप को जानकर सर्वभाव से अपने समस्त जीवन को, अपने समग्र कार्य को उन्हीं के चरणों में समर्पित कर देना प्रत्येक जीव का कर्तव्य है। यही वह राजमार्ग है जिसके ऊपर चलकर प्रत्येक जीव अपने जीवन को सफल बना सकता है और परम तत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है। शैव-तन्त्र के अनुसार साधन और साध्य का यही संक्षिप्त विवेचन है।

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥

दशम परिच्छेद

बौद्धधार्मिकसाहित्य

बौद्ध धर्म विश्व के महनीय धर्मों में अन्यतम है। भगवान् बुद्ध इसी भारतभूमि में अवतीर्ण हुए थे। वे संसार की एक दिव्य विभूति थे। महामहिमशाली गुणों से वे विभूषित थे। उन्होंने समय की परिस्थिति के अनुरूप जिस धर्म का चक्र प्रवर्तन किया, वह इतना सजीव, इतना व्यावहारिक तथा इतना मंगलमय था कि आज ढाई हजार वर्षों के अनन्तर भी उसका प्रभाव मानव समाज पर न्यून नहीं हुआ है। एशिया के केवल एक छोटे पश्चिमी भाग को छोड़कर इस विस्तृत भूखण्ड पर इसकी प्रभुता अतुलनीय है। बुद्धधर्म ने करोड़ों प्राणियों का मंगल साधन किया है और आज भी वह उनके आत्यन्तिक कल्याण की साधना में लगा हुआ है। पाश्चात्य जगत् के चिन्ताशील व्यक्तियों पर इस धर्म तथा दर्शन का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पूर्वकाल में पड़ा है और आज भी पड़ रहा है।

बुद्ध ने सम्यक्-संबोधि परम उत्कृष्ट ज्ञान-प्राप्त कर लेने पर जिन चार उत्तम सत्यों (आर्यसत्यों) को खोज निकाला, उनमें पहला सत्य है दुःख। यह जगत् दुःखमय है। इस सिद्धान्त को देखकर आधुनिक विद्वानों की यह धारणा बन गई है कि बौद्धधर्म नैराश्यवादी है, परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। यदि दुःख तत्त्व तक ही यह व्याख्या समाप्त हो जाती, तो नैराश्यवादी होने का कलंक इस पर लगाया जाता। परन्तु बुद्ध ने दुःख के समुदय (कारण) तथा दुःख के निरोध (निर्वाण) को

बतलाकर उस दुःखनिरोध के मार्ग का स्पष्ट प्रतिपादन किया। अतः अन्य भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों की भाँति इस जगत् के दुःखों से अत्यन्त विराम पाना बौद्धधर्म का भी लक्ष्य है। भारत का तत्त्वज्ञान आशावादी है, वह तो दुःखबहुल जगत् के वास्तव स्वरूप के समझाने में व्यस्त है। इससे उद्धार पाने के उपायों के निरूपण में वह अपनी समग्र शक्तियाँ व्यय कर देता है जिससे निराशामय जगत् में आशा का संचार होता है; क्लेश का स्रोत आनन्द के रूप में परिणत हो जाता है। जिस व्यक्ति ने मनुष्यों, पुरोहितों, देवताओं तथा स्वयं ईश्वर की सहायता के बिना ही कल्याण का सम्पादन केवल अपनी ही शक्ति पर निर्भर होना बतलाया है, उसके धर्म को नैराश्यवादी बतलाना घोर अन्याय है, नितान्त भ्रान्त विचार है। मनुष्य की स्वतन्त्रता, स्वावलम्ब तथा महत्ता का प्रतिपादन बौद्धधर्म की महती विशेषता है।

बुद्धधर्म के तीन मौलिक सिद्धान्त हैं—(१) सर्वमनित्यम्—सब कुछ अनित्य है; (२) सर्वमनात्मम्—समग्र वस्तुएँ आत्मा से रहित हैं; (३) निर्वाणं शान्तम्—निर्वाण ही शान्त है। इन तथ्यों का अनुशीलन तथागत के धर्म की विशिष्टता समझने के लिये पर्याप्त होगा।

विश्व के समग्र पदार्थ अनित्य हैं—स्थायी नहीं हैं। ऐसी कोई वस्तु विद्यमान नहीं है जिसे स्थायिता प्राप्त हो। इस सिद्धान्त का अंश है क्षणिकता का वाद। जगत् परिणाम शाली है। कोई भी वस्तु स्थावर नहीं है। क्षण-क्षण में वस्तुएँ परिणाम—परिवर्तन—प्राप्त होती रहती हैं जगत् में 'सत्ता' नहीं है, 'परिणाम' ही केवल सत्य है। बुद्धदर्शन का यही मुख्य सिद्धान्त है। ग्रीक दार्शनिक हिरेक्लिटस ने भी 'परिवर्तन' के तथ्य को माना है, परन्तु बुद्ध का यह मत इस ग्रीक तत्त्ववेत्ता से कहीं अधिक प्राचीन है।

सब वस्तुएँ आत्मा (स्वभाव) रहित हैं। आत्मा या जीव के नाम से जो तत्त्व पुकारा जाता है वह स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो केवल मानसिक वृत्तियों का संघातमात्र है। वस्तुतः द्रव्य की सत्ता नहीं है। वह तो कतिपय गुणों का समुच्चयमात्र है। यह तथ्य अन्तर तथा बाह्य दोनों जगत् के पदार्थों के विषय में है। न अन्तर्जगत् या चित्त जगत् का कोई पदार्थ स्वरूप सहित है, न बाह्यजगत् का पदार्थ (धर्म)। पहले अंश का नाम है पुद्गलनैरात्म्य तथा दूसरे अंश का नाम है धर्मनैरात्म्य। दोनों को एक साथ मिला देने से यह समस्त संसार ही आत्म-शून्य प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त की मीमांसा हीनयान तथा महायान में बड़ी युक्तियों से की गई है।

निर्वाण ही शान्त है। जगत् में दुःख का राज्य है। इसकी निवृत्ति ही मानवजीवन का चरम लक्ष्य है। काम तथा तृष्णा से जगत् का उदय होता है। तृष्णा आदि क्लेशों का मूल अविद्या है। जबतक 'अविद्या' का नाश नहीं होता दुःख निवृत्ति नहीं उपजती। इसके लिए आवश्यकता है प्रज्ञा की। शील, समाधि, प्रज्ञा—ये बुद्धधर्म के तीन रत्न हैं। प्रज्ञा का उदय निर्वाण का साधन है। इस प्रकार बुद्ध ने जगत् के दुःखमय जीवन से निवृत्ति पाने के लिए 'निर्वाण' को शान्त बतलाया है।

बौद्ध धर्म के इतिहास को देखने से उसके तीन प्रधान विभागों का हमें पता चलता है:—(१) हीनयान (२) महायान और (३) वज्रयान। बुद्ध के मूल उपदेशों के ऊपर अवलम्बित होनेवाला मार्ग हीनयान है। महायान उसी का विकसित रूप है। इन दोनों यानों में कतिपय व्यापक पार्थक्य हैं जिनमें ये तीन प्रधान हैं। (क) बुद्ध का व्यक्तित्व—हीनयानी लोग बुद्ध को केवल एक महापुरुष मानते हैं जिन्होंने अपने प्रयत्नों से बोधि तथा निर्वाण प्राप्त किया। परन्तु महायानी लोग उन्हें

लोकोत्तर पुरुष मानते हैं। ऐतिहासिक गौतमबुद्ध तो उनके केवल अवतार थे। (ख) महायान भक्तिप्रधान पन्थ था परन्तु हीनयान में भक्ति के लिए स्थान नहीं था। (ग) हीनयान निवृत्ति मार्ग है और महायान प्रवृत्ति मार्ग प्रधान है। हीनयान का आदर्श अर्हत् है तो महायान का बोधिसत्त्व।

तीसरा विभाग वज्रयान है जिसमें तान्त्रिक साधना की प्रधानता है। इस पन्थ के प्रवर्तक पुरुषों को सिद्ध कहते हैं जिनमें ८४ सिद्ध प्रसिद्ध हैं। इस यान का प्रचार तिब्बत आदि देशों में अधिक हुआ। इन तीनों यानों के मूल धार्मिक ग्रन्थों का विवेचन अगले पृष्ठों में किया जायेगा। बौद्ध दर्शन के चारों दार्शनिक सम्प्रदायों के साहित्य का संक्षिप्त विवेचन 'भारतीय दर्शन' में प्रस्तुत किया गया है।

त्रिपिटक

जन-साधारण के हृदय को स्पर्श करने के लिए बुद्ध ने उन्हीं की बोलचाल की भाषा में अपना उपदेश दिया। गौतमबुद्ध तो कोशल देश के निवासी थे। परन्तु उनका कार्य-क्षेत्र प्रधानतया मगध प्रान्त ही था। जो भाषा वे बोलते थे वह इसी मगध प्रान्त की भाषा मागधी थी। इसे ही आजकल पाली के नाम से पुकारते हैं। बुद्ध के जीवनकाल में उनके उपदेश लिपिबद्ध नहीं किये गये थे। परन्तु उनकी मृत्यु के ठीक बाद ही उनके प्रधान शिष्यों ने एकत्र होकर राजगृह में एक महती सभा की और उनके उपदेशों को लिपिबद्ध किया। बुद्ध के दो प्रधान पट्टशिष्य थे। (१) आनन्द और (२) उपालि। इनमें प्रथम शिष्य (आनन्द) बुद्ध के दार्शनिक उपदेशों के ज्ञाता थे, तो दूसरे शिष्य (उपालि) संघ तथा भिक्षुओं के नियमों के प्रकाण्ड पण्डित थे। आनन्द ने समग्र सुत्तों (उपदेश) को लिपिबद्ध किया और उपालिने समस्त विनय (आचार-शास्त्र) को लिख डाला। इस प्रकार बौद्ध धर्म की मूलभूत्ति ये ही ग्रन्थ-

रत हुए। आजकल बुद्धभगवान् के उपदेश तीन पिटकों (पेटारी, समूह) में विभक्त है (क) विनयपिटक (ख) सुत्तपिटक (ग) अभिधम्मपिटक। इनमें प्रथम दो पिटक (विनय तथा सुत्त) बुद्ध के मूल वचन होने की योग्यता रखते हैं। पूरा अभिधम्म बुद्ध की मृत्यु के बहुत पीछे की रचना है। इस पिटक का एक ग्रन्थ 'कथावत्थु' तो महाराज अशोक के गुरु महातिष्य की रचना माना जाता है।

(क) विनयपिटक

विनय शब्द का अर्थ है नियम। इस पिटक में भिक्षु और भिक्षुणियों के आचार तथा व्यवहार सम्बन्धी नियम दिये गये हैं। जिन अवसरों पर बुद्ध ने इन नियमों का उल्लेख किया है उनका इसमें वर्णन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ आचारप्रधान है तथा बुद्धकालीन समाजके दिग्दर्शन कराने में विशेषतः उपयोगी है। आजकल पाली विनयपिटक में '*परिवार*' नामक एक अंश भी सम्मिलित किया जाता है किन्तु उसके देखने से ही मालूम होता है कि यह विनय के अन्य भागों का संक्षेपमात्र है और पढ़नेवालों की सुविधा के लिये बाद में बनाया गया है। विनय के मूल भाग इस प्रकार हैं—

(क) *विभङ्ग*—यह दो भागों में विभक्त है—(१) भिक्षु विभङ्ग और (२) भिक्खुणी विभङ्ग। इस खण्डको 'पातिमोक्ख' भी कहते हैं।

(ख) '*खन्धक*' (स्कन्धक) इसके भी दो खण्ड हैं—(१) महावग्ग और (२) चुल्लवग्ग।

विभङ्ग शब्द का अर्थ व्याख्या है। भिक्षु और भिक्षुणियों के आचार सम्बन्धी विस्तृत व्याख्या होने के कारण विनयपिटक के इस अंश को विभङ्ग कहते हैं। इसी अंश का दूसरा नाम *पातिमोक्ख* है। इस पाली शब्द के दो संस्कृत रूपान्तर स्वीकृत किये गये हैं। (१) प्रातिमोक्ष

तथा (२) प्रातिमौख्य (प्राति = आदि तथा मौख्य = मुख्यता)। इस प्रकार इस शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है वह नियम जो भलाइयों में प्रमुख हो। भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिये अत्यन्त उपयोगी तथा कल्याणकारी नियमों के संग्रह प्रस्तुत करने के कारण यह खण्ड पातिमोक्ख के नाम से पुकारा जाता है। ये नियम इतने उपयोगी तथा मौलिक हैं कि इनकी पुनरावृत्ति संघ के समस्त भिक्षु तथा भिक्षुणियों को एकत्र होकर उपोसथ (कृष्ण चतुर्दशी तथा पूर्णिमा के दिन उपवास) के दिन करनी अत्यन्त आवश्यक है। भिक्षु तथा भिक्षुणियों के द्वारा त्याज्य दोषों का विभाग अनेक रूप से किया गया है। कुछ दोष (पाप) इनमें ऐसे हैं जिनके करने से भिक्षु अपने भिक्षुत्व से पतित हो जाता है। इन दोषों को 'पाराजिक' कहते हैं। कुछ दोष ऐसे हैं जिनके कारण भिक्षु या भिक्षुणी को संघ से कुछ दिनों के लिये परिवास मुअत्तल) कर दिया जाता है और इस दण्ड का विधान बौद्धसङ्घ ही कर सकता है। इनको सङ्घादि शेष कहते हैं। जिन अपराधों का प्रतिकार सङ्घ के या बहुत से भिक्षुओं के सामने स्वीकार कर लेने हो जाता है उन्हें नैसर्गिक प्रायश्चित्तिक (निसग्गिय पाचित्तिय) कहते हैं।

दूसरा खण्ड खन्धक है जिसका अर्थ स्कन्धक अर्थात् अंश या भाग है। भागों की दीर्घता के कारण इसका पहला अंश महावग्ग कहलाता है तथा क्षुद्रता (छोटा होना) के कारण दूसरा खण्ड चुल्लवग्ग (चुल्ल = क्षुद्र) के नाम से प्रसिद्ध है। महावग्ग का प्रथम अंश—महा-स्कन्धक—ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें गौतम बुद्ध का जीवन-चरित बड़े विस्तार के साथ दिया हुआ है। अन्य भागों में उपोसथ के नियम, चातुर्मास्य का विधान, भैषज्य, चीवर, कर्माकर्म सम्बन्धी अनेक उपयोगी नियमों का वर्णन है। चुल्लवग्ग में बुद्ध की

मृत्यु के अनन्तर जो बौद्ध संगीति (महासभा) हुई थी उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नितान्त महत्त्वशाली है। इसके अतिरिक्त चुल्लवग्ग के अन्य भागों में आसन, शौच, शयन, पंखा, छाता, दण्ड, नख तथा केश काटना, पात्र, वस्त्र आदि विषयों का बड़ा ही मनोरञ्जक वर्णन दिया गया है।

ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि अनेक दृष्टियों से विनयपिटक का महत्त्व बहुत ही अधिक है। यह पिटक भिक्षुओं के आचार-विषयक नियमों को जानने के लिये तो उपयोगी है ही, साथ ही वह पुराने अभिलेखों तथा फाहियान आदि यात्रियों के यात्रा-विवरणों को समझने के लिये भी नितान्त आवश्यक है। यदि इस पिटक को तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक दशा का विश्वकोष कहें तो कुछ अनुचित न होगा। उस समय की राजनैतिक अवस्था का जैसा जीता-जागता चित्रण इसमें मिलता है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। जिस प्रकार आजकल वोट देने की, प्रस्ताव पेश करने की तथा उसके तीन बार वाचन (Reading) की प्रथा है उसी प्रकार की प्रथा उस समय में भी पाई जाती है। उस समय संघ के प्रधान के सामने कोई प्रस्ताव विशेष प्रकार से पेश किया जाता था, जिसे 'ज्ञप्ति' कहते थे। किसी प्रस्ताव के विरोध में बोलने के लिये मेम्बरों को तीन बार समय दिया जाता था, जिसे अनश्रावण कहते थे। अन्त में सम्मति का जो परिणाम होता था उसे सुनाया जाता था, जिसे धारणा कहते थे। इस प्रकार भिक्षुसंघ ठीक राजनैतिक गणसंघ के अनुरूप था।

सामाजिक दशा का भी बड़ा ही विस्तृत वर्णन इस पिटक में दिया गया है। किसी भिक्षु की जितनी दिनचर्या हो सकती है और जितने संभावित कर्तव्य हो सकते हैं उन सभी का वर्णन इसमें पाया जाता है।

गृहरचना, वस्त्रपरिधान, पात्रसंग्रह, शौच, शरीरप्रसाधन, भोज्यपदार्थ तथा आमोद-प्रमोद के साधन आदि सभी विषयों पर भगवान् बुद्ध के उपदेश हमें प्राप्त होते हैं जिससे उस समय का सजीव चित्र सामने खड़ा हो जाता है।

(ख) सुत्तपिटक

जिस प्रकार विनयपिटक का प्रधान लक्ष्य है 'संघ' का शासन, उसी प्रकार सुत्तपिटक का प्रधान उद्देश्य है 'धर्म' का प्रतिपादन। बुद्ध ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर अपने धर्म की जिन शिक्षाओं का विवरण दिया था, उन्हीं का समावेश इस पिटक में है। बुद्ध के जीवन-चरित तथा उपदेशों की जानकारी के लिये यही हमारा एकमात्र आश्रय है। इसके पाँच बड़े-बड़े विभाग हैं जिन्हें 'निकाय' (संग्रह) कहते हैं—

(१) *दीघनिकाय*—लम्बे उपदेशों का संग्रह—३४ सूत्र। जिनमें प्रथम 'ब्रह्मजालसुत्त' में बुद्ध के समकालीन बासठ दार्शनिक मतों का उल्लेख भारतीय दर्शन के इतिहास के लिये विशेषतः महनीय है। सामञ्जफलसुत्त में बुद्ध के समसामयिक सुप्रसिद्ध ६ तीर्थङ्करों के मतों का वर्णन है जिनके नाम हैं—(१) पूर्णकाश्यप, (२) मक्खलि गोसाल, (३) अजित केशकम्बल; (४) प्रकुध कात्यायन तथा (५) निगण्ठनाथपुत्त। तेविज्ज-सुत्त (१।१३) बुद्ध की वेदरचयिता ऋषियों के प्रति विशिष्ट भावना का पर्याप्त परिचायक है।

(२) *मज्झिमनिकाय*—मध्यमकाय १५२ सूत्तों का संग्रह, चार आर्यसत्य, कर्म, ध्यान-समाधि, आत्मवाद के दोष निर्वाण आदि उपादेय विषयों का कथन। कथनोपकथन के रूप में होने से नितान्त रोचक तथा मनोरञ्जक है।

(३) *संयुत्त-निकाय*—लघुकायसूत्तों का ५६ संग्रह।

(४) *अंगुत्तर-निकाय*—११ निपात या विभाग में विभक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन।

(५) *खुद्दक-निकाय*—इस निकाय के १५ ग्रन्थ सन्निविष्ट हैं:—

(१) *खुद्दकपाठ*—यह बहुत ही छोटा ग्रन्थ है। इसमें नव अंश हैं। आरम्भ में शरण त्रय, दश शिक्षा-पद, कुमार प्रश्न के अनन्तर मङ्गल-सुत्त, रतनसुत्त, तिरोकुड्डसुत्त निभिकण्डसुत्त और मेत्तसुत्त हैं। मङ्गलसुत्त में उत्तम मङ्गलों का वर्णन किया गया है। मेत्तसुत्त (मैत्रीय-सूत्र) में मैत्री की उदात्त भावना का बड़ा ही प्रासादिक वर्णन है।

(२) *धम्मपद*—बौद्धसाहित्य का सबसे प्रसिद्ध तथा जनप्रिय ग्रन्थ धम्मपद है। संसार के समग्र सभ्य भाषाओं में इसके अनुवाद किये गये हैं। इसमें केवल ४२३ गाथाएँ हैं जिन्हें भगवान् बुद्ध ने अपने जीवनकाल में विभिन्न शिष्यों को उपदेश दिया था। ये गाथाएँ नीति तथा आचार की शिक्षा से ओत-प्रोत हैं। ग्रन्थ २६ वर्गों में विभक्त है जिनका नामकरण वर्णनीय विषय तथा दृष्टान्तों के ऊपर रक्खा गया है। यथा पुष्प की दृष्टान्तवाली समग्र गाथाओं को एकत्र कर पुष्पवर्ग पृथक् निर्दिष्ट किया गया है। इन गाथाओं में बुद्धधर्म का सार्वजनिक रूप अत्यन्त मनोहर रूप से वर्णित है। कुछ गाथाएँ सुत्त-पिटक आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं और कुछ मनु तथा महाभारत आदि से ली गई प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिये गाथा नीचे दी जाती हैं:—

अहं नागो'व सङ्गामे चापतो पतितं सरम्।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुस्सीलो हि बहुज्जनो॥

अनुवाद—जैसे युद्ध में हाथी धनुष से गिरे शर को सहन करता है वैसे ही मैं कटुवाक्यों को सहन करूँगा, संसार में दुःशील आदमी ही अधिक हैं।

(३) *उदान*—भावातिरेक से जो प्रीति वचन सन्तों के मुख से कभी-कभी निकला करते हैं उन्हें उदान कहते हैं। इस छोटे ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के ऐसे ही उद्‌गारों का संग्रह है। उदानवाक्यों के पहले उन कथाओं तथा घटनाओं का उल्लेख है जिस अवसर पर ये वाक्य कहे गये थे। वाक्य बड़े ही मार्मिक तथा बुद्ध की सुन्दर शिक्षाओं से सम्बद्ध हैं। इसमें आठ वर्ग हैं। छठें जात्यन्त वर्ग में अन्धों के द्वारा हाथी के स्वरूप को पहचानने के रोचक कथानक का उल्लेख है। इसपर बुद्ध की शिक्षा है कि जो लोग पूरे सत्य को न जानकर केवल उसके अंश रूप को जानते हैं वे इसी प्रकार की परस्पर विरोधी बातें किया करते हैं[1]।

(४) *इतिवुत्तक*—इस ग्रन्थ में बुद्ध के द्वारा प्राचीनकाल में कहे गये उपदेशों का वर्णन है। इसमें ११२ छोटे-छोटे अंश हैं। ये गद्य-पद्य-मिश्रित हैं। इस नाम का अर्थ है इतिउक्तकम् अर्थात् इस प्रकार कहा गया। और प्रत्येक उपदेश के आगे इस शब्द का प्रयोग किया गया है। दृष्टान्तों के द्वारा शिक्षा को हृदयङ्गम कराने का सफल उद्योग दीख पड़ता है।

(५) *सुत्तनिपात*—बौद्ध साहित्य का यह बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें ५ वर्ग तथा ७२ सुत्त हैं। इन सुत्तों में बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का वर्णन बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। प्रायः समग्र ग्रन्थ गाथा रूप में है। कहीं-कहीं कथानक की सुभीता के लिये गद्य का ही

१—संस्कृत में भी 'अन्धगजन्याय' बहुत हीं प्रसिद्ध है। ईश्वर के विषय में अज्ञानियों के द्वारा कल्पित नाना मतों के लिये इस न्याय का प्रयोग किया जाता है। नैष्कर्म्य सिद्धि (२।९३) में सुरेश्वर ने इसका प्रयोग इस प्रकार किया है:—

तदेतदद्वयं ब्रह्म निर्विकारं कुबुद्धिभिः।
जात्यन्धगजदृष्ट्येव कोटिशः परिकल्प्यते ॥

प्रयोग है। प्रवज्यासुत्त और प्रधानसुत्त में बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाओं का गाथावत् विवरण है।

(६) *विमानवत्थु*— } इन दोनों पुस्तकों का विषय समान है।
(७) *पेतवत्थु*— } मृत्यु के अनन्तर शुभ कर्म करनेवाले प्रेत (मृतक) की स्वर्गप्राप्ति तथा पापकर्म करनेवाले प्रेत का पापयोनि की प्राप्ति। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से बौद्धों के प्रेत-विषयक कल्पनाओं तथा भावनाओं का विशेष परिचय हमें प्राप्त होता है।

(८) *थेरगाथा*— } बुद्धधर्म को ग्रहण करनेवाले भिक्षुओं तथा
(९) *थेरीगाथा*— } भिक्षुणियों ने अपने जीवन के सिद्धान्त तथा उद्देश्य को चित्रित करनेवाली जिन गाथाओं को लिखा था उन्हीं का संग्रह इन ग्रन्थों में है। थेरगाथा में १०७ कविताएँ हैं जिनमें २७९ गाथाएँ संग्रहीत हैं। थेरीगाथा[1] इससे छोटा है। उसमें ७३ कविताएँ ५२२ गाथाएँ हैं। ये गाथाएँ साहित्यिक दृष्टि से अनुपम हैं। इनके पढ़ने से गीतिकाव्य के समान आनन्द आता है। उदाहरण के लिये दन्तिका नामक थेरी की यह गाथा कितनी मर्मस्पर्शिणी है:—

दिस्वा अदन्तं दमितं मनुस्सानं वसं गतम्।
ततो चित्तं समाधेमि खलुताय वनं गता॥

(जब मैंने देखा कि अदम्य पशु भी मनुष्यों के वश में होकर दान्त बन गया है तब मैंने अपने अदम्य चित्त को वश करने के लिये कमर कस लिया। जङ्गल में जाकर मैंने उसको अपने वश कर लिया।)

(१०) *जातक*—जातक से अभिप्राय बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बन्ध रखनेवाली कथाओं से है। ये कथाएँ संख्या में ५५० हैं। इनका साहित्य

---

१ थेरीगाथा का बंगला अनुवाद कविता में विजयचन्द्र मजुमदार ने किया है।

तथा इतिहास की दृष्टि से बहुत ही अधिक महत्त्व है। बौद्धकला के ऊपर भी इन जातकों का प्रचुर प्रभाव है, क्योंकि इनकी गाथाएँ अनेक प्राचीन स्थानों पर पत्थरों पर चित्रित हैं। कथाओं का मुख्य उद्देश्य तो बुद्ध की शिक्षा देना है परन्तु साथ ही साथ विक्रमपूर्व षष्ठ शतक में भारत की सामाजिक तथा आर्थिक दशा का जो चित्रण हमें उपलब्ध होता है वह सचमुच बड़ा ही उपादेय, बहुमूल्य तथा प्रामाणिक है[1]।

(११) *निद्देस*—इस शब्द का अर्थ है व्याख्या। इसके दो भाग हैं—महानिद्देश और चुल्लनिद्देश। जिनमें अष्टकवर्ग और खग्गविशानसुत्त (सुत्तनिपात का तीसरा सुत्त) के ऊपर क्रमशः व्याख्याएँ लिखी गई हैं। इससे पता चलता है कि प्राचीन काल में पाली सुत्तों की व्याख्या का क्रम किस प्रकार था।

(१२) *पटिसंभिदामग्ग*—(= विश्लेषण का मार्ग) इस ग्रन्थ में तीन बड़े खण्ड हैं, जिनमें बौद्धसिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण विषयों का विश्लेषण तथा व्याख्यान है।

(१३) *अपदान*—(= अवदान = चरित्र) इस ग्रन्थ में बौद्ध-सन्तों के जीवन-वृत्तान्त का बड़ा ही रोचक वर्णन है। कथा साहित्य बौद्धधर्म की विशेषता परन्तु सब कथाएँ जातक के अन्तर्गत ही नहीं हो जातीं। बौद्धधर्मावलम्बी थेरों की शिक्षाप्रद जीवनचरित यहाँ संगृहीत हैं। संस्कृत निबद्ध महायान ग्रन्थों में अवदान नामके ग्रन्थ इसी कोटि के हैं। दोनों ग्रन्थों की तुलना एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

१—जातक का हिन्दी अनुवाद भदन्त आनन्दकौशल्यायन ने हिन्दी में और ईशानचन्द्र घोष ने बंगला में किया है। बगला अनुवाद के सब भाग छप चुके हैं। हिन्दी के तीन खण्डों को हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने प्रकाशित किया है।

(१४) *बुद्धवंश*—इसमें गौतम बुद्ध से पूर्वकाल में उत्पन्न होनेवाले २४ बुद्धों के कथानक गाथाओं में दिये गये हैं। आरम्भ में एक प्रस्तावना है तदन्तर २४ बुद्ध तथा अन्त में गौतम बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाओं का कवितामय वर्णन है। बौद्धों की यह धारणा है कि गौतम बुद्ध पचीसवें बुद्ध हैं। इनसे पहले वे चौबीस बुद्धों के रूप में अवतीर्ण हो चुके थे। इसी धारणा के ऊपर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है।

(१५) *चरियापिटक*—इस ग्रन्थ में ३५ जातक गाथाबद्ध रचित हैं। कथानक पुराने हैं परन्तु उनका गाथामय सुन्दर रूप नवीन है। इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है उन 'पारमिताओं' का वर्णन करना जिन्हें पूर्वजन्म में बोधिसत्त्वों ने धारण किया था। पारमिता शब्द का अर्थ है परमत्व, पारगमन। पाली में इसका रूप "पारमी" होता है। इसमें ६ पारमिताओं का वर्णन है। दान, शील, अधिष्ठान, सत्य, मैत्री, उपेक्षा—इन्हीं पारमिताओं को विशेष रूप से प्रकट करने के लिये इन कथाओं की रचना की गई है। इस प्रकार खुद्दकनिकाय के इन पन्द्रहों ग्रन्थों में शिक्षा तथा आख्यान का मनोरम विवेचन प्रस्तुत किया गया है[१]।

(ग) अभिधम्मपिटक

(३) *अभिधम्म*—बौद्धसाहित्य का तीसरा पिटक है। अभिधर्म शब्द का अर्थ आर्य असंग ने महायानसूत्रालंकार (११।३) में इस प्रकार किया है:—

अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मश्च।

१—ऊपर वर्णित निकाय के ११ ग्रन्थ नागरी लिपि में सारनाथ से प्रकाशित हुए हैं। लण्डन की पाली टैक्स सोसाइटी में समग्र पाली त्रिपिटकों का तथा उनकी टीकाओं का रोमन लिपि में विस्तृत संस्करण निकाला है।

'अभिधर्म' नामकरण के चार कारण इस कारिका में बताये गये हैं। सत्य, बोधि, विमोच, सुख आदि के उपदेश देने के कारण से निर्वाण के अभिमुख धर्म प्रतिपादन करने से इनका नाम अभिधर्म है (अभिमुखतः)।

अभिधर्म एक ही धर्म के निदर्शन आदि बहुत प्रभेद दिखलाने के कारण यह नामकरण है (आभीक्ष्ण्यात्)। दूसरे मतों के खण्डन करने के कारण तथा सूत्रपिटक में बतलाये गये सिद्धान्तों की उचित व्याख्या करने के कारण इस पिटक का नाम अभिधर्म है (अभिभवात् तथा अभिगतितः)। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्थूल रूप से सूत्रपिटक में किया गया है उन्हीं का विशदीकरण तथा विस्तृत विवेचन अभिधर्म का प्रधान उद्देश्य है। जो विषय सूत्रपिटक में भगवान् बुद्ध के प्रवचन रूप में कहे गये हैं उन्हीं का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन इस पिटक में किया गया है।

अभिधर्मपिटक के सात विभाग हैं:—

(१) धम्मसङ्गणि
(२) विभङ्ग
(३) धातुकथा
(४) पुग्गलपञ्ञत्ति (पुद्गलप्रज्ञप्तिः)
(५) कथावत्थु (कथावस्तु)
(६) यमक
(७) पट्ठान (प्रस्थानम्)

(१) *धम्मसङ्गणि*—अभिधर्मपिटक का यह सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। धर्मसङ्गणि का अर्थ है धर्मों की अर्थात् मानसिक वृत्तियों की गणना या वर्णना। पाली टीका में इसका अर्थ इसी प्रकार किया गया है—कामावचररूपावचरादिधम्मेसङ्गह्य सङ्खिपित्वा वा गणपति संख्याति एत्थाति धम्मसङ्गणि। अर्थात् कामावचर रूपावचर धर्मों का

संक्षेप तथा व्याख्या करनेवाला ग्रन्थ। प्राचीन बौद्धधर्म में कर्तव्यशास्त्र और मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों विषयों का वर्णन इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। ग्रन्थ दुरूह है तथा विद्वान् भिक्षुओं के पठन-पाठन के लिये ही लिखा गया है। यह सिंहल द्वीप में बड़े आदर तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। इस ग्रन्थ में चित्त की विभिन्न वृत्तियों का विस्तृत विवेचन है। प्रज्ञान, सम, प्रग्राह (वस्तु का ग्रहण) तथा अविक्षेप (चित्त की एकाग्रता)—इन चारों धर्मों के उदय होने का वर्णन है।

(२) *विभङ्ग*—विभङ्ग शब्द का अर्थ है वर्गीकरण। यह ग्रन्थ धर्मसङ्गणि के विषय को और भी आगे बढ़ाता है। कहीं-कहीं विषय का पार्थक्य भी है। धम्मसङ्गणि में अनुपलब्ध नवीन शब्द भी इस ग्रन्थ में व्याख्यात हैं। पहले अंश में बुद्धधर्म के मूलसिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। दूसरे अंश में साधारण ज्ञान से लेकर बुद्ध के उच्चतम ज्ञानतक का वर्णन है। तीसरे खण्ड में ज्ञानविरोधी पदार्थों का विवेचन है। अन्तिम अंश में मनुष्य तथा मनुष्येतर प्राणियों की विविध दशाओं का वर्णन है।

(३) *धातुकथा*—धातु (पदार्थों) के विषय में प्रश्न तथा उत्तर इस ग्रन्थ में दिये गये हैं। चौदह परिच्छेदों का यह छोटा सा ग्रन्थ है। एक प्रकार से यह धम्मसङ्गणि का परिशिष्ट माना जा सकता है। इसमें पाँच स्कन्ध, आयतन, धातु, स्मृतिप्रस्थान, बल, इन्द्रिय आदि के विभेदों का पर्याप्त विवेचन है।

(४) *पुग्गलपञ्ञत्ति*—पुद्गल शब्द का अर्थ है जीव और प्रज्ञप्ति शब्द का अर्थ है विवेचन अथवा वर्णन। अतः नाना प्रकार के जीवों का उदाहरण तथा उपमा के बलपर विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ का विषय है।

यह सुत्तनिपात के निकायों से विषय तथा प्रतिपादनशैली में विशेष समानता रखता है। दीघनिकाय के संगीति, परिभायसुत्त (३३) से इसमें विशेष अन्तर नहीं है। इसमें ग्यारह परिच्छेद हैं। एक गुण, दो गुण, तीन गुण—इसी प्रकार दस (गुण) प्रकार के जीवों का विस्तृत वर्णन इन परिच्छेदों में किया गया है। नीचे लिखे उदाहरण से इस ग्रन्थ का परिचय मिल सकता है:—

प्रश्न—इस जगत में वे चार प्रकार के मनुष्य कैसे हैं जिनकी समता चूहों से दी जा सकती है।

उत्तर—चूहे चार प्रकार के होते हैं—(१) वे जो अपना बिल स्वयं खोदकर तैयार करते हैं, परन्तु उसमें रहते नहीं। (२) वे जो बिल में रहते हैं परन्तु स्वयं उसे खोदकर तैयार नहीं करते। (३) वे जो उन बिलों में रहते हैं जिसे वे स्वयं खोदते हैं। (४) वे जो न तो बिल बनाते हैं न तो उसमें रहते हैं। प्राणी भी ठीक इसी प्रकार से है। वे मनुष्य जो सुत्त, गाथा, उदान, जातक आदि का अभ्यास तो करते हैं परन्तु चारों आर्यसत्यों के सिद्धान्त को स्वयं अनुभव नहीं करते। शास्त्र पढ़कर भी वे उनके सिद्धान्त को हृदयङ्गम नहीं करते। वे प्रथम प्रकार के चूहों के समान हैं। वे लोग जो ग्रन्थ का अभ्यास नहीं करते, परन्तु आर्यसत्य का अनुभव करते हैं। वे दूसरे प्रकार के मनुष्य हैं। जो लोग शास्त्र का अभ्यास भी करते हैं, साथ ही साथ आर्यसत्य के सिद्धान्त का भी अनुभव करते हैं वे तीसरे प्रकार के मनुष्य हैं। जो न तो शास्त्र का अभ्यास करते हैं और न आर्यसत्य का अनुभव करते हैं वे चौथे प्रकार के चूहों के समान हैं जो न तो अपना बिल बनाता है, न तो उसमें रहता ही है[1]।

---

१ प्रकरण ४, प्रश्न ६

(५) *कथावत्थु*—अभिधम्म का यह ग्रन्थ बुद्धधर्म के इतिहास जानने में नितान्त महत्त्वपूर्ण है। 'कथा' का अर्थ है विवाद तथा 'वस्तु' का अर्थ है विषय। अर्थात् बुद्धधर्म के १८ सम्प्रदायों (निकाय) में जिन विषयों को लेकर विवाद खड़ा हुआ था उनका विवेचन इस ग्रन्थ में बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। अशोक के समय होनेवाली तृतीय सङ्गीति के प्रधान मोग्गलिपुत्त तिष्य इसके रचयिता माने जाते हैं। अधिकांश विद्वान् इस परम्परा को विश्वसनीय और ऐतिहासिक मानते हैं। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष के भीतर ही बुद्धसङ्घ में आचार तथा सिद्धान्त, विनय तथा सुत्त, के विषय में नाना प्रकार के मतभेद खड़े हो गये। अशोक के समय तक विरोधी सम्प्रदायों की संख्या १८ तक पहुँच गई। इन्हीं अष्टादश निकायों के परस्पर-विरुद्ध सिद्धान्तों का उल्लेख इस ग्रन्थ की महती विशेषता है।

(६) *यमक*—इसमें प्रश्न दो प्रकार से किये गये हैं और दो प्रकार से उनका उत्तर दिया गया है। इसी कारण इन्हें यमक कहते हैं। ग्रन्थ कठिन है और अभिधम्म के पूर्व पाँचों ग्रन्थों के विषय में उत्पन्न होनेवाले सन्देहों के निराकरण के लिये लिखा गया है।

(६) *पट्ठान*—यह ग्रन्थ तथा सर्वास्तिवादियों का ज्ञानप्रस्थान अभिधम्म का अन्तिम ग्रन्थ है। पट्ठान (प्रस्थान) का अर्थ है कारण-सम्बन्ध का प्रतिपादक ग्रन्थ। ग्रन्थ में तीन भाग हैं—एक, दुक और तीक। जगत् के वस्तुओं में परस्पर २४ प्रकार का कार्य कारण सम्बन्ध हो सकता है। इन्हीं सम्बन्धों का प्रतिपादन इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। जगत् में एक ही परमार्थ है और वह है निर्वाण। उसे छोड़कर जगत् में समस्त पदार्थों की स्थिति सापेक्षिकी है अर्थात् वे आपस में इन्हीं २४ सम्बन्धों से सम्बद्ध हैं। कार्यकारण के सम्बन्ध की इतनी

सूक्ष्म विवेचना स्थविरवादियों की गहरी छानबीन का परिचायक है। छोटा होने पर भी यह ग्रन्थ दार्शनिक दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय हैं।

बौद्धदर्शन के मूल रूप को जानने के लिये अभिधम्म का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। स्थविरवादी इसे अन्य पिटकों के समान ही प्रामाणिक बुद्धवचन मानते हैं। परन्तु अन्य मतवाले इसे आदर की दृष्टि से नहीं देखते। पिटक की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि कथावत्थु की रचना ईसा-पूर्व तृतीय शतक में अशोक के राज्य-काल में हुई और उससे पहले ही अन्य ६ ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी[1]।

अभिधम्मपिटक की समता हिमालय से दी जा सकती है। जिस प्रकार हिमालय विस्तार में अत्यधिक लम्बे-चौड़े बीहड़ जङ्गलों के कारण दुःप्रवेश है, उसी प्रकार इस पिटक की दशा है।

अभिधम्ममत्थसङ्गह

नक्शे और चार्टों के द्वारा उसमें सहज में ही प्रवेश किया जा सकता है, उसी प्रकार अभिधम्ममत्थसङ्गह को स्वायत्त करलेने पर अभिधम्म में प्रवेश करना सुगम है। इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम भिक्षु अनिरुद्ध है जो १२वीं शताब्दी में वर्मा में उत्पन्न हुए थे। वर्मा प्राचीनकाल से ही आजतक अभिधम्म के अध्ययन और अध्यापन का मुख्य केन्द्र रहा है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ भी कालान्तर में लिखी गईं, जिनमें 'विभावती' और 'परमत्थदीपनी' टीकाएँ विद्वत्ता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। अभी धर्मानन्द कौशाम्बी ने 'नवनीत टीका' लिख कर इसके गम्भीर तात्पर्य को सुबोध बनाने में स्पृहणीय कार्य किया है। इस प्रसङ्ग में मिलिन्दप्रश्न का भी महत्त्व कम नहीं है। उपमा और

१—अभिधम्म के विस्तृत विवेचना के लिये देखिए—

विमलचरण ला-हिस्ट्री आव पाली लिटरेचर, भाग १, पृ० ३०३-३२।

दृष्टान्तों के द्वारा बौद्धदर्शन के सिद्धानों का रोचक विवेचन इस ग्रन्थ की महती विशेषता है। इस ग्रन्थ में स्थविर नागसेन और यवननरेश मिलिन्द (मिनेण्डर) के परस्पर प्रश्नोत्तर के रूप में बौद्धतत्त्वों का विवेचन किया गया है। इन्हीं ग्रन्थों की सहायता से स्थविरवाद के दार्शनिक रूप का दर्शन किया जा सकता है[1]।

(ख) महायान सूत्र

महायान सम्प्रदाय के विशिष्ट ग्रन्थों की संख्या कम नहीं है, परन्तु उनमें ९ ग्रन्थ समधिक महत्त्वशाली माने जाते हैं। इन्हीं के आधार पर यह सम्प्रदाय कालान्तर में पल्लवित हुआ। धार्मिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त ये दार्शनिक तथ्यों के भी आधार हैं।

(१) सद्धर्मपुण्डरीक

भक्तिप्रवण महायान के विविध आकार के परिचय के निमित्त इस सूत्र का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। ग्रन्थ का नामकरण विशेष सार्थक है। पुण्डरीक (श्वेत कमल) पवित्रता तथा पूर्णता का प्रतीक माना जाता है। जिस प्रकार मलिन पङ्क से उत्पन्न होने पर भी कमल मलिनता से स्पृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार बुद्ध जगत् में उत्पन्न होकर भी इसके प्रपञ्च तथा क्लेश से सर्वथा अस्पृष्ट हैं। इस महत्त्वशाली सूत्र का मूल संस्कृत रूप प्रकाशित है[2] जिसमें गद्य के साथ अनेक गाथायें खिचड़ी संस्कृत में दी गई हैं। सूत्र काफी बड़ा है। इसमें २७ अध्याय या 'परिवर्त' हैं।

१—भिक्षु जगदीश काश्यप ने अभिधम्मत्थसङ्गह का अंग्रेजी अनुवाद और व्याख्या 'अभिधम्मफिलासपी' (प्रथमभाग) में किया है तथा मिलिन्दप्रश्न का भी भाषानुवाद किया है।

२—डा० कर्न तथा नंजिओ का संस्करण, लेनिनग्राड, १९०८ ई०।

इसमें नाना प्रकार की कहानियों के द्वारा महायान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। जिस महायान का रूप इसमें दृष्टिगोचर होता है वह उसका अवान्तरकालीन प्रौढ़ लोकप्रिय रूप है जिसमें मूर्तिपूजा, बुद्धपूजा, स्तूप-पूजा आदि नाना पूजाओं का विपुल विधान मान्य है। "भित्ति पर बुद्ध की मूर्ति बनाकर यदि एक फूल से भी उसकी पूजा की जाय, तो विक्षिप्तचित्त मूढ़ पुरुष भी करोड़ों बुद्धों का साक्षात् दर्शन कर लेता है"[१]। बुद्ध अवतारी पुरुष थे। उनकी करोड़ों बोधिसत्त्व पूजा किया करते हैं और वे भी मानवों के कल्याणार्थ मुक्ति का उपदेश देते हैं। 'नमोऽस्तु बुद्धाय' इस मन्त्र के उच्चारणमात्र से मूढ़ पुरुष भी उत्तम अग्रबोधि प्राप्त कर लेता है (२।९६)। पुण्डरीक का प्रभाव बौद्धकला पर भी विशेष रूप से पड़ा है।

(२) प्रज्ञापारमिता सूत्र

इन सूत्रों का विषय दार्शनिक सिद्धान्त है। *पारमिताओं* की संख्या ६ है—दान, शील, धैर्य, वीर्य ध्यान और प्रज्ञा। इन छओं का वर्णन इन सूत्रों में उपलब्ध होता है, पर प्रज्ञा की पूर्णता का विवरण विशेष है। प्रज्ञापारमिता का अर्थ है सबसे उच्च ज्ञान। यह ज्ञान शून्यता के विषय में है। संसार के समस्त धर्म-पदार्थ प्रतिबिम्बमात्र हैं, उनकी वास्तव सत्ता नहीं है। इसी 'शून्यता' का ज्ञान प्रज्ञा का महान् उत्कर्ष है। इन सूत्रों को प्राचीन मानना उचित है, इन सिद्धान्तों की व्याख्या नागा-

---

१—पुष्पेण चैकेन पि पूजयित्वा
आलेखभित्तौ सुगतानविम्बम्।
विक्षिप्तचित्ता पि च पूजयित्वा
अनुपूर्वं द्रक्ष्यन्ति च बुद्धकोट्यः ॥—२।९४।

र्जुन के ग्रन्थों में मिलती हैं। १७९ ई० में एक प्रज्ञापारमिता सूत्र का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया था; अतः इनकी प्राचीनता मान्य है।

प्रज्ञापारमिता सूत्रों के अनेक संस्करण चीनी, तिब्बती तथा संस्कृत में उपलब्ध होते हैं। नेपाल की परम्परा के अनुसार मूल प्रज्ञापारमिता सवा लक्ष का 'श्लोकों' की थी जिसका संक्षेप एक लाख, २५ हजार, १० हजार तथा ८ हजार श्लोकों में कालान्तर में किया गया। इसकी परम्परा बतलाती है कि मूल सूत्र ८ हजार श्लोकों का ही था। उसी में नई-नई कहानियों तथा वर्णनों को जोड़कर इसका विस्तृत रूप प्रस्तुत किया गया है। यही परम्परा ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय तथा माननीय है। चीनी तथा तिब्बती सम्प्रदाय में अनेक संस्करण मिलते हैं। संस्कृत में उपलब्ध प्रज्ञापारमिता सूत्रों के अनेक संस्करण हैं।

(३) गण्डव्यूह सूत्र

चीनी तथा तिब्बती त्रिपिटकों में 'बुद्धावतंसक' सूत्रों का उल्लेख महायान के सूत्रों की सूची में उपलब्ध होता है। इस सूत्र को आधार मानकर चीन में 'अवतंसक' मत की उत्पत्ति ५५७ ई० से ५८९ ई० के मध्य में हुई। जापान में 'केगन' सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ यही सूत्र है। यह सूत्र मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं होता, परन्तु 'गण्डव्यूहमहायान-सूत्र' इस अवतंसक सूत्र से सम्बद्ध प्रतीत होता है क्योंकि इस सूत्र के चीनदेशीय अनुवाद के साथ इसकी समानता पर्याप्तरूप से है।

(४) दशभूमिक सूत्र

इस सूत्र को दशभूमिक या दशभूमीश्वर के नाम से पुकारते हैं। यह अवतंशक का ही एक अंश है। परन्तु स्वतन्त्ररूप से अधिकतर उपलब्ध होता है। इस सूत्र का विषय है बुद्धत्व तक पहुँचने के लिये

दशभूमियों का क्रमिक वर्णन। बोधिसत्व वज्रगर्भ ने इस दशभूमियों का विस्तृत वर्णन किया है। ग्रन्थ गद्य में है और प्रथम परिच्छेद में संस्कृत-मयी गाथाएँ भी हैं। यह विषय महायान मत में अपना विशेष स्थान रखता है। इसी विषय को लेकर आचार्यों ने भी नये-नये ग्रन्थों की रचना की है।

(५) रत्नकूट

रत्नकूट चीनी त्रिपिटक तथा तिब्बती कंजूर का एक विशेष अंश है। इसमें ४९ सूत्रों का संग्रह है जिनमें सुखावती व्यूह, अक्षोभ्य व्यूह, मन्जुश्री बुद्धक्षेत्रगुण व्यूह, काश्यप परिवर्त अथा अनेक 'परिपृच्छा' नामक ग्रन्थों का विशेषकर समुचय है। संस्कृत में भी रत्नकूट अवश्य होगा। परन्तु आजकल वह उपलब्ध नहीं है। रत्नकूट के ग्रन्थ स्वतन्त्ररूप से संस्कृत में भी यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। 'काश्यप परिवर्त' के मूल संस्कृत के कुछ अंश खोटान के पास उपलब्ध हुए हैं और प्रकाशित भी हुए हैं।

(६) समाधिराज सूत्र

इसका दूसरा नाम चन्द्रप्रदीप सूत्र है। इस ग्रन्थ में चन्द्रप्रदीप (चन्द्रप्रभ) तथा बुद्ध का कथनोपकथन है जिसमें समाधि के द्वारा प्रज्ञा के प्राप्त करने का उपाय बतलाया गया है। इस ग्रन्थ का एक अल्प अंश पहले प्रकाशित हुआ था। इधर काश्मीर के उत्तर में गिलगित प्रान्त के एक स्तूप के नीचे से यह समग्र ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है तथा काश्मीरनरेश की उदारता से कलकत्ते से प्रकाशित हुआ है।

यह सूत्र अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिक वृत्ति में तथा शान्तिदेव ने 'शिक्षा समुच्चय' में इस ग्रन्थ से उद्धरण दिये हैं। इस ग्रन्थ में कनिष्क के समय में होनेवाली बौद्ध संगीति का भी उल्लेख है।

(७) सुखावती व्यूह

जिस प्रकार 'सद्धर्म पुण्डरीक' में शाक्यमुनि तथा 'कारण्ड व्यूह' में अवलोकितेश्वर की प्रचुर प्रशंसा उपलब्ध होती है, उसी प्रकार 'सुखावती व्यूह' में 'अमिताभ' बुद्ध के सद्‌गुणों का विशिष्ट आलंकारिक वर्णन है। संस्कृत में इसके दो संस्करण मिलते हैं—एक बड़ा और दूसरा छोटा। दोनों में पर्याप्त अन्तर है। परन्तु दोनों अमिताभ बुद्ध के सुखमय स्वर्ग का वर्णन समभाव से करते हैं। जो भक्त अमिताभ के गुणों के कीर्तन में अपना समय बिताते हैं, मरण-काल में अमिताभ के रूप और गुण का स्मरण करते हैं, वे मृत्यु के अनन्तर इस आनन्दमय लोक में उत्पन्न होकर विहार करते हैं। इसी विषय पर इस सूत्र का विशेष ज़ोर है। 'सुखावती' की कल्पना महायान के मत में स्वर्ग की कल्पना है। यह वह आनन्दमय लोक है जहाँ लाखों रत्न के वृक्ष उगते हैं, सोने के कमल खिलते हैं, नदियों में स्वच्छ जल का प्रवाह कलकल ध्वनि करता हुआ सदा बहता है। वहाँ अखण्ड प्रकाश है। वहाँ पर उत्पन्न होनेवाले जीव अलौकिक सद्‌गुणों से भूषित रहते हैं और जिस सुख की वे कल्पना करते हैं उसकी प्राप्ति उन्हें उसी क्षण में हो जाती है। इस प्रकार महायानीय स्वर्ग की विशिष्ट कल्पना इस व्यूह का प्रधान लक्ष्य है।

(८) सुवर्णप्रभास सूत्र

मूलग्रन्थ में २१ परिच्छेद हैं जिनका नाम 'परिवर्त' है। आरम्भ के ६ परिच्छेद महायान सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने से अत्यन्त महत्त्व-शाली हैं। इनमें तथागत के आयुः परिमाण, पापदेशना, शून्यता का विस्तृत वर्णन है। पिछले परिच्छेदों में तथागत की पूजा-अर्चा करनेवाले देवी देवताओं की विमल फल-प्राप्ति की मनोरञ्जक कहानी लिखी है।

चीनी अनुवादों से तुलना करने पर स्पष्ट है कि इसका मूलरूप बहुत ही थोड़ा था और पीछे अनेक कथाओं को सम्मिलित कर देने से धीरे-धीरे बढ़ता गया है। धर्मरक्ष का अनुवाद इस मूल संस्कृत से भलीभाँति मिलता है।

इस सूत्र का उद्देश्य महायान के धार्मिक सिद्धान्तों का सरल भाषा में प्रतिपादन है; दर्शन के गूढ़तर तथ्यों का विवरण उद्देश्य नहीं है। इस सूत्र पर सद्धर्मपुण्डरीक तथा प्रज्ञापारमिता सूत्रों का व्यापक प्रभाव पड़ा है, इसका परिचय भाषा तथा भाव दोनों की तुलना से चलता है। इस सूत्र का गौरव जापान में प्राचीनकाल से आजतक अक्षुण्ण रीति से माना जाता है। ५८७ ई० में जापान के नरेश शोकोतू ने इस सूत्र की प्रतिष्ठा के लिये एक विशिष्ट मन्दिर की स्थापना की। पिछली शताब्दियों में जापान के प्रत्येक प्रान्तीय मन्दिर में इस सूत्र को प्रतियाँ रखी गई। आजकल जापानी बौद्धधर्म के रूपनिर्धारण में इस सूत्र का भी बड़ा हाथ है।

(९) लंकावतार सूत्र

यह ग्रन्थ विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाला मौलिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का बहुत ही बढ़िया विशुद्ध संस्करण अनेक वर्षों के परिश्रम के अनन्तर जापान के प्रसिद्ध विद्वान् डा० नन्जिओ ने प्रकाशित किया है[1]। ग्रन्थ में दस परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद में ग्रन्थ के नामकरण तथा लिखने के कारण का निर्देश है। ग्रन्थ के अनुसार इन शिक्षाओं को भगवान् बुद्ध ने लंका में जाकर रावण को दिया था। लंका में अवतीर्ण होने के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम लंकावतार सूत्र है।

१—लंकावतारसूत्र, कीओटो (जापान) १९२३ ई०।

दूसरे परिच्छेद से लेकर नवम परिच्छेद तक विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का विवेचन है। इनमें दूसरा और तीसरा परिच्छेद बड़े महत्त्वपूर्ण हैं । ग्रन्थ के अन्त में जो प्रकरण है उसका नाम है सगाथम्, जिसमें ८८४ गाथायें सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिये दी गई हैं। मैत्रेयनाथ ने इन्हीं सूत्रों से विज्ञान का सिद्धान्त ग्रहण कर अपने ग्रन्थों में पल्लवित तथा प्रतिष्ठित किया है।

(ग) वज्रयानी तन्त्र

बुद्धधर्म में मन्त्रतन्त्र का उदय किस काल में हुआ ? यह एक विषम समस्या है। इसके सुलझाने का उद्योग विद्वानों ने किया है, परन्तु उनमें ऐकमत्य नहीं दृष्टिगत होता। त्रिपिटकों के अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि तथागत की मूल शिक्षा में भी मन्त्रतन्त्र के बीज अन्तर्निहित थे। मानुषबुद्ध के पक्षपाती होनेवाले भी स्थविरवादियों के 'आटानाटीयसुत्त'[1] में इस प्रकार की अलौकिक बातों का प्रारम्भ कर दिया। पीछे के आचार्यों का बुद्ध से ही तन्त्रमन्त्र के आरम्भ होने में दृढ़ विश्वास है। बुद्ध को स्वयं इद्धियों (सिद्धियों) में पूरा विश्वास था और इस प्रसंग में उन्होंने चार 'इद्धिपाद'—छन्द (इच्छा), वीर्य (प्रयत्न), चित्त (विचार) तथा विमंसा (परीक्षा)—का वर्णन किया है जो अलौकिक सिद्धियों के उत्पन्न करने में समर्थ थे। 'तत्त्वसंग्रह' में शान्तरक्षित का स्पष्ट कथन है कि बुद्धधर्म पारलौकिक सुख की उत्पत्ति में जितना सहायक है उतना लौकिक

बुद्धधर्म में तन्त्र का उदय

१ दीघनिकाय (३२ सुत्त)। इसमें यक्षों और देवताओं से बुद्ध का संवाद वर्णित है। कुछ ऐसी प्रतिज्ञायें दी गई हैं जिनके दुहराने से हम इन अलौकिक व्यक्तियों की अनुकम्पा पा सकते हैं।

कल्याण की उत्पत्ति में भी[1]। इसीलिये बुद्ध ने मन्त्र, धारणी आदि तान्त्रिक विषयों की शिक्षा स्वयं दी है, जिससे इसी लोक में प्रज्ञा, आरोग्य आदि वस्तुओं की उपलब्धि हो सकती है[2]। इतना ही नहीं, साधनमाला जिसमें भिन्न-भिन्न विद्वानों के द्वारा रचित देवताविषयक ३१२ साधनों का संग्रह है, बतलाती है कि बहुत से मन्त्र स्वयं बुद्ध से उत्पन्न हुए हैं। विभिन्न अवसरों पर देवताओं के अनेक मन्त्र बुद्ध ने अपने शिष्यों को बतलाये हैं। गुह्य समाज (५म शतक) की परीक्षा बतलाती है कि तन्त्र का उदय बुद्ध से हीं हुआ। तथागत ने अपने अनुयायियों को उपदेश देते समय कहा है कि जब मैं दीपङ्कर और कश्यप बुद्ध के रूप में उत्पन्न हुआ था, तब मैंने तान्त्रिक शिक्षा इसलिये नहीं दी कि मेरे श्रोताओं में उन शिक्षाओं के ग्रहण करने की योग्यता न थी।

'विनयपिटक' के दो कथाओं में अलौकिक सिद्धियों के प्रदर्शन का मनोरञ्जक वृत्त वर्णित है। राजगृह के एक सेठ ने चन्दन का बना हुआ भिक्षापात्र बहुत ही ऊँचाई पर किसी बाँस के सिरे पर बाँध दिया। अनेक तीर्थङ्कर आये, पर उसे उतारने में समर्थ नहीं हुए। तब भरद्वाज अपनी योगसिद्धि के बलपर आकाश में ऊपर उठ गये और उसे लेकर राजगृह की तीन बार ऊपर ही ऊपर प्रदक्षिणा की। जनता के आश्चर्य की सीमा न थी, पर बुद्ध को एक तुच्छ काठ के पात्र के लिये इतनी शक्ति का प्रयोग नितान्त अनुचित जँचा और उन्होंने भरद्वाज को इसलिये

---

१ यतोऽभ्युदयनिष्पत्तिर्यतो निःश्रेयसस्य च।
स धर्म उच्यते तादृक् सर्वैरेव विचक्षणैः ॥—श्लो० ३४८६

२ तदुक्तमन्त्रयोगादि नियमाद् विधिवत् कृतात्।
प्रज्ञारोग्य-विभुत्वादिदृष्टधर्मोऽपि जायते ॥—त० सं० श्लो० ३४८७

भर्त्सना की और काष्ठपात्र का प्रयोग दुष्कृत नियत किया। इसी प्रकार मगधनरेश सेनिय बिम्बसार के द्वारा पुरस्कृत 'मेण्डक' नामक गृहस्थ के परिवार की सिद्धियों का वर्णन विनयपिटक में अन्यत्र मिलता है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि तन्त्र, मन्त्र, योग, सिद्धि आदि की शिक्षा स्वयं बुद्ध से उद्भुत हुई थीं। प्रथमतः बीजरूप में थीं; अनन्तर उनका विशेष विकाश हुआ।

महायान के उदय के इतिहास से हम परिचित हैं। महासंघिकों ने पहले पहल बुद्ध के मानव व्यक्तित्व का तिरस्कार कर उन्हें मनुष्यलोक से ऊपर उठाकर दिव्यलोक में पहुँचा दिया। वेतुल्लवादियों की यह स्पष्ट मान्यता थी कि बुद्ध ने इस लोक में कभी आगमन नहीं किया और कभी उपदेश नहीं दिया[1]। इस प्रकार बुद्ध की लोकोत्तर सत्ता से ही वे सन्तुष्ट न हुए, प्रत्युत उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस युगान्तरकारी भावना को प्रकट किया कि खास मतलब से (एकाभिप्रायेण) मैथुन का सेवन किया जा सकता है। ये दोनों सिद्धान्त—ऐतिहासिक बुद्ध की अस्वीकृति और विशेषावस्था में मैथुन की स्वीकृति—घोर विप्लव मचानेवाले थे। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध के अनुयायियों की महती संख्या इस बात पर विश्वास करती थी कि तथागत अलौकिक पुरुष थे तथा मैथुन का आचरण विशिष्ट दशा में न्याय्य है। इस दूसरे सिद्धान्त में वज्रयान (तान्त्रिक बुद्धधर्म) का बीज स्पष्टतः निहित है। मञ्जुश्रीमूलकल्प' की रचना प्रथम तथा द्वितीय शतक विक्रमी में हुई। इस ग्रन्थ में मन्त्र, धारणी आदि का वर्णन विशेषतः मिलता है। अतः महायान के समय में मन्त्रतन्त्र की भावना नष्ट नहीं हुई थी, प्रत्युत् यह अपनी अभिव्यक्ति पाने

---

१ कथावत्थु १७।१०, १८।१, २ वही २३।१.

के लिये बड़े जोरों से अग्रसर हो रही थी। योगाचार में योग और आचार को विशेष महत्त्व देना इसी काल के आगमन की सूचना थी।

महायान के इस विकाश का नाम 'मन्त्रयान' है जिसका अग्रिम विकास 'वज्रयान' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। दोनों में अन्तर केवल

वज्रयान

मात्रा का ही है। सौम्य अवस्था का नाम 'मन्त्रयान' है; उग्ररूप की संज्ञा 'वज्रयान' है। योगाचार से लोगों को सन्तुष्टि कुछ काल तक हुई, परन्तु विज्ञानवाद के गहन सिद्धान्तों के भीतर प्रवेश करने की योग्यता साधारण जनता में न थी। वह तो ऐसे मनोरम धर्म के लिये लालायित थी जिसमें स्वल्प प्रयत्न से महान् सुख मिलने की आशा दी गई हो। इस मनोरम धर्म का नाम 'वज्रयान' है। इस सम्प्रदाय ने 'शून्यता' के साथ-साथ 'महासुख'[1] की कल्पना सम्मिलित कर दी है। 'शून्यता' का ही नाम 'वज्र' है। वज्र कभी नहीं नष्ट होता है, वह दुर्भेद्य अस्त्र है। वज्र दृढ़, सार, अपरिवर्तनशील, अच्छेद्य, अभेद्य, न जलनेयोग्य, अविनाशी है। अतः वह शून्यता का प्रतीक है[2]। यह शून्य 'निरात्मा' है—वह देवीरूप है जिसके गाढ़ आलिंगन में मानव चित्त (बोधिचित्त या विज्ञान) सदा बद्ध रहता है तथा यह युगलमिलन सब काल के लिये सुख तथा आनन्द उत्पन्न करता है। अतः वज्रयान ने शून्य, विज्ञान तथा महासुख की त्रिवेणी का सङ्गम बनकर असंख्य जीवों के कल्याण का मार्ग उन्मुक्त किया है।

---

१ महासुख के लिये द्रष्टव्य ज्ञानसिद्धि (परि० ७), गाय० ओरि० सीरीज भाग ४४ पृ० ५७; अद्वयवज्र संग्रह (पृ० ५०) का 'महासुखप्रकाश'।

२ दृढं सारमसौशीर्यं अच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते॥
—वज्रशेखर (अद्वयवज्रसंग्रह) पृ० २३, ११, २३–२४

वज्रयान का उद्गमस्थान कहाँ था? यह ऐतिहासिकों के लिये विचारणीय विषय है। तिब्बती ग्रन्थों में कहा गया है कि बुद्ध ने बोधि के प्रथम वर्ष में ऋषिपत्तन में श्रामण-धर्म का चक्रपरिवर्तन किया, १२वें वर्ष राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर महायान धर्म का चक्रपरिवर्तन किया और १६वें वर्ष में मन्त्रयान का तृतीय धर्म चक्रप्रवर्तन श्रीधान्यकटक में किया[1]। धान्यकटक गुन्टूर जिले में धरणीकोट के नाम से प्रसिद्ध है। वज्रयान का जन्मस्थान यही प्रदेश तथा श्रीपर्वत है। श्रीपर्वत की ख्याति तन्त्रशास्त्र के इतिहास में खूब ही अधिक है। भवभूति ने मालतीमाधव में श्रीपर्वत को तान्त्रिक उपासना के केन्द्ररूप में चित्रित किया है जहाँ बौद्धभिक्षुणी कपालकुण्डला तान्त्रिकपूजा में निरत रहती थी[2]। सप्तम शतक में बाणभट्ट श्रीपर्वत के माहात्म्य से भलीभाँति परिचित थे। हर्षचरित में उन्होंने राजा श्रीहर्ष को समस्त प्राणिजनों की मनोरथसिद्धि के लिये 'श्रीपर्वत' बतलाया है[3]। श्रीहर्षवर्धन ने रत्नावली में श्रीपर्वत से आनेवाले एक सिद्ध का वर्णन किया है[4]। शंकरदिग्विजय में श्रीशैल को तान्त्रिकों का अड्डा माना गया है जहाँ शंकराचार्य ने जाकर अपने अपूर्व तर्क के बलपर उन्हें परास्त किया था[5]। प्रसिद्धि है कि नागार्जुन ने श्रीपर्वत पर रहकर अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की थी। इन समस्त उल्लेखों की समीक्षा हमें

वज्रयान का उदयस्थान

---

१ पुरातत्त्वनिबन्धावली पृ० १४०

२ मालतीमाधव, अंक १, ८, १०

३ जयति ज्वलत्प्रतापज्वलनप्राकारकृतजगद्रक्षः।
सकलप्रणयिमनोरथसिद्धिश्रीपर्वतो हर्षः ॥—हर्षचरित १।२१

४ रत्नावली अंक २

५ शंकरदिग्विजय पृ० ३६६

इस परिणाम पर पहुंचाती है कि श्रीपर्वत तान्त्रिक उपासना का प्रधान केन्द्र था। यह दशा अत्यन्त प्राचीनकाल से थी। श्रीपर्वत में ही मन्त्र-यान तथा वज्रयान का उदय हुआ, इसका प्रमाण तिब्बती तथा सिंहली ग्रन्थों से भली भाँति चलता है। १४वीं शताब्दी के *निकायसंग्रह* नामक ग्रन्थ में वज्रयान को वज्रपर्वतवासी निकाय बतलाया गया है। इस ग्रन्थ में इस निकाय को चक्रसंवर, वज्रामृत, द्वादशचक्र आदि जिन ग्रन्थों का रचयिता माना गया है वे समग्र ग्रन्थ वज्रयान के ही हैं। अतः सम्भवतः 'श्रीपर्वत' को ही वज्रयान से सम्बद्ध होने के कारण 'वज्रपर्वत' के नाम से पुकारते थे। जो कुछ भी हो, तिब्बती सम्प्रदाय धान्यकटक में वज्रयान का चक्रप्रवर्तन स्वीकार करता है। धान्यकटक तथा श्रीपर्वत दोनों ही मद्रास के गुन्टूर जिले में विद्यमान हैं। इसी प्रदेश में वज्रयान की उत्पत्ति मानना न्यायसंगत है।

समय

वज्रयान की उत्पत्ति किस समय में हुई? उसका यथार्थ निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। इसका अभ्युदय आठवीं शताब्दी से आरम्भ होता है जब सिद्धाचार्यों ने अपनी भाषा में कविता तथा गीति लिखकर इसके तथ्यों का प्रचुर प्रचार किया। परन्तु तान्त्रिक मार्ग का उदय बहुत पहिले ही हो गया था। मञ्जुश्रीमूलकल्प मन्त्रयान का ही ग्रन्थ है। इसकी रचना तृतीय शतक के आसपास हुई। इसके अनन्तर श्रीगुह्यसमाज तन्त्र का समय (५वाँ शतक) आता है। यह गुह्यसमाज 'श्रीसमाज' के नाम से भी प्रसिद्ध है[1]। पुष्पिका में यह 'तन्त्रराज' कहा गया है। तान्त्रिक साधना के इतिहास में यह ग्रन्थ समधिक महत्त्व रखता है। इस ग्रन्थ के ऊपर टीका तथा

१ संस्करण गा० ओ० सी० संख्या ५३ (बरोदा, १९३३)

भाष्यों का विशाल साहित्य आज भी तिब्बती तंजूर में सुरक्षित है[1] जिनमें नागार्जुन (७ शतक), कृष्णाचार्य, शान्तिदेव की टीकायें प्रसिद्ध सिद्धाचार्यों की कृतियाँ हैं। इसके १८ पटलों में तन्त्रशास्त्र के सिद्धान्तों का विशद विवेचन है। वज्रयान का प्रचार भारत के बाहर तिब्बत में भी विशेष रूप से हुआ जिसका प्रमाण 'श्रीचक्रसंवर' तन्त्र है[2]।

वज्रयान के मान्य आचार्य

वज्रयान का साहित्य बहुत ही विशाल है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने केवल संस्कृत में ही अपने सिद्धान्त-ग्रन्थों का प्रणयन नहीं किया, प्रत्युत जनसाधारण के हृदय तक पहुंचने के लिये उन्होंने उस समय की लोकभाषा में भी ग्रन्थों की रचना की। वज्रयान का सम्बन्ध मगध तथा नालन्दा से बहुत ही अधिक है। श्रीपर्वत पर आन्ध्रदेश में इसका उदय भले ही हुआ हो, परन्तु इसका अभ्युदय मगध के नालन्दा तथा ओदन्तीपुर विहारों से नितरां सम्बद्ध है। यह नितान्त परिताप का विषय है कि यह विशाल वज्रयानी साहित्य अपने मूलरूप में अप्राप्य है। तिब्बती साहित्य के तंजूरनामक विभाग में इन ग्रन्थों के अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं। कई वर्ष हुए महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीजी को नेपाल से इन वज्रयानी आचार्यों की भाषारचनायें प्राप्त हुईं, जिन्हें उन्होंने 'बौद्धगान ओ दोहा' नाम से वङ्गीय-साहित्य-परिषद् से १९१६ ई० में प्रकाशित किया[3]। इन गायनों और दोहाओं की भाषा के विषय में

१ इनके नामों के लिये द्रष्टव्य ग्रन्थ की भूमिका पृ० ३०-३२

२ द्रष्टव्य Tantrik Text Series में इसका संस्करण तथा अनुवाद।

३ इस ग्रन्थ में चार पुस्तकें हैं जिनमें तीन ग्रन्थों का नवीन विशुद्ध संस्करण हाल में ही प्रकाशित हुए हैं:—

(क) दोहाकोश—डा० प्रबोधचन्द्र बाक्ची एम. ए. द्वारा सम्पादित, कलकत्ता-

विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। शास्त्रीजी ने इसे पुरानी बंगला मानी है, परन्तु मगध में रचित होने के कारण इस भाषा को पुरानी 'मागधी' कहना अधिक युक्तियुक्त है। इन दोहों की भाषा तथा मैथिली में पर्याप्त साम्य है। अतः भाषा की दृष्टि से यह मगध जनपद की भाषा है, जब बंगला, मैथिली, मगही आदि प्रान्तीय भाषाओं का स्फुटतर पृथक्करण नहीं हुआ था।

चौरासी सिद्ध

वज्रयान के साथ ८४ सिद्धों के नाम सर्वदा सम्बद्ध रहेंगे। अत्यन्त विख्यात होने के कारण इन सिद्धों की गणना एक विशिष्ट श्रेणी में की गई है। इन ८४ सिद्धों का पर्याप्त परिचय हमें तिब्बती ग्रन्थों से चलता है[1]। इन सिद्धों में पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियों का भी स्थान था, ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय राजाओं की भी गणना थी। यह परम्परा किसी एक शताब्दी की नहीं है। ९वम शताब्दी से आरम्भ कर १२वीं शताब्दी के मध्य भाग तक के सिद्धाचार्य इसमें सम्मिलित किये गये हैं। इन सिद्धों का प्रभाव वर्तमान हिन्दूधर्म तथा हिन्दी कविता पर खूब गहरा है। इस सम्बन्ध को जोड़नेवाली लड़ी नाथपन्थी निर्गुणियाँ सन्तों की है। कबीर की बानियों में सिद्धों की ही परम्परा हमें मिलती है। हिन्दी के निर्गुण सन्तों की कवितायें इसी परम्परा के अन्तर्भुक्त हैं। इसके कतिपय सामान्य आचार्यों का परिचय यहाँ दिया जा रहा है:—

संस्कृत-सीरीज नं० २५, १९३८.

(ख) Materials for a critical edition of the old Bengali Charyapadas. सम्पादक वही, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३८.

(ग) डाकार्णव—डा० नगेन्द्रनारायण चौधरी एम. ए., कलकत्ता-संस्कृत-सीरीज नं० १०, १९३५.

१ द्रष्टव्य राहुल सांकृत्यायन पुरातत्त्वनिबन्धावली पृ० १४६–१५९.

(१) *सरहपा*[1]—इनका दूसरा नाम राहुलभद्र तथा सरोजवज्र भी है। पूरब के किसी नगर में ब्राह्मणवंश में उत्पन्न हुए थे। नालन्दा विहार में भी इन्होंने निवास किया था। अनन्तर किसी बाण बनानेवाले की कन्या को अपनी महामुद्रा (वज्रयान में सिद्धि की सहायक योगिनी) बनाकर जंगल में रहने लगे। वहीं ये भी बाण (शर = सर) बनाया करते थे जिनसे इनका लोकप्रिय नाम 'सरह' पड़ गया। इनके १६ भाषा-ग्रन्थों के अनुवाद तिब्बती भाषा में मिलते हैं जिनमें दोहाकोष, दोहा-कोषगीति आदि ग्रन्थ नितान्त प्रसिद्ध हैं।

(२) *शबरपा*—ये सरहपा के पट्ट शिष्य थे। ये भी जंगल में शबरों के साथ रहा करते थे। इसीलिए इस नाम से विख्यात हैं। इनके भी छोटे-छोटे भाषाग्रन्थों के अनुवाद तिब्बती तंजूर में उपलब्ध होते हैं।

(३) *लूइपा*—चौरासी सिद्धों में इनकी प्रथम गणना है। अतः इनकी प्रतिष्ठा तथा गुरुता का यही पर्याप्त निदर्शन है। ये पालवंशी नरेश धर्मपाल (७६९–८०९ ई०) के कायस्थ अर्थात् लेखक बतलाये जाते हैं। ये शबरपा के शिष्य थे तथा मगही में अनेक कवितायें तथा गायन लिखा है जिनमें कतिपय उपलब्ध हैं।

(४) *पद्मवज्र*—पद्मवज्र का गौरव तिब्बत में बहुत ही अधिक माना गया है। तारानाथ का कहना है कि इन्होंने पहले पहल वज्रयान के 'हेवज्रतन्त्र' को प्रचलित किया। इनकी अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना बतलाई जाती है, जिनमें 'गुह्यसिद्धि' का आदर विशेष है। इसके अनुसार श्रीसमाज (गुह्यसमाजतन्त्र) में जितनी तान्त्रिक प्रक्रियायें वर्णित हैं वे बुद्ध से उद्भूत हैं। गुह्यसिद्धि ने 'महामुद्रा' को सिद्धि का प्रधान

१ पा = पाद; नामों के साथ 'आचार्यपाद' के समान आदर सूचित करने के प्रयुक्त किया जाता है।

साधन बतलाया है। बिना महामुद्रा के सिद्धि की प्राप्ति दुर्लभ है। इन्हीं का दूसरा नाम 'सरोरुहवज्र' था।

(५) *जालन्धरपा* (दूसरा नाम हाडी-पा)—इनकी विशिष्ट ख्याति का परिचय तिब्बती ग्रन्थों से चलता है। तारानाथ इन्हें धर्मकीर्ति का समकालीन मानते हैं। इन्होंने पद्मवज्र के एक ग्रन्थ पर टीका लिखी तथा ये हेवज्रतन्त्र के अनुयायी थे। घण्टापाद के शिष्य सिद्ध कूर्मपाद की सङ्गति में आकर ये उनके शिष्य बन गये। इनके तीन पट्टशिष्य थे—मत्स्येन्द्रनाथ, कण्हपा तथा तन्तिपा। इन्हीं मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य सुप्रसिद्ध सिद्ध गोरखनाथ थे। बङ्गाल में इनकी अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं जिनमें इनके शिष्य रानी मैनावती, उसके पति राजा मानिकचन्द तथा पुत्र गोपीचन्द के साथ इनकी घनिष्ठता का वर्णन किया गया है[१]।

(६) *अनङ्गवज्र*—ये पद्मवज्र के शिष्य थे। ८४ सिद्धों में इनकी गणना (नं ८१) है। ये पूर्वी भारत के गोपालनामक राजा के पुत्र माने गये हैं। इनके अनेक ग्रन्थों के अनुवाद तिब्बतीय तन्जुर में मिलते हैं। संस्कृत में भी इनकी एक रचना प्रकाशित हुई है जिसका नाम 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' है। इस ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद (प्रज्ञोपायविपञ्च) में प्रज्ञा (शून्यता) तथा उपाय (करुणा) का स्वभाव निर्दिष्ट है। द्वितीय परिच्छेद (वज्राचार्याराधननिर्देश) में वज्रगुरु की आराधना का उपदेश है। तृतीय परिच्छेद में अभिषेक का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में तत्त्वभावना का विशद विवेचन तथा पञ्चम में वज्रयानी साधना का विवरण है। लघुकाय होने पर भी यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय है।

---

१ द्रष्टव्य धर्ममङ्गल, शून्यपुराण, मानिकचाँदेर गान, मयनावतीर गान, गोपीचाँदेर गान, गोपीचाँदेर संन्यास आदि बंगला ग्रन्थ।

(७) *इन्द्रभूति*—वज्रयानी साहित्य में इन्द्रभूति और उनकी भगिनी भगवती लक्ष्मी या *लक्ष्मींकरा देवी* का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये उड्डियान के राजा थे। ये पद्मसंभव के पिता थे। ये वही पद्मसंभव हैं जिन्होंने आचार्य शान्तरक्षित के साथ तिब्बत में बौद्धधर्म का विपुल प्रचार किया तथा ७४९ ई० में 'सम्ये' के प्रसिद्ध विहार की स्थापना की। इनके २३ ग्रन्थों का अनुवाद तञ्जूर में मिलता है। इनके दो ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध होते हैं—(१) गुरुकुल्लासाधन (साधनमाला पृ० ३५३) तथा (२) ज्ञानसिद्धि। ज्ञानसिद्धि—इस ग्रन्थ में छोटे-बड़े २० परिच्छेद हैं जिनमें तत्त्व, गुरु, शिष्य, अभिषेक, साधना आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है[1]।

(८) *लक्ष्मीङ्करा*—यह इन्द्रभूति की बहन थीं। ८४ सिद्धों में इनकी गणना है (नं० ८२)। राजकुल में उत्पन्न होने पर भी इनके विचार बड़े सुदृढ़ और उग्र थे। यह तन्त्र और योग में बहुत ही निष्णात थीं। इनका एक ही ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध है जो अभी दुर्भाग्य से प्रकाशित नहीं है। इस ग्रन्थ का नाम है—'अद्वयसिद्धि', जिसमें साधक को गुरु की सेवा करने, स्त्रियों के प्रति आदर दिखलाने तथा समग्र देवताओं के निकेतन होने के कारण इस शरीर की पूजा करने का विधान है।

(९) *लीलावज्र*—ये लक्ष्मीङ्करा के प्रधान शिष्य थे। संस्कृत में इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु इनके कम से कम नव ग्रन्थों के

---

१ 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' तथा 'ज्ञानसिद्धि'—दोनों का प्रकाशन हो गया है। गायकवाड़ ओरि० सीरीज, संख्या ४४, Two Vajrayana Works, Baroda, 1929.

अनुवाद तञ्जूर में मिलते हैं। इनके किसी दूसरे गुरु का पता चलता है जिनका नाम 'विलासवज्र' था।

(१०) *दारिकपाद*—ये लीलावज्र के शिष्य थे। परन्तु कुछ लोगों का विचार है कि ये लुईपाद के शिष्य थे। 'बौद्धगान ओ दोहा' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि दारिकपा बङ्गाल के रहनेवाले थे और इन्होंने ग्रन्थों का प्रणयन अपनी मातृभाषा में किया था, जिनमें से कुछ का उल्लेख उपर्युक्त ग्रन्थ में किया गया है। अपने एक गीत में इन्होंने लुइपा के प्रति विनम्रता दिखलाई है जिससे डा० हरप्रसाद शास्त्री ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ये उनके साक्षात् शिष्य थे। परन्तु लुइपा का काल इनके बहुत पूर्व था, अतः यह सिद्धान्त उचित नहीं है। इन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की; परन्तु इनमें से कोई भी नहीं मिलता। इनके दस ग्रन्थों का अनुवाद तञ्जूर में मिलता है।

(१२) *सहयोगिनी चिन्ता*—ये दारिकपाद की शिष्या थीं। इनके एक संस्कृत ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति मिलती है जिसका नाम 'व्यक्त भावानुगत तत्त्वसिद्धि' है। इस ग्रन्थ की परीक्षा से पता चलता है कि इनकी विज्ञानवाद पर विशेष आस्था थी। यह जगत् चित्त का ही विकाश है। प्रज्ञा और उपाय ये दोनों चित्त से ही उत्पन्न हैं। इन्हीं दोनों के मिलन से चित्त में महासुख का उदय होता है।

(१३) *डोम्बी हेरुक*—तिब्बतीय प्रमाणों से इनका मगध का राजा होना सिद्ध होता है। ये तञ्जूर में आचार्य सिद्धाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनकी गणना ८४ सिद्धों में है (नं० ४)। वीणापा और विरूपा दोनों इनके गुरु थे। ये 'हेवज्रतन्त्र' के अनुयायी थे। सिद्ध कण्हपा इनके शिष्य बतलाये जाते हैं। इनके अनेक ग्रन्थों के अनुवाद तञ्जूर में पाये जाते हैं, जिनमें 'सहजसिद्धि' नामक ग्रन्थ मूल संस्कृत में मिला है।

'डोम्बीगीतिका' नामक इनका भाषा में लिखा गया ग्रन्थ भी था। सम्भवतः जिसके अनेक पद 'बौद्धगान ओ दोहा' में मिलते हैं।

इस सिद्धपरम्परा से अतिरिक्त भी आचार्य हुए। इनमें 'अद्वयवज्र' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनका समय १२वीं शताब्दी के आसपास है। इन्होंने वज्रयान के तथ्यों के प्रतिपादन के लिये २१ ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें अनेक ग्रन्थ बहुत ही छोटे हैं। इनमें कुदृष्टिनिर्घातन, तत्त्वरत्नावली, पञ्चतथागत-मुद्राविवरण तथा चतुर्मुद्रा। तान्त्रिक तत्त्वों के ज्ञान के लिये विशेष गौरव रखते हैं[1]। बौद्धतन्त्र के सिद्धान्त अतीव उदात्त हैं तथा साधना जगत के गूढ़ रहस्यों के प्रतिपादक हैं। इनका विस्तृत प्रतिपादन हमने अन्यत्र किया है। जिज्ञासु पाठक उसका अनुशीलन करें[2]।

---

१ इन समग्र ग्रन्थों के संग्रह के लिये, द्रष्टव्य 'अद्वयवज्र संग्रह' (गा० ओ० सी० सं० ४०), बरोदा १९२७। इस ग्रन्थ के आरम्भ में पूज्यपाद पण्डित हरप्रसाद शास्त्रीजी ने लम्बी भूमिका लिखी है जिसमें बौद्ध सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का पर्याप्त विवेचन है।

२ बलदेव उपाध्याय—बौद्धदर्शन पृ० ४३७-४५३.

एकादश परिच्छेद

जैनधर्म-ग्रन्थ

जैन-धर्म भारत के महत्त्वपूर्ण धर्मों में अन्यतम है। काल-क्रम से वह बहुत ही प्राचीन है। एक समय था जब जैनधर्म और बौद्धधर्म के परस्पर कालक्रम के विषय में कोई निश्चित मत न था, परन्तु अब पुष्ट प्रमाणों की सहायता से जैनधर्म की बौद्धधर्म से प्राचीनता सिद्ध हो चुकी है। 'दीघनिकाय' में जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंङ्कर वर्धमान महावीर का उल्लेख तत्कालीन विख्यातनामा छः तीर्थंङ्करों में 'निगण्ठनातपुत्त' के नाम से किया गया है। 'निगण्ठ' शब्द 'निर्ग्रन्थ' शब्द का ही पाली रूपान्तर है। भव-बन्धन की ग्रन्थियों के खुल जाने के कारण महावीर को यह उपाधि दी गई थी। सर्वज्ञ, रागद्वेष के विजयी, त्रैलोक्यपूजित सिद्ध पुरुषों ("अर्हत्") के द्वारा प्रचारित होने से यह धर्म 'आर्हत' कहलाता है। रागद्वेष रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के कारण वर्धमान 'जिन' के नाम से विख्यात हुए और उनके द्वारा प्रचारित होने के कारण यह धर्म 'जैनधर्म' कहलाता है। इन नामकरणों के मूल में इस धर्म की आचार-प्रधानता ही कारण है।

जैन लोग अपने धर्म के प्रचारक सिद्धों को तीर्थंङ्कर कहते हैं। 'तीर्थंङ्कर' शब्द का अर्थ है मार्ग-स्रष्टा। प्रसिद्धि है कि भिन्न-भिन्न युगों में २४ तीर्थंङ्करों ने इस धर्म का प्रचार किया। इस धर्म के आद्य तीर्थंङ्कर

का नाम है ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थङ्कर हैं वर्धमान महावीर। महावीर के पहले पार्श्वनाथ ने इस धर्म के सिद्धान्तों का विपुल प्रचार किया। पार्श्वनाथ तथा महावीर निःसन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति थे। पार्श्वनाथ का जन्म ई०-पू० ९ नवम शताब्दी में काशी में हुआ था। इन्होंने ७० वर्ष तक जैनधर्म का उपदेश कर समेत पर्वत (गया ज़िला) पर निर्वाण प्राप्त किया। महावीर का जन्म (ई०-पू० ५९९–५२७ ई० पू०) वैशाली (मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़ नामक गाँव) के ज्ञातृक नामक क्षत्रियवंश में हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ तथा माता का त्रिशला था। ६० वर्ष की अवस्था में इन्होंने यतिधर्म ग्रहण कर बड़ी कठोर तपस्या का साधन किया तथा १२ वर्षों के लगातार अभ्यास से कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया। इनकी तथा पार्श्वनाथ की शिक्षा में तनिक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह—के विधान पर ज़ोर दिया है। पर महावीर ने ब्रह्मचर्य को भी उतना ही उपादेय तथा आवश्यक मानकर पञ्चम महाव्रत स्वीकार किया है। पार्श्वनाथ वस्त्रधारण करने के पक्षपाती थे, परन्तु महावीर ने अपरिग्रह व्रत की पूर्ति के लिये वस्त्रपरिधान को भी त्याज्य बतलाया है। इस प्रकार जैनियों के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों का भेद अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है।

महावीर की मृत्यु के अनन्तर जैनधर्म को विशेष राजाश्रय भी प्राप्त हुआ। मगध के नन्दवंशी नरेश तथा कलिङ्ग के अधिपति सम्राट् खारवेल इसी धर्म के अनुयायी थे। इतिहास साक्षी है कि मौर्यवंश के संस्थापक सम्राट् चन्द्रगुप्त भी जैनधर्मानुयायी थे। प्रसिद्धि है कि चन्द्रगुप्त के राज्य के अन्तिम काल में बारह वर्ष तक एक बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा था। उस समय पाटलिपुत्र में जैनधर्म के आचार्य थे भद्रबाहु। ये दुर्भिक्ष के कारण

दक्षिण की ओर चले गये और फिर लौटकर नहीं आये। भद्रबाहु के दक्षिण चले जाने के अनन्तर 'संघभद्र' जैनसंघ के प्रधान नेता बने। इस कठिन परिस्थिति में धर्म के कठोर नियमों का यथावत् परिपालन न होते देखकर उन्होंने जैनाचार में अनेक संशोधन किया। प्राचीन संघ में नग्नता के ही आदर्श का प्राधान्य था परन्तु अब मागध संघ ने श्वेत-अम्बर (सफेद कपड़ा) धारण करना यतियों के लिये न्यायानुमोदित बतलाया। इस प्रकार ई०-पू० तृतीय शतक से जैनधर्म में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। तत्त्वज्ञान के विषय में दोनों मतों में विशेष मतभेद नहीं है; परन्तु आचार के विषय में पर्याप्त मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय में धार्मिक नियमों की उग्रता दीख पड़ती है, परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के नियमों में शिथिलता पाई जाती है। दिगम्बरियों का कहना है कि केवली केवल-ज्ञानसम्पन्न पुरुष भोजन नहीं करता और स्त्रियों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। पुरुष का जन्म लेकर ही स्त्रियों के लिये मोक्ष-प्राप्ति की सम्भावना है। जिनदत्त सूरि ने इन्हीं दोनों विषयों में श्वेताम्बरियों के साथ दिगम्बरियों का पार्थक्य बतलाया है—

भुङ्क्ते न केवली न स्त्री, मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो, महान् श्वेताम्बरैः सह॥

आगम-ग्रन्थ

महावीर के उपदेशों का सार किन ग्रन्थों में सुरक्षित है? इसका उत्तर दोनों सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न रूप से देते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का कथन है कि आजकल समुपलब्ध जैन आगम महावीर के उपदेशों का मुख्य प्रतिनिधि है। परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय इसमें आस्था नहीं रखता। इन आगमों को वह मूल आगम मानने के लिये प्रस्तुत नहीं है। इन आगमों

के लिपिबद्ध होने का जो इतिहास उपलब्ध होता है वह भी कुछ इतना अव्यवस्थित है कि समग्र आगम को महावीर-वाणी मानने के लिये कोई भी ऐतिहासिक या विवेचक तैयार नहीं हो सकता।

महावीर तत्कालीन लोकभाषा में ही अपना उपदेश जनता को दिया करते थे। इस लोकभाषा का नाम है अर्धमागधी या आर्ष प्राकृत। महावीर के प्रधान गणधर (शिष्य) थे गौतम इन्द्रभूति, जिन्होंने उनके उपदेशों को १२ 'अंग' तथा १४ 'पूर्व' के रूप में निबन्ध किया। ये 'अंग' और 'पूर्व' उन ग्रन्थों के नाम हैं जिनमें महावीर की मौखिक शिक्षा लिपिरूप में निबद्ध की गई थी। जो विद्वान् इन अंगों और पूर्वों का पारगामी पण्डित होता था उसे 'श्रुतकेवली' कहते थे। जैन-परम्परा में जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानियों में 'केवल ज्ञानी' का प्रतिष्ठित स्थान है उसी प्रकार परोक्ष ज्ञानियों में 'श्रुतकेवली' का। जैसे केवलज्ञानी समस्त जगत् के पदार्थों को जानता है और देखता है उसी प्रकार "श्रुतकेवली" शास्त्र में वर्णित प्रत्येक विषय को स्पष्टतया जानता है। महावीर के निर्वाण के अनन्तर तीन केवलज्ञानी हुए और पाँच श्रुतकेवली। इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इन्हीं भद्रबाहु के दक्षिण देश में चले जाने पर स्थूलभद्र ने—जो जैनसङ्घ के प्रधान थे—जैन आगम की रक्षा करने के निमित्त पाटलिपुत्र में यतियों को एक महती सभा की। इसी सभा में ११ अंग (ग्रन्थ) सङ्कलित किये गये और १४ पूर्वों के अवशिष्ट भागों को एकत्र कर १२वाँ अंग निर्मित किया गया जिसका नाम रखा गया "दिट्ठिवाय' (दृष्टिवाद)। पाटलिपुत्र में सङ्कलित ये अङ्ग भी कालक्रम से धीरे-धीरे जब अव्यवस्थित हो गये तब आर्यस्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में एक सभा हुई और अङ्ग के अवशिष्ट भाग को सुव्यवस्थित रूप दिया गया। इसे माथुरी वाचना कहते हैं। इसके बाद वल्लभी में महावीर

के निर्वाण की दसवीं शताब्दी (वीरनिर्वाण सं० ९८० = ई० ४५३) में वल्लभी में फिर सभा की गई जिसमें ११ अङ्गों का सङ्कलन हुआ। १२वाँ अङ्ग तो लुप्त ही हो चुका था। आगमों के लिपिबद्ध होने तथा अन्तिम संशोधन का यही काल है। इस सभा के सभापति थे 'देवर्धिगणि क्षमाश्रमण'। यह आगम श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुकूल हैं।

आगम की सूची

श्वेताम्बरों का सम्पूर्ण जैन आगम छः भागों में विभक्त है। जिनके नाम क्रमशः यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

(क) *अङ्ग*—इनकी संख्या ११ है:—

(१) आचाराङ्ग (२) सूत्रकृताङ्ग (३) स्थानाङ्ग (४) समवायाङ्ग (५) भगवतीसूत्र (६) ज्ञाताधर्मकथा (७) उपासकदशा (८) अन्तकृतदशा (९) अनुत्तरौपपातिकदशा (१०) प्रश्नव्याकरण और (११) विपाकसूत्र।

(ख) *उपाङ्ग*—इनकी संख्या १२ है:—

(१२) औपपातिक (१३) राजप्रश्न (१४) जीवाधिगम (१५) प्रज्ञापना (१६) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (१७) चन्द्रप्रज्ञप्ति (१८) सूर्यप्रज्ञप्ति (१९) निरयावली (२०) कल्पावतंस (२१) पुष्पिक (२२) पुष्पचूलिक और (२३) वृष्णिदशा।

(ग) *प्रकीर्णक*—इनकी संख्या १० है:—

(२४) चतुःशरण (२५) आतुरप्रत्याख्यान (२६) भक्तपरिज्ञा (२७) संस्तार (२८) तण्डुलवैतालिक (२९) चन्द्रवेधक (३०) देवेन्द्रस्तव (३१) गणिविद्या (३२) महाप्रत्याख्यान और (३३) वीरस्तव।

(घ) *छेदसूत्र*—इनकी संख्या ६ है:—

(३४) निशीथ (३५) महानिशीथ (३६) व्यवहार (३७) आचारदशा

या दशाश्रुतस्कन्ध (३८) बृहत् कल्प और (३९) पञ्चकल्प। अन्तिम ग्रन्थ के स्थान पर जिनभद्ररचित जिनकल्प की भी गणना की जाती है।

(ङ) सूत्र—ये संख्या में २ हैं:—

(४०) नन्दी सूत्र (४१) अनुयोगद्वार सूत्र।

(च) *मूलसूत्र*—ये संख्या में चार हैं:—

(४२) उत्तराध्ययन (४३) आवश्यक (४४) दशवैकालिक और (४५) पिण्डनिर्युक्ति। तीसरे और चौथे मूल सूत्रों का नाम ओघनिर्युक्ति और पाक्षिक सूत्र भी लिखा गया मिलता है।

इस सूची के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इतने ग्रन्थों की रचना एक ही काल की नहीं हो सकती। इनका प्राचीनतम भाग वह है जो महावीर के साक्षात् शिष्यों से सम्बद्ध है तथा अर्वाचीनतम भाग देवर्धिगणि के समय की रचना है। इस प्रकार इस समग्र ग्रन्थराशि की रचना ई०-पू० ४०० से लेकर ई०-पश्चात् ४०० तक होती रही।

(क) 'अङ्गों' का वर्णन

(१) प्रथम अङ्ग *आचाराङ्ग सूत्र* है। इसके दो बड़े-बड़े भाग हैं जिन्हें श्रुतस्कन्ध कहते हैं। इस ग्रन्थ में जैन साधुओं के आचार का विस्तृत वर्णन है। पहला भाग दूसरे भाग की अपेक्षा प्राचीनतर प्रतीत होता है। बौद्धसाहित्य के समान यहाँ गद्य-पद्य का मिश्रण पाया जाता है। यतियों के व्रतों के विधिवत् पालन करने पर विशेष आग्रह दिखलाया गया है। ग्रन्थ की शैली भाषण के अनुरूप है जिसके पढ़ने से मालूम होता है कि जैसे कोई वक्ता व्याख्यान दे रहा हो। दूसरा खण्ड अपेक्षाकृत नवीन है इसके अङ्गों (भागों) का नाम है चूड़ा, जो संख्या में तीन हैं। पहले दो में भिक्षावृत्ति तथा भिक्षु और भिक्षुणी की दिनचर्या का वर्णन

है। तीसरी चूड़ा में महावीर के जीवनचरित की सामग्री है जिसका भद्रबाहु ने अपने कल्पसूत्र में उपयोग किया है।

(२) दूसरा अङ्ग *'सूत्रकृताङ्ग'* है। इसमें साधुओं की जीवनचर्या के वर्णन के साथ-साथ जैनेतर मतों का प्रधानतया खण्डन है। इसके भी दो भाग हैं। यह ग्रन्थ विभिन्न छन्दों में निर्मित है। उपदेश को शिक्षा-प्रद बनाने के लिये सुन्दर दृष्टान्त तथा रोचक उपमाओं की अवतारणा की गई है। मनुष्यों को बन्धन में डालनेवाले दो ही प्रधान पाश हैं—कामिनी और काञ्चन। इन फन्दों में न पड़ने के लिये यतियों को विशेष उपदेश दिया गया है। कामिनी के जाल में पड़नेवाले यतियों की दुरवस्था का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है जिसमें हास्य का पुट भी विशेष मात्रा में विद्यमान है। व्रतों के उल्लङ्घन का परिणाम नरक की प्राप्ति है और इस नरक का वर्णन बड़े ही विस्तार के साथ किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से तत्कालीन साधु (यति) समाज का चित्र नेत्रों के सामने खिंच जाता है।

(३) तीसरा अङ्ग है *स्थानाङ्ग*—इसमें बौद्धों के अंगुत्तर निकाय के समान एक से लेकर क्रमशः दश तक की संख्याओं के भीतर धार्मिक विषयों का विवेचन किया गया है। इसमें एक स्थान पर लुप्तप्राय दृष्टि-वाद अङ्ग के विषयों का वर्णन है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व रखता है।

(४) चौथा *समवायाङ्ग* है। इसमें तृतीय अङ्ग में आये हुए विषयों का ही अधिक वर्णन है। अतएव यह तीसरे अङ्ग का पूरक माना जाता है। इस ग्रन्थ के आदि में बारहों अङ्गों का नाम निर्देश है तथा १४ पूर्वों के विषयों का वर्णन है। इस प्रकार यह अङ्ग इन अङ्गों के विस्तार तथा विवरण प्रस्तुत करने के कारण अतीव उपयोगी है। इसके कुछ अङ्गों की रचना पिछले काल में की गई। अठारह संख्या के भीतर निर्दिष्ट

विषयों में ब्राह्मी लिपि के अठारह भेद गिनाये गये हैं।

(५) पाँचवाँ *भगवतीसूत्र* है। महावीर के चरित को जानने के लिये यह ग्रन्थ सबसे अधिक उपयोगी है। महावीर के शिष्य, समसामयिक व्यक्तियों तथा उनके महान् व्यक्तित्व को उन्मीलन करनेवाला यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से अङ्ग-साहित्य में अद्वितीय है। महावीर के दैवी गुणों के साथ-साथ मानवीय गुणों को एक साथ प्रस्तुत कर यह ग्रन्थ उस महान् पुरुष के व्यक्तित्व की मधुर झाँकी हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इसमें उन मनोरम आख्यानों का भी संग्रह है जिसके द्वारा महावीर अपनी शिक्षाओं को जनता के लिये रोचक तथा हृदयस्पर्शी बनाते थे। इन कहानियों में साहित्यिक सौन्दर्य भी विद्यमान है। इस ग्रन्थ के पन्द्रहवें अध्याय में महावीर के समसामयिक व्यक्तियों—पार्श्वनाथ के शिष्यों तथा मङ्खलिपुत्त गोसाल—का प्रामाणिक तथा ऐतिहासिक विवेचन है। आजीवक तथा जैन सम्प्रदाय के प्राचीन इतिहास को जानने के लिये इस अध्याय की उपयोगिता निःसन्देह बहुत अधिक है।

(६) छठें अङ्ग का प्राकृत नाम '*नायाधम्मकहाओ*' है तथा इसका संस्कृत नाम 'ज्ञाताधर्मकथा' है। 'ज्ञात' एक प्रकार की विशिष्ट कथाओं का प्रकार है जिसमें किसी विशिष्ट घटना या किसी विशिष्ट वाक्य के ऊपर पूरे कथानक का घटनाचक्र अवलम्बित रहता है। इस नामकरण के अनुरूप ही इस अङ्ग में जैनधर्म की शिक्षाओं का विशद रूप से वर्णन करनेवाले कथाओं का संग्रह यहाँ प्रस्तुत किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से ये कथायें बड़ी ही सुन्दर तथा रोचक हैं। बौद्धधर्म में जातकों का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है जैनधर्म में वही स्थान इन कथाओं को भी प्राप्त है। कतिपय कथायें तीर्थङ्करों के विषय में भी दी गई हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार जैन तीर्थङ्करों में 'मल्लि' नामक एक तीर्थङ्कर थे।

दिगम्बर लोग तो इन्हें पुरुष मानते हैं परन्तु श्वेताम्बर लोग इन्हें स्त्री मानते हैं। इस प्रसङ्ग में यह ग्रन्थ एक बड़ी ही सुन्दर कथा का उल्लेख करता है जिसमें 'मल्लि' ने उनसे विवाह करने के लिये आनेवाले पुरुषों को किस प्रकार जीवन की असारता व्यावहारिक रूप से दिखलाई है। यह ग्रन्थ भारतीय कथासाहित्य के इतिहास में प्रमुख स्थान रखता है।

(७) सातवें अङ्ग का नाम *उपासगदसाओ* (उपासकदशा) है। इस ग्रन्थ में उपासक लोगों के कर्तव्य का विस्तृत वर्णन किया गया है। उपासकों को किस प्रकार से रहना चाहिए, किन-किन कर्तव्य-कर्मों को करना चाहिए—इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन इस ग्रन्थ में प्राप्त है। इस ग्रन्थ में 'सद्दालपुत्त' नामक सातवीं कथा है जो अनेक दृष्टियों से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। सद्दालपुत्त एक धनी कुम्भकार था जो मङ्खलिपुत्त गोसाल का अनुयायी था तथा नियतिवाद में विश्वास करता था। परन्तु महावीर ने उसे अपने उपदेशों के द्वारा प्रभावित कर अपना शिष्य बना लिया तथा उसे नियतिवाद से हटाकर कर्मवाद के सिद्धान्तों में दीक्षित किया। इस प्रकार यह अध्याय आजीवक सम्प्रदाय के इतिहास जानने के लिये नितान्त उपयोगी है।

(८–९) आठवाँ तथा नवाँ अङ्ग एक ही प्रकार के हैं तथा साहित्यिक दृष्टि से उनका महत्त्व अधिक नहीं है। आठवें अङ्ग का नाम है *अन्तकृतदशा* अर्थात् जिन्होंने संसार का अन्त कर डाला है उन साधुओं के विषय में दश अध्याय। नाम से मालूम पड़ता है कि इस ग्रन्थ में दस परिच्छेद होंगे परन्तु आजकल इसमें आठ ही अध्याय उपलब्ध हैं। नवें अङ्ग का नाम है '*अनुत्तरौपपातिकदशा*' अर्थात् सबसे ऊँचे स्वर्ग को प्राप्त करनेवाले यतियों के विषय में दश अध्याय। आजकल इसमें तीन ही अध्याय हैं। यह बहुत कुछ सूत्र रूप में है जिसकी पूर्ति उपदेशक अपनी ओर से

करता था। धार्मिक दृष्टि से यह अङ्ग इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि इसमें भगवान् श्रीकृष्ण का चरित जैन दृष्टि से वर्णित है। ब्राह्मण ग्रन्थों से अनेक भेद हैं यहाँ कृष्णचन्द्र जैनधर्म के अनुयायी माने गये हैं।

(१०) दशम अङ्ग का नाम है *प्रश्नव्याकरण*। इसमें जैन धर्म के उपदेशों के विषय में प्रश्न हैं और उनका तदुपरान्त समाधान है। इसमें जैन धर्म के सिद्धान्तों का ही केवल उपन्यास है।

(११) एकादश अङ्ग का नाम है *विपाकसूत्र*। विपाक का अर्थ है कर्मों का परिपक्व होना। अतः शुभ या अशुभ कर्मों का फल इस अङ्ग में वर्णित है। गौतम इन्द्रभूति ने संसार के प्राणियों को क्लेशसमुद्र में डूबते हुए देख कर महावीर से उनके विषय में प्रश्न किया है और उन्होंने उन प्राणियों के पूर्वजन्म की कथा कह कर कर्मानुरूप फलप्राप्ति की बात समझाई है।

(१२) द्वादश अङ्ग का नाम है *दृष्टिवाद*। यह अङ्ग तो पूर्णतया लुप्त ही है परन्तु अनेक ग्रन्थों में इसके विषय का उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि जैन मार्ग के विभिन्न सम्प्रदायों का इसमें वर्णन था। साथ ही साथ तीर्थङ्करों के विषय में भी आवश्यक कथाओं का वर्णन था।

(ख) उपाङ्ग

(१) प्रत्येक अङ्ग के साथ एक उपाङ्ग सम्बद्ध है। उपाङ्गों की संख्या १२ है जो इस बात की सूचना दे रही है कि अङ्गों की संख्या भी किसी काल में बारह ही थी। प्रथम उपाङ्ग का नाम है *औपपातिक*। इसके प्रथम भाग में महावीर के पुण्यभद्र मन्दिर की यात्रा करने तथा उनके उपदेश सुनने के लिये राजा बिम्बसार के पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) के यहाँ जाने की घटना का वर्णन है। महावीर ने जो उपदेश दिया वह कर्मों के विषय में है। दूसरे खण्ड में गौतम इन्द्रभूति को महावीर के

पास जाने तथा पुनर्जन्म के विषय में प्रश्न करने का उल्लेख है। महावीर ने इसके उत्तर में शोभन कर्म करनेवाले पुरुषों की फल-प्राप्ति का वर्णन करते हुए स्वर्गलोक का जो वर्णन किया है वह तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

(२) दूसरे उपाङ्ग का नाम है *राजप्रश्न*। इसमें राजा पयेसी और जैन साधु केशी के बीच आत्मा के अस्तित्व के विषय में बड़ा ही रोचक संवाद मिलता है। राजा आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता, परन्तु केशी ने युक्तियों के बल पर देह तथा इन्द्रिय आदि से आत्मा की पृथक् सत्ता सिद्ध कर दी तथा उसे जैनधर्म में दीक्षित किया। यह संवाद धार्मिक दृष्टि से जितना उपादेय है, साहित्यिक दृष्टि से उतना ही रोचक है।

(३–४) तीसरे और चौथे उपाङ्गों का नाम क्रमशः *जीवाधिगम* तथा *प्रज्ञापना* है। पहले ग्रन्थ में जगत् के प्राणियों का ही विस्तृत वर्णन नहीं हैं प्रत्युत समुद्र, द्वीप, देवलोक आदि का भी वर्णन विशेष रूप से किया गया है। दूसरे ग्रन्थ में मनुष्यों के भीतर नाना प्रकार के भेदों का—आर्य, अनार्य, म्लेच्छ आदि—विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(५) पाँचवें उपाङ्ग का नाम है *जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति*। 'प्रज्ञप्ति' का अर्थ है वर्णन। इस ग्रन्थ में जम्बूद्वीप के भूगोल का वर्णन हैं। इस द्वीप में प्रधान होने के कारण भारतवर्ष का तथा राजा भरत का वर्णन ही मुख्यतया किया गया है।

(६–७) इन उपाङ्गों के नाम हैं *चन्द्रप्रज्ञप्ति* और *सूर्यप्रज्ञप्ति*। पहले ग्रन्थ में चन्द्र को तथा दूसरे में सूर्य को मुख्य केन्द्र मानकर इस ब्रह्माण्ड का ज्योतिष की दृष्टि से बड़ा उपादेय तथा विस्तृत वर्णन है। इन ग्रन्थों का अनुशीलन जैन-ज्योतिष के सिद्धान्तों की जानकारी के लिये नितान्त उपयोगी है।

(८) आठवें उपाङ्ग का नाम है *निरयावली*। इसमें नरक का वर्णन है। चम्पानरेश के जो भाई लड़ाई में मारे गये थे उन्होंने जिन नरकों में स्थान प्राप्त किया उन्हीं का वर्णन इसमें है।

(९) नवाँ उपाङ्ग *कल्पावतंस* है। इसमें पूर्व उपाङ्ग में वर्णित चम्पानरेश के दस पुत्रों का वर्णन है जिन्होंने जैनधर्म को स्वीकार किया और तदनुसार स्वर्गलोक प्राप्त किया।

(१०) दसवाँ उपाङ्ग '*पुष्पक*' में दस देव और देवियों का वर्णन है जो अपने पुष्पक विमान में चढ़कर महावीर के पास श्रद्धा दिखलाने के लिये आये। इन्हीं के पूर्वजन्म की कथा इस उपाङ्ग में दी गई है।

(११) एकादश उपाङ्ग '*पुष्पचूलिक*' में भी इसी प्रकार की दस कथायें उल्लिखित हैं।

(१२) द्वादश उपाङ्ग '*वृष्णिदशा*' में जैनसाधु अरिष्टनेमि के द्वारा वृष्णिवंश (यादव) के राजकुमारों का जैनधर्म में दीक्षित किये जाने का वर्णन है। पहली कथा कृष्णचन्द्र के भतीजे तथा बलराम के पुत्र 'निषध' के जैनधर्म में दीक्षित होने के विषय में है। इस प्रकार कृष्ण की कथा से सम्बद्ध होने से यह उपाङ्ग तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अन्तिम पाँच उपाङ्ग (८–११) एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न अध्याय हैं।

(ग) प्रकीर्णक

इस विभाग में छोटे-मोटे दस ग्रन्थों का समावेश किया जाता है। ये अधिकतर छन्दोबद्ध हैं तथा जैनधर्म से सम्बन्ध रखनेवाले विभिन्न विषयों के वर्णन में है जिनमें दो का निर्देश यहाँ किया जाता है:—

चतुःशरण—जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक साधक को अर्हत, सिद्ध, साधु तथा धर्म इन चार वस्तुओं की शरण लेनी चाहिए। ६३ पद्यों में इन्हीं चार प्रकार के शरण का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है।

प्रकीर्णक के अन्य ग्रन्थों में संसार के प्रपञ्चों से अपने से मुक्त करने के लिये जैनसाधु के लिये मृत्युविधान की प्रक्रिया का वर्णन है। *तण्डुल-वैतालिक* में शरीर-रचना का विशेष वर्णन है। भ्रूणका जीवन, मनुष्य की दश अवस्थायें, शरीर की हड्डियों की संख्या आदि विषयों का उपयुक्त वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है।

(घ) छेदसूत्र

(घ) छेदसूत्र—छेद शब्द का अर्थ है काटना। जैनधर्म के अनुसार छेद एक प्रकार का प्रायश्चित्त होता है। बहुत सम्भव है कि इसी कारण इस विभाग का यह नामकरण हो। इन छेदसूत्रों में बौद्ध साहित्य के विनयपिटक की सी सामग्री उपलब्ध होती है। भिक्षु तथा भिक्षुणियों के जीवन, व्रत तथा प्रायश्चित्त का विधान, यतियों के समस्त नियमों का आवश्यक विधान इन छेदसूत्रों में उपलब्ध हो रहा है। इन सूत्रों में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है पञ्चम छेदसूत्र जिसका दूसरा नाम बृहत्कल्प-सूत्र है। भिक्षु और भिक्षुणियों के नियम, दिनचर्या, व्रत, उपवास, प्रायश्चित्त आदि समग्र विषय का विवेचन कल्पसूत्र का प्रधान विषय है। इस विभाग के अन्य ग्रन्थ इसके पूरकमात्र हैं।

(ङ) सूत्र

(ङ) सूत्र—जैन आगम के इस पञ्चम खण्ड में दो सूत्र-ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है—(१) नन्दीसूत्र; (२) अनुयोगद्वारसूत्र। ये दोनों गद्यात्मक हैं। बीच-बीच में विभिन्न छन्दोबद्ध रचना है। नन्दीसूत्र की रचना देवर्द्धि गणि के ही द्वारा की गई थी, ऐसा सम्प्रदाय है। ये देवर्द्धि वे ही हैं जिन्होंने जैनआगम का अन्तिम संशोधन किया था। इस ग्रन्थ में २४ तीर्थङ्करों तथा ११ गणधरों तथा एक थेरावली (अध्यापकों की सूची) दी गई है। 'अनुयोगद्वार' की रचना प्रश्नोत्तर रूप में है। ये दोनों

जैनधर्म के लिये विश्वकोष के समान हैं। इसमें जैनेतर सिद्धान्तों (मिथ्याश्रुत) तथा लौकिक विद्याओं का भी मनोरञ्जक विवरण प्रस्तुत किया गया है। रामायण, महाभारत, सांख्य, वैशेषिक, लोकायत, भागवत, पुराण, गणित, नाटक, वेदाङ्ग सहित चारों वेद आदि विषयों के वर्णन होने से अनुयोगद्वार ऐतिहासिक दृष्टि से निःसन्दिग्ध महत्त्वपूर्ण है ।

(च) मूलसूत्र

(च) *मूलसूत्र*—इन सूत्रों को मूल क्यों कहते हैं ? इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता । कुछ लोगों का अनुमान है कि महावीर के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण यह नामकरण है तो कुछ लोग साधना के आरम्भ (मूल) में उपयोगी होने के कारण इन्हें मूलसूत्र कहते हैं । मूलसूत्रों में प्रथम सूत्र ग्रन्थ *उत्तराध्ययन सूत्र* है जो जैनधर्म तथा दर्शन की दृष्टि से जैनआगम का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ह । इसमें प्राचीन काल की बहुत कुछ धार्मिक कविता, पद्य-बद्ध आख्यान, वार्तालाप आदि नितान्त रोचक तथा उपादेय विषयों का सङ्कलन है । प्राचीन समय की अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ इसके महत्त्व को और भी बढ़ा रही हैं । इस ग्रन्थ में ३६ अध्याय हैं । २३वें अध्याय में पार्श्वनाथ तथा महावीर के शिष्यों के बीच अपने सम्प्रदाय के मूल सिद्धान्तों का बड़ा ही उपादेय वर्णन है । २२वें अध्याय में कृष्णचन्द्र की जीवनी से सम्बन्ध रखनेवाली एक बड़ी सुन्दर कथा दी गई है ।

दूसरे मूलसूत्र का नाम *आवश्यक सूत्र* है । इसमें छः अध्याय हैं और पूरे ग्रन्थ में जैनियों के लिये आवश्यक छः बातों का वर्णन है । तीसरा मूलसूत्र दश वैकालिक है । इसमें यति-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बड़ी ही सुन्दर सूक्तियाँ हैं जिन्हें पढ़कर धम्मपद की गाथायें याद आती हैं । इसकी टीका में प्राचीन समय की बहुत ही सुन्दर-सुन्दर आख्यायिकायें

दी गई हैं। चतुर्थ तथा अन्तिम मूलसूत्र का नाम 'पिण्डनिर्युक्ति' है। भद्रबाहु इसके लेखक बतलाये जाते हैं। इसमें व्रत, उपवास आदि का विधान है।

श्वेताम्बरी जैन आगम के विभिन्न ग्रन्थों का यही संक्षिप्त वर्णन है।

आगमों की टीकायें

इन आगम ग्रन्थों की टीकायें प्राकृत और संस्कृत में लिखी गई हैं। प्राकृत टीकायें निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी के नाम से अभिहित की जाती हैं। निर्युक्ति और भाष्य पद्यमय हैं और चूर्णी गद्यमय है। उपलब्ध निर्युक्तियाँ भद्रबाहु द्वितीय की रचना हैं जिनका समय विक्रम की पाँचवीं या छठीं शताब्दी है। भाष्यकारों में प्रसिद्ध सङ्घदासगणि और जिनभद्र हैं जिनका समय सातवीं शताब्दी है। जिनभद्र ने अपने भाष्यों में दर्शन के विषयों की बड़ी ही तात्विक चर्चा की है। चूर्णियों की रचना सातवीं तथा आठवीं शताब्दी की है। चूणिकारों में जिनदास महत्तर प्रसिद्ध हैं। चूर्णियों में भाष्य के ही विषय संक्षेप में गद्य में लिखे गये हैं। जैन आगमों पर संस्कृत टीकायें भी अनेक उपलब्ध हुई हैं जिनमें आचार्य हरिभद्र (८०० विक्रमी) की संस्कृत टीका सबसे प्राचीन है। हरिभद्र के अनन्तर आगमों के संस्कृत टीकाकारों में ये मुख्य हैं—(१) शीलाङ्कसूरि (दसवीं शताब्दी), (२) शाक्याचार्य, (३) अभयदेव (१०७२ वि०—११३५ वि०)। इन्होंने नव अङ्गों पर संस्कृत में व्याख्या लिखी है। (४) मलयगिरि (बारहवीं शताब्दी) इन्होंने आगमों के ऊपर दार्शनिक प्रमेयों से युक्त संस्कृत व्याख्या लिखी है।

दिगम्बर आगम

आजकल जो ग्रन्थ जैन आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं वे श्वेताम्बर मतानुयायी हैं। उनकी प्रामाणिकता के विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय

तनिक भी आस्था नहीं रखता। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन पाटलीपुत्र-सङ्घ के अध्यक्ष भद्रबाहु ही अन्तिम श्रुतकेवली थे जिन्हें समस्त आगमों का यथार्थ ज्ञान था। उनके अनन्तर 'पूर्व' और 'अङ्गों' का ज्ञान धीरे-धीरे विलुप्त हो गया। ऐसी विषम स्थिति उपस्थित हो गई कि जनता में जैन-सिद्धान्तों के प्रचार की बात तो दूर रही, प्राचीन मान्य ग्रन्थों का विशेषज्ञ ढूँढ़ने पर भी मिलना कठिन हो गया।

आचार्य धरसेन के हम अत्यन्त कृतज्ञ रहेंगे, जिन्होंने 'पूर्व' ग्रन्थों के अवशिष्ट भागों को एकत्र कर एक नवीन ग्रन्थ की धारा प्रवर्तित की, जो मध्ययुग में टीका और भाष्यों से संवलित होकर वृद्धिङ्गत होती गई। इन्हीं ग्रन्थों का वर्णन यहाँ क्रम से किया जाता है।

(१) षट्खण्डागम

षट्खण्डागम—आचार्य धरसेन का निवास गिरनार पर्वत पर था। इनका स्थितिकाल वीरनिर्वाण संवत् ६८३ है। इनके दो प्रधान शिष्य हुए, जिनका नाम पुष्पदन्त और भूतवलि था। पूर्वों के अन्तर्गत "महाकर्मप्रकृति" नामक एक पाहुड (प्राभृत) था जिसमें कृति, वेदना आदि २४ अधिकार अथवा खण्ड थे। पुष्पदन्त और भूतबलि ने आचार्य धरसेन के निकट इस पाहुड का अनुशीलन किया तथा आरम्भ के छः अधिकारों या खण्डों पर सूत्ररूप में रचना की। छः खण्डों में विभक्त होने के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम "षट्खण्डागम" है। इन छःहों खण्डों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) जीवस्थान (२) क्षुद्रकबन्ध (३) बन्धस्वामित्व (४) वेदना (५) वर्गणा और (६) महाबन्ध। इस आगम की रचना का काल विक्रम की द्वितीय शताब्दी है। ये आगम-ग्रन्थ कर्म तथा जीव सिद्धान्त के विषय में मार्मिक विवेचना करते हैं। इनके ऊपर अनेक टीकायें इनके सारगर्भित अर्थ को प्रकट

करने के लिये प्राचीनकाल में ही लिखी गई थीं। परन्तु सबसे विस्तृत, प्रामाणिक तथा उपयोगी टीका जो उपलब्ध हुई है उसका नाम है—*धवला टीका*। विस्तार तथा प्रामाण्य के कारण यह ग्रन्थ नहीं, विराट् ग्रन्थराज कहा जा सकता है। इसके रचयिता हैं आचार्य वीरसेन स्वामी, जो अपने समय के जैन-आगम के बहुत बड़े विशेषज्ञ थे। उन्होंने अपने को सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्रों में निपुण कहा है। जिनसेन ने उन्हें वादिमुख्य, लोकवित्, वाग्मी और कवि के अतिरिक्त श्रुतकेवली-तुल्य भी बतलाया है। सिद्धान्त-समुद्र के जल में धोई हुई अपनी शुद्ध बुद्धि से वे 'प्रत्येक बुद्धों' से स्पर्धा करते थे। गुणभद्र ने उन्हें समस्त वादियों को त्रस्त करनेवाला और उनके शरीर को ज्ञान और चारित्र्य की सामग्री से बना हुआ कहा है। जिनसेन द्वितीय ने उन्हें कवि-चक्रवर्ती कहा है। इन्होंने तीन ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें दो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं। इनमें प्रथम यही धवला टीका है तथा दूसरी जयधवला है।

धवला टीका—इस ग्रन्थ में मूल आगमों के आरम्भिक पाँच खण्डों की ही विस्तृत तथा विशालकाय व्याख्या है। इस ग्रन्थ की समाप्ति शक सं० ७३८ (८१६ ई०) में हुई थी। उस समय कर्णाटक के राष्ट्रकूटवंशी नरेश जगत्तुङ्ग देव (गोविन्द तृतीय) ने राज्य-सिंहासन छोड़ दिया था और उनके पुत्र अमोघवर्ष राज्य सिंहासन पर विराजमान थे[1]। इस प्रकार धवला की रचना नवम शताब्दी के आरम्भकाल में हुई।

१ अठती सम्हि सतसए विक्कमरायं किए सु-सगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणु विलग्गे धवलपक्खे॥

इस धवला टीका का सम्पादन अमरावती से डा० हीरालाल जैन ने बड़े परिश्रम से किया है। इसके चार खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं।

टीका के 'धवला' कहे जाने का कारण यह जान पड़ता है कि जिस राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष के समय में यह पुस्तक लिखी गई थी उनकी उपाधि 'अतिशय धवल' थी। सम्भवतः इसी उपाधि के कारण इस टीका का नाम भी धवला पड़ा है। धवल का अर्थ है विशुद्ध। अत: अतिशय विशुद्ध होने तथा मूलग्रन्थ के विशुद्ध व्याख्यान के कारण इस टीका का ऐसा नामकरण होना उचित ही है।

महाधवला—षट्खण्डागम के अन्तिम खण्ड का नाम है—महाबन्ध। इसकी रचना भूतवलि स्वामी ने की थी। वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि स्वयं मूललेखक भूतवलि ने महाबन्ध को इतने विस्तार के साथ लिखा है कि इसके ऊपर टीका लिखने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। सामान्यतया यह समझा जाता है कि धवला तथा जयधवला के समान महाधवल भी एक टीका ग्रन्थ ही है। परन्तु इन ग्रन्थों के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट है कि महाधवल-शास्त्र टीका-ग्रन्थ न होकर मूलग्रन्थ है। 'षट्खण्डागम' का अन्तिम खण्ड 'महाबन्ध' ही पण्डित-समाज में महाधवल के नाम से प्रसिद्ध है। षट्खण्डागम के आरम्भ के १७७ सूत्रों की रचना तो पुष्पदन्ताचार्य ने की। इसके अनन्तर का समग्र आगम-शास्त्र आचार्य भूतवलि स्वामी की रचना है। यह समग्र महाबन्ध इन्हीं आचार्यवर्य की चमत्कारजनक कृति हैं। ये अपने समय के बड़े ही महनीय मन्त्रशास्त्र में निपुण जैनाचार्य थे। इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य की तथा दार्शनिक ज्ञान की जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है। महाबन्ध का विस्तार ४०,००० श्लोक परिमाण है। इसकी भाषा विशुद्ध प्राकृत है और इसमें धवला तथा जयधवला के समान संस्कृत तथा प्राकृत भाषा का मिश्रण नहीं है।

'महाबन्ध' का विषय जैन मतानुसार कर्म का सूक्ष्म विवेचन है।

कषाय के सम्बन्ध से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों का जो ग्रहण करता है उसे ही 'बन्ध' कहते हैं। बन्ध के चार प्रकार हैं—(१) प्रकृति (२) स्थिति (३) अनुभाग तथा (४) प्रदेश। अवान्तरविभेद से युक्त इन चारों प्रकारों का विवेचन इस ग्रन्थरत्न में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। बन्ध के साङ्गोपाङ्ग विवेचन होने के कारण इस ग्रन्थ का 'महाबन्ध' नाम यथार्थ है। पिछले दिगम्बरी जैन-दार्शनिकों ने कर्म का विवेचन इसी ग्रन्थ के आधार पर किया है। इस प्रकार विवेचन की सर्वाङ्गीणता, प्रतिपादनशैली की विशदता, दार्शनिक तत्त्वों की गम्भीरता, प्रभाव की व्यापकता—इन सब दृष्टियों से समीक्षा करने पर यह ग्रन्थ सामान्य ग्रन्थ न होकर एक महान् तथा विराट् ग्रन्थ है।

(२) कसायपाहुड

कसायपाहुड—दिगम्बर सम्प्रदाय का यह भी एक मान्य ग्रन्थ है। इसके रचयिता आचार्य गुणधर पूर्वोक्त आचार्य भूतबलि के समकालीन थे। इस प्रकार इस ग्रन्थ का भी रचनाकाल विक्रम का द्वितीय शतक है। कसाय का अभिप्राय कषाय से है जिसका अर्थ राग-द्वेष है। मोहनीय कर्म के ये ही दो प्रधान प्रकार हैं तथा इन्हीं का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ का प्रधान लक्ष्य है। यह ग्रन्थ १५ अधिकारों में विभक्त है जिनमें कर्मसिद्धान्त से सम्बद्ध नाना प्रकार की जैनधारणायें बड़े विस्तार से साथ निरूपित की गई हैं।

चूर्णिग्रन्थ—आचार्य 'यतिवृषभ' ने इस कसायपाहुड नामक ग्रन्थ पर प्राकृत में ही विशाल भाष्य लिखा है जो चूर्णिसूत्र कहलाता है। मूलग्रन्थ में तो केवल २३३ ही गाथायें हैं परन्तु इस चूर्णि ग्रन्थ का परिमाण ६००० छः हजार श्लोक है। गुणधर की शिष्यपरम्परा में आर्य मंक्षु तथा नागहस्ति दो प्रधान आचार्य हुए, जिन्होंने कसायपाहुड का

अनुशीलन बड़े ही अध्यवसाय के साथ किया था । इन्हीं से इस ग्रन्थ का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर आचार्य यतिवृषभ ने मूल अर्थ को विशद रूप से प्रतिपादन करने के निमित्त इन चूर्णि सूत्रों की रचना की है। ये अपने समय के महान् दार्शनिक थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इनका समय वीरनिर्वाण सम्वत् १००० के आसपास है। इस प्रकार इस चूर्णि-ग्रन्थ की रचना विक्रम के पञ्चम या षष्ठ शतक में हुई।

जयधवला—मूल ग्रन्थ कसायपाहुड और चूर्णि सूत्र के ऊपर यह विशालकाय व्याख्या ग्रन्थ है। परिमाण में यह चूर्णि ग्रन्थ से दसगुणा बड़ा है तथा परिमाण में ६०,००० श्लोक हैं। इसके लेखक *आचार्य 'वीरसेन'* हैं जिन्होंने षट्खण्डागम की धवला नामक पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखी है; परन्तु इस ग्रन्थ का केवल तृतीयांश भाग लिखकर ही ये निर्वाण प्राप्त हो गये। तदनन्तर इनके शिष्य *आचार्य 'जिनसेन'* ने ग्रन्थ के शेष भाग को पूरा किया। इस ग्रन्थ की रचना राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष के समय में की गई थी। जयधवला की समाप्ति शक सम्वत् ७५९ (८३७ ई०) में हुई[1]। धवला की समाप्ति शक सम्वत् ७३८ में हो चुकी थी। इस प्रकार जयधवला धवला से २१ वर्ष छोटी है। इस टीका की रचना *मणिप्रवाल* शैली पर भी की गई है। इस ग्रन्थ में प्राकृत और संस्कृत का मिश्रण है। धवला की अपेक्षा यह टीका प्राकृत-बहुल है, इसमें प्रायः दार्शनिक चर्चाओं तथा व्युत्पत्ति आदि में ही संस्कृत भाषा का उपयोग किया गया है। जैन-सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये

---

१ अमोघवर्ष-राजेन्द्र-राज्य-प्राज्यगुणोदया ।
निष्ठिता प्रचयं यायात आकल्पमनल्पिका ॥
एकोनषष्टिसमधिक सप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य ।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृत व्याख्या ॥—जयधवला की प्रशस्ति।

प्राकृत का ही अवलम्बन किया गया है। यह टीका इतनी प्रौढ़ तथा प्रमेयबहुला है कि लेखकों का असाधारण पाण्डित्य तथा अगाध विद्वत्ता किसी भी आलोचक को विस्मय में डाल देती है।

इस प्रकार दिगम्बर जैन-आगम की दो धारायें स्फुटतया लक्षित होती हैं। पहली धारा षट्खण्डागम में लक्षित होती है और दूसरी कसायपाहुड में। मूलग्रन्थों में सिद्धान्त की विभिन्नता होने के कारण एक ही लेखक के द्वारा विरचित होने पर भी धवला और जयधवला में स्थान-स्थान पर पार्थक्य है। इन्हीं आगम ग्रन्थों का आश्रय लेकर कालान्तर में विद्वानों ने नवीन ग्रन्थों की रचना की। इन्हीं तीनों आगम ग्रन्थों का सारांश आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अपने विख्यात ग्रन्थ "गोमट्टसार" तथा "लब्धिसार क्षपणासार" में प्रस्तुत किया है। ये संग्रह-ग्रन्थ प्राकृत गाथा निबद्ध हैं जिनमें जीव, कर्म तथा कर्मों के क्षपण अथवा नाश का सुन्दर किन्तु गूढ़ वर्णन है। इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अबतक मूडविद्री के जैन-भण्डार में हस्तलिखित रूप में पड़े थे। यह जैन-भण्डार कर्णाटक देश में है। वहाँ के अधिकारियों की कृपा से अब ये प्रकाश में आ रहे हैं। धवला का प्रकाशन अमरावती से हो रहा है, जयधवला का मथुरा से तथा महाबन्ध का काशी भारतीय ज्ञानपीठ से। इन ग्रन्थरत्नों का प्रकाशन जैन आगमों के अध्ययन के लिये नवयुग का सूचक है।

जैन-पुराण

जिन ग्रन्थों में प्राचीन महापुरुषों के पुण्यचरित वर्णन किये जाते हैं उन्हें 'पुराण' कहते हैं। जैन-धर्म में ६३ विशेष प्रभावशाली माननीय व्यक्ति प्राचीनकाल में हो गये हैं इन्हें "शलाकापुरुष" कहते हैं। इन शलाका पुरुषों में २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव,

९ प्रतिवासुदेव हैं। इन्हीं महापुरुषों के जीवनचरित का वर्णन करना इन पुराणों का लक्ष्य है। दिगम्बर लोग इन ग्रन्थों को 'पुराण' के नाम से अभिहित करते हैं और श्वेताम्बर लोग इन्हें 'चरित्र' कहते हैं। रामायण, महाभारत तथा भागवत के सुप्रसिद्ध आख्यानों को भी जैन लोगों ने अपनाकर राम, कृष्ण और पाण्डवों को जैनधर्म का अनुयायी दिखलाया है। ब्राह्मण-कथाओं से इन जैन-आख्यानों की तुलना करने पर अनेक महत्त्वपूर्ण बातें जानी जा सकती है जो धार्मिक साहित्य के इतिहास के लिये अमूल्य है।

रामचरित—रामचरित का सबसे प्राचीन प्रतिपादक काव्य ग्रन्थ (१) पउमचरिय (पद्मचरित) है जो विशुद्ध जैन महाराष्ट्री प्राकृत में तथा आर्या छन्दों में निबद्ध किया गया है। जैन ग्रन्थों में पद्म से अभिप्राय रामचन्द्र से है। इसके रचयिता विमलसूरि हैं जिन्होंने वीरनिर्वाण सं० ५३० (६० वि०) में इस ग्रन्थ का निर्माण किया। परिमाण तथा सौन्दर्य दोनों दृष्टियों से यह ग्रन्थ अनुपम है। इसमें ११८ सर्ग (उद्देश) हैं। इसकी कविता बड़ी ही सुन्दर, स्वाभाविक तथा सरस है। इसी ग्रन्थ को आदर्श मानकर पिछली शताब्दियों के जैनकवियों ने रामचरित का वर्णन किया है।

(२) *पद्मचरित*—यह प्राकृत पउमचरिय का ही संस्कृत रूप है। इसके कवि हैं रविषेण, जिन्होंने ६३४ वि० में इस काव्य-रत्न की रचना की। कविता की दृष्टि से यह भी श्लाघनीय रचना है। अनुष्टुप् छन्दों का विशेषतः प्रयोग है। ये पद्य सरल होते हुए भी स्वाभाविकता तथा सरसता से सम्पन्न हैं। जैनकाव्य होनेके कारण हिंसा करनेके दुःपरिणाम का विस्तृत वर्णन अनेक अध्यायों में किया गया है।

(३) उत्तरपुराण के ६८ पर्व में तथा हेमचन्द्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ

"त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित" के ७वें पर्व में रामचरित का प्रशस्त वर्णन किया गया है।

महाभारतकथा—(१) महाभारत की कथा को भी जैनी लोगों ने अपनाया है। इस विषय का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है 'हरिवंश पुराण', जिसका पूरा नाम है बृहद् हरिवंशपुराण या अरिष्टनेमि पुराण संग्रह हरिवंश। इसके रचयिता हैं कवि जिनसेन, जिन्होंने ७०५ शक (७८३ ई०) में इसकी रचना की। इसमें कृष्ण और बलराम का कथानक जैन दृष्टि से निबद्ध किया गया है। कृष्ण से ही सम्बद्ध २२वें तीर्थंङ्कर अरिष्टनेमि या नेमि का जीवनचरित निबद्ध किया गया है। ये कृष्ण के चचेरे भाई माने गये हैं। कौरव, पाण्डव, कृष्ण आदि समस्त महापुरुष जैनधर्म स्वीकार निर्वाण प्राप्त करते हैं। इसमें सर्गों की संख्या ६६ हैं।

(२) सकलकीर्ति और उनके शिष्य जिनदास ने १५वीं शताब्दी में एक दूसरे हरिवंश की रचना की। यह काव्यग्रन्थ केवल ४९ अध्यायों में है और पहले से छोटा है।

(३) मलधारी देवप्रभसूरि ने १२०० ई० के लगभग 'पाण्डवचरित' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें १८ सर्ग हैं जिनमें महाभारत के १८ पर्वों की कथा संक्षेप रूप में दी गई है। जैनधर्म से सम्मत अनेक विषयों का भी स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है।

राम और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य महापुरुषों (शलाकापुरुष) के चरित निम्नलिखित ग्रन्थों में निबद्ध किये गये हैं:—

(१) *महापुराण*—इसका पूरा नाम है त्रिषष्टिलक्षण महापुराण। इसके रचयिता आचार्य जिनसेन तथा उनके शिष्य गुणभद्र हैं। ग्रन्थ की रचना का काल नवम शतक का आरम्भ है। इन्होंने ६३ शलाका पुरुषों के जीवनचरित लिखने की इच्छा से इस महापुराण का आरम्भ किया

परन्तु बीच ही में शरीरान्त हो जाने के कारण इसकी पूर्ति उनके शिष्य गुणभद्र ने की। महापुराण के दो भाग हैं—(अ) पहला *आदिपुराण* (ब) दूसरा *उत्तरपुराण*। आदिपुराण में प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ या ऋषभदेव का चरित है। उत्तरपुराण में अन्य ६२ शलाका पुरुषों के चरित हैं। आदिपुराण में १२,००० श्लोक तथा ४७ पर्व या अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में जगत् की सृष्टि तथा जैनधर्म के उपदेशों का व्यापक संग्रह किया गया है। महापुराण के रचयिताओं का यह आग्रह दीख पड़ता है कि जैनधर्म सबसे प्राचीन है तथा हिन्दूधर्म उसी का विकृत रूप है। जिनसेन राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष (८१५–८७७ ई०) के प्रियपात्र थे। अतः इस ग्रन्थ का रचनाकाल नवम शताब्दी का प्रथमार्ध है। ये जिनसेन हरिवंशपुराण के रचयिता ज़िनसेन से सर्वथा भिन्न हैं।

(२) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—इसके रचयिता प्रसिद्ध हेमचन्द्राचार्य हैं। यह बड़ा ग्रन्थ है। इसमें दस पर्व या सर्ग हैं। श्वेताम्बर जैनियों में यह ग्रन्थ बहुत ही लोकप्रिय हैं। इसका एक परिशिष्ट ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है जिसका नाम है परिशिष्ट पर्व या स्थविरावलीचरित। इस ग्रन्थ में महावीर के शिष्यों का चरित निबन्ध किया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार जैनधर्म का इतिहास जानने के लिये यह ग्रन्थ बड़ा ही उपादेय है। इसमें प्राचीन कहानियों का भी विशाल संग्रह किया गया है।

पिछले युग के जैन कवियों ने कतिपय तीर्थङ्करों के चरित को लेकर मनोरम काव्यों की भी रचना की है[१]।

---

१ जैनधर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया गया है। जिज्ञासु पाठक वहीं अवलोकन करें। द्रष्टव्य लेखक रचित 'भारतीय दर्शन' पृष्ठ १४३–१७४ (शारदा-मन्दिर, काशी)।

द्वादश परिच्छेद

आर्यसंस्कृति का प्राण

संसार की संस्कृतियों में भारतवर्ष की संस्कृति अपनी विशिष्टता तथा महत्ता के लिये सबसे अधिक विख्यात है। जहाँ ग्रीस, रोम, मिश्र, बाबुल आदि देशों की संस्कृति विकराल काल के विशाल गाल में सर्वदा के लिये विलीन हो गईं, वहाँ हमारी वैदिक संस्कृति अपनी विजय-वैजयन्ती फहराती हुई, विश्व के मानवों पर अपनी प्रभुता जमाती हुई अपनी जीवन्त सत्ता के लिये सबको चुनौती देती हुई मैदान में डटी खड़ी है। आग में तपाये गये सोने की कान्ति के समान विपत्तियों की ज्वाला के बीच से हमारी संस्कृति खरी तथा चमकती हुई निकली है; इसका उज्ज्वल प्रमाण भारतवर्ष का दीर्घकालीन इतिहास डंके की चोट दे रहा है। इस संस्कृति के स्वरूप, महत्त्व तथा भविष्य को भलीभाँति समझना प्रत्येक भारतवासी का पवित्र कर्तव्य होना चाहिए।

'कल्चर'

आँग्लभाषा के 'कलचर' शब्द के लिये हम लोग हिन्दी में 'संस्कृति' शब्द का व्यवहार करने लगे हैं। दोनों के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के भिन्न होने पर भी दोनों के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ समकक्ष ही है। कलचर शब्द लैटिन भाषा के कुलतुरा (Cultura) शब्द से निकला है जिसका अर्थ पौधा लगाना या पशुओं का पालन करना है। इस मुख्य अर्थ के अनन्तर

इसका लाक्षणिक अर्थ होता है—मस्तिष्क तथा उसकी शक्तियों को विकसित करना—शिक्षा तथा शिक्षण के द्वारा मानसिक वृत्तियों को सुधारना। 'संस्कृति' शब्द का भी अर्थ है मन को, हृदय को तथा उनकी वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना। संस्कृति के जितने अङ्ग हैं उन सब अङ्गों का एक ही प्रधान लक्ष्य होता है—शिक्षा तथा संस्कारों के द्वारा मन को शिक्षित, संस्कृत तथा उच्च बनाना। प्रत्येक संस्कृति का यही लक्ष्य होता है। परन्तु भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी विशेषता है कि उसका उद्देश्य तथा लक्ष्य अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा अधिक उच्च, अधिक महनीय, अधिक उपयोगी तथा अधिक उदात्त सिद्ध होता है। राष्ट्र के समान संस्कृति का भी एक आत्मा होता है जो उसकी जीवनी-शक्ति का प्रतीक तथा आधार हुआ करता है। इसे ही भारतीय दर्शन में 'स्वालक्षण्य' के नाम से पुकारते हैं। भारतीय संस्कृति की विशेषता को हम तीन शब्दों में अभिव्यक्त कर सकते हैं—त्याग, तपस्या तथा तपोवन।

त्याग

(१) *त्याग*—मानव जीवन की सफलता त्याग के द्वारा हो सकती है, भोग के द्वारा नहीं। पश्चिम की भौतिक संस्कृति जहाँ हमें भोग की शिक्षा देती है, वहाँ भारत की आध्यात्मिक संस्कृति हमें योग का उपदेश देती है। पश्चिमी सभ्यता दूसरों के भाग को भी छीन लेने के लिये आग्रह करती है, वहाँ भारत की सभ्यता अपने स्वार्थ को परार्थ के लिये छोड़ने के लिये उद्यत रहती है। त्याग एक महामन्त्र है। इसी मन्त्र के अभाव का वह दुष्परिणाम उत्पन्न हुआ है जिसे हम यूरोपीय महायुद्ध के रूप में देखते हैं। भौतिक जीवन को ही चरम लक्ष्य माननेवाली पश्चिमी सभ्यता का यही अवसान है। असंख्य नरों का संहार, अपरमित धन का स्वाहाकार,

दीन-दुःखी अबलाओं का हाहाकार, निर्धनों तथा निर्बल को रौंदकर पूँजी-पतियों का असंख्य धन-संग्रह—ये ही भौतिकवादी सभ्यता के जीते-जागते फल हैं। भारतीय संस्कृति दूसरे का मङ्गल चाहती है। दूसरे के मङ्गल में ही अपने मङ्गल की भावना करती है। दूसरों की कार्यसिद्धि के लिये वह अपने एकदेशीय क्षुद्र स्वार्थ का सर्वथा त्याग कर देती है। यही तो 'यज्ञ' की महनीय भावना है। गीता में जिस यज्ञ की उदात्त कल्पना की गई है वह यही है—निःस्वार्थ कर्म का विधान। भगवद्गीता से बहुत पूर्व हमारे वैदिक ऋषियों ने इस तत्त्व का उद्घोष किया था। ईशावास्य की श्रुति इसी त्याग की घोषणा कर रही है:—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

जगत् के जितने स्थावर तथा जङ्गम पदार्थ हैं वे सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय हैं। प्रत्येक प्राणी में भगवान् सूक्ष्म रूप से विद्यमान हैं। अतः उनमें भगवत्-स्वरूप का अनुभव करना चाहिए। त्याग-भाव से अपना पालन करना चाहिए। किसी के धन की तरफ लोभ की दृष्टि न करनी चाहिए। भारतीय संस्कृति का यही माननीय मन्त्र है—त्याग, परमार्थ, निःस्वार्थ कर्म।

तपस्या

(२) *तप*—त्याग के लिये आवश्यक है तपस्या। तप की अग्नि में बिना तपाये मानव-जीवन निर्मल नहीं होता, उसके मल जलकर राख नहीं हो जाते। तपस्या ही हमारी समग्र कामनाओं की सिद्धि का मुख्य साधन है। यह स्वार्थ तथा परमार्थ की साधना की दृढ़ शृङ्खला है। इसके द्वारा मनुष्य अपनी सारी कामनाओं की ही पूर्ति नहीं करता, प्रत्युत परोपकार के यथावत् सम्पादन की योग्यता अर्जन करता है। तप की

महिमा से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि कालिदास ने इसका महत्त्व बड़े ही भव्य शब्दों में व्यक्त किया है। मदनदहन के अनन्तर भग्नमनोरथा पार्वती ने कठोर तपस्या के ही बलपर अपनी कामनावल्ली को सफल बनाया। पार्वती की तपस्या का रहस्य खोलकर कालिदास ने आर्यललनाओं के सामने एक महनीय आदर्श उपस्थित किया है—

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

—कुमारसम्भव ५।२.

पार्वती की तपस्या का फल था—'तथाविधं प्रेम', अलौकिक उत्कट कोटि का प्रेम और 'तादृशः पतिः', मृत्यु को जीतनेवाला पति। आर्य ललनाओं के लिये उत्कट प्रेम तथा मृत्युञ्जय पति पाने का एकमात्र साधन है—तपस्या।

तपोवन

(३) *तपोवन*—तपस्या के लिये उपयुक्त स्थान है तपोवन। कोलाहलपूर्ण नगर के अशान्त वातावरण में, नागरिक जीवन के रात्रिंदिव सङ्घर्ष में, तपस्या की साधना क्या कथमपि सिद्ध हो सकती है? उसके लिये तो चाहिये जनकोलाहल से दूर, शान्त, रमणीय स्थान में निवास, जहाँ स्वभाव से ही चित्त प्रपञ्चों से दूर हटकर आत्मचिन्तन में संलग्न हो जाता है। इसीलिए तपोवन भारतीय संस्कृति का जन्मस्थान है। तपोवन के शान्त तथा सुन्दर, उपादेय तथा कमनीय, शान्तिमय तथा सौन्दर्यमय

क्रोड़ में लालिता तथा पालिता हमारी संस्कृति स्वार्थ तथा परमार्थ के, स्वजीवन तथा परजीवन के सामञ्जस्य की सर्वतोभावेन पोषिका है। हमारी सभ्यता के विकास में नगर का महत्त्व बहुत स्वल्प रहा है। जो नगर अशान्ति के निकेतन हैं, कलह के कारागार हैं, विद्रोह के विराट् आगार हैं, उनमें पाश्चात्य सभ्यता पनपी और इसीलिए मानव-समाज की वह भूयसी हानिकारिणी सिद्ध हुई है। पश्चिमी-समाज में उन कोमल वृत्तियों का विकास कहाँ? जो एक मनुष्य की पीड़ा देखकर दूसरे के हृदय में स्वतः सहानुभूति उत्पन्न करती है। जीवन की वह उदात्तता कहाँ? जो अपने जीवन को सङ्कट में झोंककर दूसरे के प्राण को बचाने के लिये हमें बाध्य करती है। ये नागरिक संस्कृति के विषम दुष्परिणाम हैं। परन्तु तपोवन की सेविका भारतीय वैदिक संस्कृति में इन दोषों का प्रादुर्भाव कभी नहीं हुआ। नन्दिनी के वरदान से सूर्यवंश में पराक्रमी नेता रघु का जन्म तपोवन में होता है, यह घटना अपना आध्यात्मिक मूल्य रखती है। इस प्रकार वेद पुराणादिकों के आधार पर आश्रित भारतीय संस्कृति के मूल में तकार से आरम्भ होनेवाले तीन तत्त्व क्रियाशील हैं—

त्याग, तपस्या, तपोवन।

आध्यात्मिकता

किसी भी जाति या राष्ट्र की सभ्यता का मापक उसका आध्यात्मिक चिन्तन होता है। जिस जाति के आध्यात्मिक विचार तथा समीक्षण जितने ही अधिक तथा गहरे होते हैं, वह जाति संस्कृति तथा सभ्यता के इतिहास में उतना ही अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। सभ्यता का प्रथम प्रभात किस देश के गगन में सबसे पहिले उदित हुआ? इस प्रश्न की मीमांसा करते समय पश्चिमी विद्वान् मिस्र देश का नाम बड़े आदर तथा गौरव के

साथ लेते हैं, परन्तु मिस्र के दार्शनिक तथा साहित्यिक चिन्तनों पर विचार करने से हमें मौनावलम्बन ही करना पड़ता है। भौतिकवाद का अनुरागी राष्ट्र अध्यात्म-चिन्तन का प्रेमी कभी नहीं हो सकता। मिस्र की सभ्यता भौतिकता में सनी थी, भौतिक सुख की प्राप्ति ही उस देश के राजाओं का परम लक्ष्य थी। फलतः रम्य तथा सुन्दर प्रसादों का रचयिता शिल्पी ही मिस्री सभ्यता में परम सम्मान का भाजन था; मनोरम कविता लिखकर हृदय की कली खिलानेवाले कवि की न वहाँ पूछ थी और न उन्नत तत्त्वज्ञान के अभ्यासी दार्शनिक की वहाँ प्रतिष्ठा थी। फलतः अध्यात्मचिन्तन के अभाव में मिस्र देश की सभ्यता को हम सम्मान की दृष्टि से नहीं देख सकते। 'कवि' को आदर देनेवाली जाति ही सभ्यता की कसौटी पर खरी उतरी है। पश्चिमी जगत् में प्राचीन यूनानी तथा पूर्वी संसार में चीनी तथा भारतीय जाति ही 'कवि' का गौरव समझती है और उसे सम्मान प्रदान करने में सदा अग्रसर रहती है। इसीलिए इन जातियों का प्रभाव सभ्यता के प्रसार में बहुत ही अधिक रहा है। हमारी दृढ़ धारणा है (और इसके लिये हमारे पास प्रचुर प्रमाण भी हैं) कि सभ्यता का उदय सप्तसिन्धव प्रदेश में ही सबसे पहिले हुआ। हमारा पूरा विश्वास है कि भारतीय कवि की यह सूक्ति—

प्रथम प्रभात उदय तव गगने।
प्रथम सामरव तव तपोवने॥

केवल प्रतिभा का विलास नहीं है, अपितु इतिहास की कसौटी पर भी खरी उतरती है। 'कवि' का जितना सम्मान हमारी पुण्यमयी भारतभूमि में होता रहा है, उतना अन्यत्र नहीं।

'कवि' का आदर

'कवि' का मूल व्यापक अर्थ है इन्द्रियों से अगोचर तत्त्वों का साक्षात्कार करनेवाला व्यक्ति। कवयः क्रान्तदर्शिनः। और 'ऋषि' शब्द का भी यही महत्त्वपूर्ण अर्थ है। अध्यात्मशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् का प्राचीन अभिधान 'कवि' ही है और इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हम गीता तथा उपनिषदों में ही नहीं पाते, प्रत्युत संहिताओं में भी यह महनीय शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त उपलब्ध हुआ है। कठोपनिषद् के अनुसार कवि लोग सूक्ष्म बुद्धि से ग्राह्य ब्रह्म की ओर जानेवाले मार्ग को छूरे की धार के समान तेज तथा दुर्गम बतलाते हैं:—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥ (३।१४)

प्रश्न (५।७), मुण्डक (१।२।१), महानारायण (१।३), मैत्री (२।७)—में सर्वत्र कवि का प्रयोग मूल अर्थ में मिलता है। श्वेताश्वतर ने जगत् के मूल कारण के विषय में कवियों के विभिन्न मतों का निर्देश किया है (स्वभावमेके कवयो वदन्ति—६।१)। गीता 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः' (४।१६) तथा 'संन्यासं कवयो विदुः' (१८।२)—आदि स्थलों में इसी औपनिषद अर्थ का अनुसरण करती है। ऋक् संहिता में इस शब्द का प्रयोग बहुलता से मिलता है—समानमेकं कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते (७।८६।३)। ध्यान देने की बात है कि 'कवि' शब्द का प्रयोग स्वयं उस साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म के लिये भी अनेक स्थलों पर किया गया है। ईशावास्य की वाजसनेयी श्रुति उस पुरुष को 'कवि' कहकर पुकारती है—कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः (मन्त्र ८)। महानारायण उपनिषद् के अनुसार परमेश्वर अनन्त और अव्यय होने के अतिरिक्त कवि भी है—अनन्तमव्ययं

कविम् (महानारायण ११।७)। उपनिषदों के स्वर में अपना स्वर मिलाकर श्रीभगवद्गीता भी यही कहती है—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।—गीता (८।९)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अध्यात्म-विद्या का वेत्ता पुरुष 'कवि' के नाम से अभिहित होता है। स्वयं परमेश्वर भी इसी 'कवि' की पवित्र पदवी से मण्डित है। इससे बढ़कर दर्शनशास्त्र की प्रतिष्ठा की सूचना हो ही क्या सकती है ?

भारत की सभ्यता में 'कवि' का आदर सदा से होता रहा है और आज भी समादर का यह भाव लेशमात्र भी क्षुण्ण नहीं हुआ है। प्राचीन यूनान में भी अध्यात्मविद्या के अनुरागी व्यक्तियों की कमी न थी, दार्शनिक भी कम न थे, परन्तु समग्र यूरोप के अध्यात्म-शिक्षण के विषय में गुरु-स्थानीय यूनान की काली करतूतें देखकर हम भारतीयों के हृदय में विस्मय तथा विषाद की भावना उठ खड़ी होती है। यूनानी लोगों ने ही मिलकर अपने देश के सबसे बड़े दार्शनिक सुकरात को विष देकर मार डाला था और दूसरे बड़े दार्शनिक अफलातूँ (प्लेटो) को उनके ही एक भक्त शिष्य ने सरे बाजार में गुलाम बनाकर बेंच डाला था। पश्चिमी जगत् की मूर्धन्य जाति का यह दुराचरण, दार्शनिकों की इतनी अवहेलना, किसे अचम्भे में नहीं डालती ? परन्तु भारत तथा भारतीय सभ्यता से अनुप्राणित समग्र पूर्वी देशों में दार्शनिकों का बोलबाला था, समाज के वे अग्रणी थे, राष्ट्र के वे निर्माता थे, समाज को परम कल्याण की ओर ले जानेवाले वे महनीय नेता थे। चीन की यही दशा है। भारत की तो बात ही निराली है। भगवान् मनु का निःसन्दिग्ध प्रमाण है:—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ (१२।१००)

वेदशास्त्र का ज्ञाता सेना के सञ्चालन तथा राज्य पर शासन करने के योग्य है। दण्डविधान तथा सब लोकों का आधिपत्य करने का अधिकारी वही है। प्लेटो भी मनु के इस कथन से प्रभावित हुए थे। उन्होंने आदर्श राष्ट्र के सञ्चालन का भार दार्शनिक के ऊपर ही रखा था; यद्यपि 'रिपब्लिक' में इन्होंने बड़ी युक्तियों से इस मत का समर्थन किया, पर वे हवाई महल ही बनाते रहे, उनका स्वप्न कभी कार्यरूप में परिणत न हो सका, वह मृगमरीचिका से बढ़कर सिद्ध न हो सका। परन्तु भारत में राज्य का सूत्र अध्यात्मवेत्ता व्यक्तियों के हाथों में रहा करता था। राजर्षि जनक की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर देना ही पर्याप्त होगा। इस प्रकार इस पावन भारत में दार्शनिकों का कोरा आदर ही न होता था, बल्कि देश के शासन की बागडोर भी उन्हीं के हाथ में रहती थी।

प्राचीनता

हमारी संस्कृति से सामान्य परिचय रखनेवाले व्यक्ति को भी इसकी पहली विशेषता प्रतीत होगी—इसकी प्राचीनता। यह कितनी प्राचीन है? इसका यथार्थ निरूपण इतिहास की विशेष छानबीन करने पर आज भी नहीं हो पाया। परन्तु प्राचीन स्थानों की खुदाई करने से प्राचीन काल की सभ्यता हमारे सामने अभी आई है। सिन्धु नदी की घाटी में 'मोहन-जो-दड़ो' तथा पञ्जाब के 'हरप्पा' नामक स्थानों पर खुदाई करने से अनेक अद्भुत चमत्कारी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं। इस सभ्यता का नाम है 'सिन्धु-सभ्यता'। यह सभ्यता भी इराक तथा मिश्र की सभ्यता से प्राचीनतर हैं, इसके प्रमाण मिले हैं। इराक में सभ्यता के आरम्भ करनेवाले अत्यन्त प्राचीन (विक्रम-पूर्व ३५०० वर्ष) सभ्य जाति का नाम है—सुमेर जाति। इतिहास बतलाता है कि ये लोग उस देश के निवासी न थे, बल्कि परदेशी थे—बाहर से आनेवाले थे। सुमेर लोगों

की सभ्यता भारतीय सभ्यता से इतनी मिलती है कि उन्हें पश्चिमी इतिहासज्ञ भारतनिवासी बतलाते हैं—विशेषतः दक्षिण भारत का[1]। इराक की सभ्यता सिन्धु-सभ्यता से प्रभावित है। वेशभूषा, रहने के प्रकार, दोनों में समान हैं। इतना ही नहीं, रूसी वैज्ञानिक वाविलोव (Vavilov) का कहना है कि संसार में गेहूँ की उत्पत्ति सर्वप्रथम पञ्जाब के समीप हिन्दूकुश तथा हिमालय के बीचवाले भाग में हुई और यहीं से यह ईराक, यूरोप तथा अमेरिका सर्व जगह फैला। इन देशों में जिस गेहूँ की खेती होती है उसका मूलस्थान पञ्जाब है। पाश्चात्य जगत् में घोड़े से चलनेवाला रथ मिलता है, परन्तु इसकी प्रथम कल्पना भारत में ही हुई। इस प्रकार इराक तथा मिस्र की सभ्यता पर सिन्धु-सभ्यता का विपुल प्रभाव पड़ा है। यह सभ्यता निःसन्देह वैदिक है और इसके उदय का काल विक्रम-पूर्व चार हजार वर्ष है। संसार के इतिहास में इतनी प्राचीन सभ्यता दूसरी उपलब्ध ही नहीं हुई। अतः *प्राचीनता* भारतीय सभ्यता की प्रथम विशिष्टता है।

मृत्युञ्जयता

आर्यसंस्कृति अमर है। अमरता उसकी दूसरी विशिष्टता है। वह प्राचीन होकर भी नवीन है—नितान्त प्राचीनता से मण्डित होने पर

---

१ Sumerians were decidedly Indian in type...... it is to this Dravidian ethnic type of India that the ancient Sumerian bears most resemblance, so far as we can judge from his monuments. He was very like a Southern Hindu of the Deccan who still speaks Dravidian languages. And it is by no means improbable that the Sumerians were an Indian race.
—Hall : The Ancient History of the Near East p. 173.

भी उसकी धमनियों में रक्त का प्रसार है, नूतन स्फूर्ति की वह आगार है। वैदिक ऋषियों ने उषादेवी की मनोरम स्तुति के प्रसङ्ग में उसे 'पुराणी युवतिः' शब्दों से वर्णित किया है। ये शब्द भारतीय संस्कृति के विषय में बिना किसी सन्देह के व्यवहृत किये जा सकते हैं। आर्यसंस्कृति पुराणी युवतिः है अर्थात् पुरातन होने पर भी वह युवती है—यौवन के उल्लास, उन्माद तथा उत्साह से उसका अङ्ग-अङ्ग परिपूरित है। अन्य प्राचीन संस्कृति की भाँति वह अपने जीवन की अन्तिम श्वास नहीं ले रही है, प्रत्युत उसमें भरपूर जीवनीशक्ति है जो उसे आज भी जीवित, जाग्रत तथा प्रभावशाली बनाये हुए है। इसे हम आर्यसंस्कृति की 'मृत्युञ्जयता' कह सकते हैं। उसे मृत्युमुख में समेटने के अनेक अवसर आये, विकराल विपत्तियाँ आईं, विदेशियों के प्रबल आक्रमण हुए, परन्तु तिस पर भी वह अदम्य उत्साह से खड़ी रही और आज भी वह उसी प्रकार से हृष्ट-पुष्ट बनी हुई है। आर्य-राजनीति की विशेषता रही है—क्षात्रबल का ब्राह्म तेज का मन्जुल सहयोग। राष्ट्र के रक्षण का भार क्षत्रिय राजन्य पर निर्भर करता था, पर उसे धर्म के शोभन राजपथ पर सञ्चालित करने का उत्तरदायित्व ब्राह्मण के ऊपर रहता था। इसलिए अमात्य का उन्नत पद ब्राह्मणों के ही लिये था। क्षत्रिय की थी भौतिक शक्ति और ब्राह्मण की होती थी आध्यात्मिक शक्ति। क्षत्रिय नरपति प्रभुशक्ति का प्रतिनिधि है, तो ब्राह्मण सचिव मन्त्रशक्ति का प्रतीक है। कालिदास ने इस ब्रह्म-क्षत्र योग को 'पवनाग्नि समागम' से उपमा दी है। 'पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा'। इस मणिकाञ्चन योग ने ही आर्यसंस्कृति को मृत्युञ्जय बनाया है। यूनान के विश्वविजयी नरेश सिकन्दर ने विक्रम से पूर्व चतुर्थ शतक में भारत पर जो आक्रमण किया उसे ब्राह्मण-कौटिल्य के बुद्धि-वैभव से सञ्चालित राजन्य चन्द्रगुप्त ने

अपने क्षात्र-पराक्रम से सर्वथा विफल बना दिया। विक्रम के समय में भी ऐसी ही दशा थी। पराक्रमी शकों के भयङ्कर आक्रमण के कारण भारतीय भूमि कम्पायमान हो रही थी। उस समय विक्रमादित्य ने अपने ब्राह्मण कवि कालिदास के उपदेश से स्फूर्ति तथा उत्साह ग्रहण कर इन शकों की धज्जियाँ उड़ा दीं—उन्हें भारत-वसुन्धरा से उखाड़ कर राह-राह का भिखारी बना दिया। मध्ययुग में औरङ्गजेब की कूटनीति को समर्थ रामदास स्वामी की आध्यात्मिक मन्त्रणा से छत्रपति शिवाजी ने विफल कर डाला। उनके नेतृत्व में मराठों में विशाल शक्ति का सञ्चार हुआ और उन्होंने आर्यसंस्कृति का संरक्षण यावनी संस्कृति के आक्रमण से इतनी सुन्दरता से सम्पन्न किया कि आज भी यह संस्कृति अपने प्रभाव से मण्डित है, जगत् में अपना प्रभाव विस्तार कर रही है।

अमरत्व का रहस्य

आर्यसंस्कृति की मृत्युञ्जयता का रहस्य समझने के लिये उसके अन्तस्तल में प्रवेश करना चाहिए—बाहरी आवरण फाड़कर उसका भीतरी रूप परखना चाहिए। हमारी सभ्यता के अमरत्व का रहस्य तीन शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है—*समञ्जसता, सहिष्णुता, ग्रसिष्णुता*—भारतीय संस्कृत की स्थित्यनुकूल परिवर्तनशीलता, सब सहने की योग्यता तथा अन्य सभ्यता को ग्रास कर लेने की शक्ति। ये तीनों इसके गौरव तथा महनीयता के पर्याप्त प्रतिपादक हैं। विज्ञान की सम्मति है कि इस जगत् में सबसे अधिक योग्य व्यक्ति ही जीवित रहता है, अयोग्य व्यक्ति जो अपनी परिस्थितियों के सामने परास्त हो जाता है कथमपि जीवित नहीं रह सकता। भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है—यह स्पष्ट प्रमाण है कि यह अन्य सभ्यताओं की तुलना में समधिक शक्तिशालिनी है। वैदिककाल से आरम्भ कर आजतक कितनी सामाजिक

उथल-पुथल इस भूमि में हुई, कितने राजनैतिक परिवर्तन हुए, परन्तु यह संस्कृति इतनी अन्तःप्रेरणा तथा जीवनीशक्ति से सम्पन्न है कि वह अपने को परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल बनाती गई। यह उसकी समञ्जसता हुई। इसी के समान इसकी सहिष्णुता-उदारता भी विशेषतः श्लाघनीय है। आर्यसंस्कृति का रहस्य है सब जातियों, सब मतों, सब आचारों की तितिक्षा, सहनशीलता। यह सब वस्तुओं को ग्रहण कर देती है और किसी वस्तु को त्याज्य नहीं मानती। सब मतों को अपनी विशाल उदर-दरी में आत्मसात् कर लेती है। सब मतों के सिद्धान्तों का समभावेन आदर करती है। भारतभूमि की प्रतिभा रही है—सृष्टि में, विनाश में नहीं; संचरण में, त्याग में नहीं। एक शब्द में यदि भारतीय संस्कृति की विशालता तथा व्यापकता का रहस्य प्रतिपादन किया जाय, तो वह शब्द है—*समन्वय*। विरोध का प्रशमन, अनेकता में एकत्व की दृष्टि, 'नाना' के स्तरों में एकता की पहिचान—यही है आर्यसंस्कृति की कुञ्जी। बिना इसे ठीक समझे, इसके रहस्य का उद्घाटन यथार्थतः नहीं हो सकता।

जिस प्रकार अद्वैततत्त्व भारतीय दर्शन की बहुमूल्य सम्पत्ति है, उसी प्रकार वह भारतीय संस्कृति का भी महान् बीज है। भारतीय धर्म में समन्वय की ओर दृष्टि डालिए। उपनिषदों के अनुसार मानवजीवन के लिये दो मार्ग हैं—श्रेयः तथा प्रेयः, कल्याण का मार्ग तथा सांसारिक सुख का मार्ग, कण्टक का मार्ग तथा पुष्प का मार्ग, निवृत्ति मार्ग तथा प्रवृत्ति मार्ग। पाश्चात्य देश में ये दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, इनमें किसी प्रकार का सामञ्जस्य प्रस्तुत नहीं किया गया, परन्तु भगवद्गीता ने इन दोनों मार्गों में मञ्जुल समन्वय प्रस्तुत कर रखा है। 'निष्काम कर्म' के सिद्धान्त में हम दोनों पन्थों का एकत्र मिलन पाते हैं। गीता कर्म के संन्यास के पक्ष में नहीं है, वह कर्मफल के संन्यास के पक्ष में हैं। निवृत्ति कर्म-

फल से होनी चाहिए, पर कर्म में हमारी प्रवृत्ति होनी चाहिए। मनुष्य-जीवन का मूलस्रोत है—भगवान्। वहीं से यह जीव अपने कर्मों के अनुसार यात्रा करने के लिये प्रस्तुत हुआ है और उसका विराम भी उसी भगवान् में है। ब्रह्मचक्र के दो अंश हैं—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग, भोग का भाग तथा त्याग का भाग। इस चक्र के प्रथमार्ध में जीव आदान (ग्रहण) से समृद्ध होता है और उत्तरार्ध में प्रदान (त्याग) से समृद्ध होता है। प्रवृत्तिमार्ग में भगवान् के वैमुख्य रहता है और निवृत्तिमार्ग में भगवान् के प्रति साम्मुख्य रहता है। इन दोनों का सामरस्य आर्य-संस्कृति में है। पुरुषार्थ चार हैं—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। वैदिक संस्कृति इन चारों के सम वय में ही मानवजीवन की सफलता मानती है, आंशिक सेवन में नहीं। वह कहती है—

धर्मार्थ-कामाः सममेव सेव्याः।
यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः॥

आर्यसंस्कृति नितान्त उदार है, उदात्त है। अपनी उदारता के बल पर ही वह अबतक जीवित रही है और आगे भी जीवित रहेगी। आज दानवता के भीषण प्रहार के कारण मानवता छिन्न-भिन्न हो रही है। मनुष्य मनुष्यका शत्रु बना हुआ है। यदि संसार में मानवता की रक्षा हमें अभीष्ट हो, तो भारतीय संस्कृति ही हमारी पर्याप्त सहायता करेगी। इसी लक्ष्य की सूचना भारतीय संस्कृति के पूजारी अमर कवि रवीन्द्रनाथ ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में दी है:—

से परम परिपूर्ण प्रभातेर लागि,
हे भारत ! सर्वदुःखे रह तुमि जागि।
सरल निर्मल चित्त, सकल बन्धने
आत्मारे स्वाधीन राखि, पुष्प ओ चन्दने।

आपनार अन्तरेर माहात्म्य - मन्दिर
सज्जित सुगन्ध करि, दुःखनम्र शिर
तार पदतले नित्य राखिया नीरवे ।।

वैदिक संस्कृति के पोषक भारतवर्ष में जन्मग्रहण करने के लिये, इसीलिए तो देवगण भी लालायित रहते हैं। व्यासजी की यह उक्ति कितनी महत्वपूर्ण है कि अन्य स्थानों पर कल्प की आयु पाने की अपेक्षा भारत में क्षणभर भी जीना श्रेयस्कर है:—

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ।।

धन्य है यह पावन भारतवर्ष, जिसमें पुण्यसलिला भगवती भागीरथी अपने निर्मल जल से मनुष्यों का मल धोती हैं, भगवान् के प्रेमी भागवतजन भगवान् की विमल कीर्ति गाते हैं और यज्ञयाग का पावन धूम आकाश में ऊपर उठकर उसकी आध्यात्मिकता का परिचय देता है। ऐसे पवित्र साधनों से विरहित होने पर इन्द्रलोक भी हमारे लिये तुच्छ ही है:—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ।।

धन्य है यह पवित्र भारतभूमि और धन्य है महनीय आर्यसंस्कृति !!! भगवान् करे यह विश्व का सदा परम मङ्गलसाधन करे।

तथास्तु ।


आर्यसंस्कृति
बलदेव उपाध्याय